UBLICATIONS DE L'INSTITUT FRANÇAIS D'INDOLOGIE N° 15. I

ÉTUDE SUR LES SOURCES ET LA COMPOSITION DU RĀMĀYAṆA DE TULSĪ-DĀS

par Charlotte VAUDEVILLE

TRADUCTION EN HINDI

par J. K. BALBIR

fasc. I

तुलसीदास रचित रामचरितमानस

का

मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक

एक अध्ययन

(फ्रेंच भाषा में)

लेखिका : शार्लोत वोदविल

हिन्दी अनुवादक : जगवंश किशोर बलबीर

प्रथम भाग

INSTITUT FRANÇAIS D'INDOLOGIE

PONDICHÉRY

1959

प्राक्कथन

यहाँ पर मैं फ्राँस व भारतवर्ष के उन सब व्यक्तियों का धन्यवाद कहना चाहती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत ग्रन्थ को सम्पन्न करने में मेरी सहायता की।

सर्वप्रथम मैं (पेरिस विश्वविद्यालय के) "भारतीय सभ्यता संस्थान" तथा "प्राच्यभाषा विद्यापीठ" के अपने गुरुजनों की अनुगृहीत हूँ: इन्होंने ही मुझे भारतीय वाङ्मय के अध्ययन की दीक्षा दी। श्री मेल की मैं विशेष अनुगृहीत हूँ: इन्होंने मुझे तुलसीदास तथा रामचरितमानस के मूलाधारों पर अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी।

अनुसन्धान के प्रारम्भिक कार्य का पथ प्रदर्शित करने के पश्चात् श्री रेनु ने इस कार्य की प्रगति के लिये मुझे सदा सहायता दी। मेरे प्रयत्नों के प्रति उनकी कृपापूर्ण लगन मेरे लिये सर्वोत्तम प्रोत्साहन रही है। उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने मुझे हर्ष है।

इस अध्ययन का वर्तमान आकार, श्री ज्यूल ब्लॉक के उपदेशों का परिणाम है: उनकी अध्यक्षता में यह कार्य सम्पन्न हुआ है। पिछले दो साल में इन्होंने जिस धैर्य से मुझे मार्ग दिखलाया और प्रोत्साहन दिया, उसके लिये तथा उनकी बहुमूल्य सहायता के लिये धन्यवाद स्वीकार करने की मैं उनसे प्रार्थना करती हूँ।

श्री भासोंनूर्सैल ने मेरे कार्य के प्रति जो शुभकामताएँ बनाये रखीं मुझे उनका साभार स्मरण है। भारत में मेरे प्रारम्भिक निवास में श्री लाकूम्ब ने मेरा पथप्रदर्शन किया और अपने अनुभव तथा विद्वत्ता से प्रायः मेरी सहायता की: उनको मैं हार्दिक धन्यवाद देती हूँ।

पेरिस के अनुसन्धानकेन्द्र के सहयोग तथा दीर्घकाल तक भारत में निवास करने के आदेश के बिना, प्रस्तुत कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। प्रयाग विश्वविद्यालय के

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की कृपा से, इस विश्वविद्यालय में मुझे हार्दिक आतिथ्य प्राप्त हुआ और वहाँ पर मैं हिन्दी साहित्य के विशेषज्ञों से सम्पर्क स्थापित कर सकी। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा तथा उनके साथियों, विशेषकर, डाक्टर माता प्रसाद गुप्त को उनके स्वागत तथा सब सहायता के लिये मैं धन्यवाद कहना चाहती हूँ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के आ० पा० बुल्के की मैं विशेष ऋणी हूँ: भारत में मेरे निवास के समय में तथा तब से लेकर अभी तक, इनकी विद्वत्ता तथा अथक उपकारभावना मेरे लिये अमूल्य सहायक सिद्ध हुई है।

पूनास्थित 'दक्कन अनुसंधान संस्थान' के संचालक डा० कात्रे और वहाँ के उपरजिस्ट्रार डाक्टर हर्षे ने मेरा जो स्वागत किया और जिस तत्परता से वहाँ के बहुमूल्य पुस्तकालय में लाभप्रद कार्य करने की सुविधा प्रदान की, उसके लिये मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहती हूँ।

खेद है कि कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, मैं मैसूर स्थित "प्राच्य पुस्तकालय" के अनमोल संग्रह से लाभ न उठा सकी यद्यपि वहाँ के अध्यक्ष श्री रंगस्वामी आयंगर ने मेरी मैसूर यात्रा के समय वहाँ पर कार्य करने की अनुमति देने की कृपा की थी। निमंत्रण और मेरे अनुसंधानकार्य में लगन के लिये मैं उनको धन्यवाद कहती हूँ।

शा० वो०

भूमिका

तुलसीदास की महानता और उनकी कृतियों की विशेषकर उनकी रामायण की जो ख्याति उत्तर भारत में है उसके विषय में बहुत कुछ कहा जाचुका है। फ्रान्स के गासैंदतासी ने अपने '**हिंदुई साहित्य का इतिहास**' नामक ग्रन्थ में कहा है: "तुलसीकृत रामायण भारतवर्ष के सबसे अधिक पढ़ेजानेवाले और सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थों में से है, यद्यपि सामान्यत: लोग उसकी सूक्ष्मता का कारण और उसके प्राचीन रूपों को कम समझते हैं।"[१] उन्होंने यह भी कहाँ कि "ऐसे लोग भी हैं जो अन्यग्रन्थ तो नहीं पढ़पाते पर तुलसीकृत रामायण को बार बार सुनने से उसे कण्ठस्थ करलेते हैं।"[२] ज्योर्ज ग्रियर्सन जैसे महान भारतज्ञ व भाषावैज्ञानिक ने तुलसीदास को "भारत का पथप्रदर्शक व संरक्षक" कहा है; उनका मत है कि "तुलसीदास कदाचित् भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।"[3] भारतीय समालोचक मिश्रबन्धु ने अपने ग्रन्थ "**हिन्दी साहित्य के नवरत्न**" में तुलसीदास को गौरव का स्थान प्रदान किया है। वस्तुत: रामचरितमानस अथवा रामायण, हिन्दी साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता, कम से कम भारत में, बढ़ती ही जारही है और पिछले बीस वर्षों में ऐसे असंख्य ग्रन्थ व निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनमें तुलसीदास की प्रतिभा का तथा रामचरितमानस के सौन्दर्य का उल्लेख प्राय: अतिशयोक्ति पूर्ण वचनों में हुआ है।

परन्तु इन महान कवि की जीवन कथा का हमें बहुत कम ज्ञान प्राप्त है: तुलसीदास व उनके समकालीन शेक्सपियर में बस एक यही बात समान है—यद्यपि भारत में इन दोनों कवियों की तुल्ना की जाती है। "भारतीय शेक्सपियर" की जितनी भी जीवन कथाऐं उपलब्ध हैं वे सब स्थानिक परम्परा पर अथवा इतिहास की दृष्टि से प्राय: अपर्याप्त प्रमाणों पर आश्रित हैं। इनमें से प्राचीनतम प्रमाण (वैष्णव) भक्तमाल है। इसके लेखक नाभाजी, तुलसीदास के समकालीन थे; उत्तर भारत के धार्मिक इतिहास के लिए महत्वपूर्ण पर काफ़ी अस्पष्ट, इस ग्रन्थ के एक एक पद्य में सन्तों का वर्णन है, चाहे उनकी सत्ता वास्तविक हो अथवा कथाश्रित। नाभाजी के एक शिष्य प्रियदास ने १७२३ में इस ग्रन्थ की एक प्रसिद्ध व्याख्या लिखी। तुलसीदास के विषय में नाभाजी के (सात पदों के) एक पद्य पर

---

[१] द्वितीय संस्करण, १८७१, तृतीय भाग, पृ० २४३ इत्यादि। (हिन्दी अनुवाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९५३, पृ० १०३)।

[२] वही (हिन्दी अनुवाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृ० १०४ पर अनुवाद अशुद्ध है—अनुवादक)।

[3] **दि मिडिएवल वर्नाक्यूलर लिट्रेचर औफ हिन्दुस्तान**, कलकत्ता, १८८९, पृ० २०।

प्रियदास ने (४४ पदों से बने) ११ अन्य पद्य दिए हैं;[1] यद्यपि ये पद कवि के देहान्त के १०० वर्ष के भीतर ही रचे गये तथापि उनके जीवन सम्बन्धी ऐसे कई प्रसंग हैं जो स्पष्टतया आख्यानात्मक हैं। तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित एक अन्य स्रोत ग्रन्थ रघुबरदास[2] के "**तुलसी चरित**" में तो इससे भी कम प्रामाणिक तथ्य प्राप्त होते हैं। अपने को तुलसीदास का अवतार मानने वाले तुलसी साहब (१७६३—१८४३) की आत्मकथा में कुछ विश्वसनीय परम्पराओं का संकलन है। भवानीदास (लगभग १७५१) का रचा "**मूल गोसाईं चरित**" एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है: इसका उल्लेख प्राय: किया जाता है। इस ग्रन्थ का सम्पादन लखनऊ में १९२५ में हुआ (ग्रियर्सन ने इसके नाम का निर्देश किया है यद्यपि उन्होंने इसका उपयोग नहीं किया)। बलदेव प्रसाद मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, रामदास गौड़ जैसे रामचरितमानस के अधिकतर आधुनिक भारतीय आलोचकों ने इसको प्रामाणिक माना है। श्यामसुन्दर दास व बड़थ्वाल द्वारा लिखित "**गोस्वामी तुलसीदास**" (१९३१) का जीवन-कथा-सम्बन्धी भाग इसी ग्रन्थ पर आधारित है। "**मूल गोसाईं चरित**" में वर्णित घटना तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्धित प्रसंगो की समीक्षा करके, प्रयाग विश्वविद्यालय के डा. माता प्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस ग्रन्थ में दी सब तिथियां अविश्वसनीय हैं।[3] परिणामत: इस ग्रन्थ का मूल्य कम हो जाता है। इन मूल स्रोतों के अतिरिक्त, कुछ अन्य संकेत हमें भविष्य पुराण में, अथवा राजापुर, सोरौं, अयोध्या व वाराणसी की स्थानिक किंवदन्तियों में, या फिर रामचरितमानस के आमुख अथवा तुलसीदास की दो अन्तिम कृतियों—**विनयपत्रिका** और **कवितावली**—में प्राप्त होते हैं।

तुलसीदास की जन्मतिथि अनिश्चित है। पर ग्रियर्सन के अनुसार उनका जन्म संवत १५८९ (१५३२ ई०) में हुआ। माता प्रसाद गुप्त भी इसी तिथि को स्वीकार करते हैं। कवि का जन्म अयोध्या के समीप, राजापुर में, बल्कि सम्भवत: सोरौं में हुआ। वे कुल के ब्राह्मण तथा सनाढ्य शुक्ल और स्मार्त थे।[4] जन्म के शीघ्र पश्चात् ही या तो तुलसीदास अनाथ होगए या उनके माता पिता ने उन्हें छोड़ दिया जिससे बचपन से ही वे द्वार द्वार भिक्षा मांगते रहे। प्रतीत होता है कि आरम्भ में उनका नाम "रामबोला"[5] (राम का नाम बोलने वाला) था; हो सकता है कि भिक्षा मांगने के कारण ही उनका ये उपनाम होगया हो।

तुलसीदास के गुरु कौन थे? रामचरित मानस के आमुख (बालकाण्ड, आमुख, सोरठा ५) के आधार पर अधिकतर विद्वान 'नरहरि' को उनका गुरु बताते हैं क्योंकि इस स्थल पर तुलसीदास ने

---

[1] एफ़. एस. ग्राउज़ ने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में नाभाजी व प्रियदास द्वारा रचित पद्यों को मूलरूप में उद्धृत करके उनका अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। इलाहाबाद सप्तम संस्करण १९३७ पृ० ५ इत्यादि।

[2] '**मर्यादा**' १९१२ में प्रकाशित।

[3] "**तुलसी संदर्भ**," इलाहाबाद १९३५, पृ० २३ इत्यादि।

[4] प्रथम तीन जातियों के हिन्दू जो श्रुति की परम्परा का नहीं अपितु स्मृति का अनुसरण करते हैं, उनका मत सूत्रों पर (विशेषकर गृह सूत्रों पर) आश्रित है। वे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश इन पंचपरमेश्वर की पूजा करते हैं।

[5] इस नाम का उल्लेख **कवितावली** ३, (१०० में) और **विनयपत्रिका** (७६) में हुआ है।

"नर रूप हरि" कह कर उनकी प्रशंसा की है। यदि ये मान भी लिया जाय कि तुलसीदास के गुरु का नाम नरहरि था, तो उससे हमारे ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती: कारण, नरहरि नाम के कई व्यक्ति प्रसिद्ध हैं: नाभाजी ने नरहरि नाम के छ: व्यक्तियों का उल्लेख किया है; और रामानन्दकृत गुरुपरम्परा के अनुसार ऐसे तीन व्यक्ति हुए हैं। ग्रियर्सन ने[1] इस गुरु परम्परा को दो प्रकार से प्रस्तुत किया है: उनके अनुसार, रामानन्द की परम्परा में तुलसीदास आठवें गुरु थे। परन्तु परम्पराओं की इन दोनों सूचियों को विश्वस्त नहीं आना जासकता। तुलसीदास के समकालीन प्रमाण अर्थात् नाभा जी की भक्तमाल में तुलसीदास की गणना रामानन्दकी परम्परा में नहीं हुई। सोरौं की एक परम्परा के अनुसार नरसिंह नामक कोई व्यक्ति तुलसीदास के गुरु थे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम देखेंगे, मानस के आमुख के ऊपरि-निर्दिष्ट संदर्भ का "हरि" पाठ भी सुनिश्चित नहीं।[2] सम्भव है कि रामानन्दियों के सम्प्रदाय में दीक्षा प्राप्त होने के पश्चात् ही हमारे कविको उनके गुरु ने तुलसीदास नाम दिया हो।

तुलसीदास रामानन्दी थे इस विषय में सभी परम्पराओं में मतैक्य है: परन्तु यह कहना कठिन है कि तुलसीदास ने इस सम्प्रदाय की धारणाओं को किस सीमा तक अपनाया। स्मार्त ब्राह्मण होने के नाते वे पंचपरमेश्वर की पूजा करते थे और शिव में उनकी विशेष आस्था थी; इसके अतिरिक्त उन्होंने जाति भेद की अवमानना कभी नहीं की। जे. एन. कारपेन्टर[3] के अनुसार "अन्य रामानन्दियों की तुलना में वे अधिक स्वतंत्रविचार के थे"। स्वयं रामानन्द के उपदेशों के विषय में ही हमें अधिक ज्ञान न होने के कारण यह प्रश्न और भी दुरूह होजाता है। इन महान सुधारक का व्यक्तित्व ही रहस्यमय है और इनके जीवनकाल का भी ठीक ज्ञान नहीं (फ़र्कुहर[4] के अनुसार उनकी तिथि १४०० से १४७० थी), कहाजाता है कि रामानन्दने रामानुज के विशिष्टाद्वैत का उपदेश दिया[5] पर ये भी निश्चित नहीं। रामानन्द के उपदेशों के विषय में हमारी जानकारी उनके शिष्यों के अथवा उनके सम्प्रदाय के अनुयायियों के लेखों से प्राप्त होती है: इस सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध अनुयायी कबीर तथा तुलसीदास ही थे।[6]

---

[1] ग्रियर्सन: इण्डियन एन्टिक्वैरि २२, २६६।

[2] देखिए प्रथम अध्याय पृ० ४।

[3] "दि थ्योलौजी औफ तुलसीदास," १९१८।

[4] "आउटलाइन औफ दि रिलीजस लिट्रेचर औफ इंडिया," औक्सफोर्ड, १९२० पृ० ३२३, मैकौलिफ़ (दि सिख रिलीजन, ६. पृ० १००-१०१) ने रामानन्द का जीवन काल चौदहवीं शताब्दी के अन्त में और पन्द्रहवीं शताब्दी के पूवार्द्ध में बताया है। भंडारकर ("वैष्णविज़म, शैविज़म इत्यादि," स्ट्रासबुर्ग, १९१३ पृ० ६७) के अनुसार रामानन्द का जन्म १२९९ अथवा १३०० में हुआ।

[5] फ़र्कुहर, वही, पृ० ३२६; इस विषय पर फ़र्कुहर, ग्रियर्सन व सीताराम में वाद विवाद के लिए देखिए—ज. रा. ए. सो, १९२०, पृ. १८५ व ५९१; १९२१ पृ० २३९; १९२२ पृ० ३७३, साथ में दे. श्रीनिवासाचारी कृत "फिलौसौफी औफ विशिष्टाद्वैत" पृ० ५४४।

[6] फ़र्कुहर (ज. रा. ए. सो, १९२२ पृ० ३७३) के अनुसार तुलसीदास ही रामानन्द सम्प्रदाय के सर्व प्रसिद्ध व प्रधान प्रतिनिधि थे।

हमें ज्ञात है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था, परन्तु उनका गृहस्थ जीवन चिरस्थायी नहीं था। प्रियदास की व्याख्या में वर्णित उनके दाम्पत्य जीवन की एक घटना के कारण वे इस संसार से विमुख होने को बाध्य होगए। फिर उन्होंने राम की सेवा में जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। तब वे एक प्रकार के "बैरागी" होगए जिन्हें रामानन्दी "अवधूत" कह कर पुकारते हैं। इन 'अवधूतों' के केन्द्र वाराणसी और अयोध्या (आधुनिक अवध अथवा औध) में आज भी विद्यमान हैं। प्रतीत होता है कि तुलसीदास सबसे पहिले अयोध्या में रहे और वहीं पर उन्होंने अपनी रामायण के एक भागकी रचना की। उन्होंने कई तीर्थों का, विशेषकर विन्ध्याचल में चित्रकूट का, भ्रमण किया—राम के प्रवास का यही प्रथम पड़ाव था। कुछ समय पश्चात् महाकवि तुलसीदास गंगा के तट पर वाराणसी में पहुंचे और वहाँ पर उन्होंने रामायण को सम्पूर्ण किया। इस महान ग्रन्थ से उनकी प्रसिद्धि इतनी अधिक होने लगी कि लोग उन्हें विख्यात संस्कृत रामायण के लेखक वाल्मीकि ऋषि का अवतार मानने लगे। तब से ही उन्हें एक महान सन्त भी माना जाने लगा। कहा जाता है कि उन्हें कईबार राम का दर्शन हुआ। विनय पत्रिका[1] में उन्होंने स्वयं इस प्रकार के अनुभव की चर्चा की है। कहा जाता है कि १६१६ ई० में वैष्णव महा कवि सूरदास उनसे भेंट करने चित्रकूट गए और मीराबाई ने उपदेश लेने के लिए उन्हें एक सन्देश भेजा। इतना होने पर भी वाराणसी के रूढ़िप्रेमी पंडितो ने उनकी अवहेलना की और उनका तिरस्कार किया। जब १६०९ ई० में जहाँगीर बादशाह के राज्य में वाराणसी में महामारी हुई तो तुलसीदास की आयु अधिक अवश्य थी पर प्रतीत होता है कि उस समय उनका देहावसान नहीं हुआ। वास्तव में अपूर्ण रहनेवाली उनकी अन्तिम कृति '**कबित्तावली**' में एक अन्य रोग के फैलने का निर्देश है; कदाचित् तभी उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु की तिथि अनिश्चित है पर एक परम्परा के अनुसार—१६२३ ई० उनकी मृत्यु का समय बताया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि तुलसीदास ९१ वर्ष तक जीवित रहे। जो भी हो यह निःसन्देह है कि उनकी मृत्यु बड़ी उमर में हुई।

तुलसीदास की लिखी बताई कृतियों में से कुछ की प्रामाणिकता में सन्देह है; ग्रियर्सन ने उनकी बारह कृतियों को प्रामाणिक माना है,[2] और इन विद्वान द्वारा निर्धारित सूची को, यतस्तत: परिवर्तनों सहित सभी आधुनिक लेखक स्वीकार करते है। इन सब कृतियों में से **रामचरितमानस** अथवा **रामायण** ही सबसे अधिक बड़ी है: इसमें दस हजार से अधिक अर्धलियां हैं। **पदुमावती** (१४५०) के प्रसिद्ध

---

[1] वि. प. ७६, १३९, १९३, १७२, २८४, २७७ से २७९ तक।

[2] इ. एं. २२, १८९३, पृ० १२९: "**अथौराइज्ड लिस्ट औफ दि कैनोनिकल वर्क्स औफ तुलसीदास,**" ग्रियर्सन के अनुसार (अ) **लघु कृतियां**—रामललानहछू, बैराग्य संदीपिनी, बरवा रामायण, पार्बतीमंगल, जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न; तथा (आ)—**बृहत् कृतियां**—दोहाबली (या सतसई), कबित्ता रामायण (कवित्ताबली), गीता रामायण (गीताबली), कृष्णाबली (कृष्ण गीताबली), विनयपत्रिका, रामचरितमानस (रामायण) हैं। माताप्रसाद गुप्त के अनुसार (गोस्वामी तुलसीदास पृ० ९८-९९) रामललानहछू, वैराग्यसंदीपिनी और सतसई, इन तीन ग्रन्थों को छोड़कर शेष अन्य ग्रन्थ प्रामाणिक हैं। वे अपनी सूची में दोहावली और सतसई की गणना पृथक् करते हैं।

लेखक जायसी और कबीर[1] के समान तुलसीदास ने प्रधानतया अवधी का प्रयोग किया है: पूर्वी हिन्दी की यह बोली अवध की भाषा है और रामायण की रचना इसी भाषा में हुई है। परन्तु **कृष्णागीतावली** व **विनय पत्रिका** की भाषा ब्रज है: पश्चिमी हिन्दी की ये बोली मथुरा की भाषा है। इसके अतिरिक्त तुलसी की अधिकतर कृतियों में ब्रजबोली के विविध रूप प्राप्त होते हैं। ब्रजबोली प्रायः कृष्ण से सम्बन्धित कृतियों में प्रयुक्त हुई है और तुलसीदास के पश्चात् राम से सम्बन्धित कृतियां प्राय: अवधी में निबद्ध हैं।

तुलसीदास की समग्र कृतियों में से केवल चार में रचनाकाल का निर्देश है: **रामाज्ञा प्रश्न** का संवत् १६२१ (१५६४ ई०); **रामचरितमानस**—संवत् १६३१ (१५७४ ई०) में आरम्भ हुआ व **सतसई** संवत् १६४१ (१५८४ ई०) में; और **पार्बतीमंगल** का रचना काल "जय" वर्ष तदनुसार संवत् १६४३ (१५८७ ई०) बताया गया है।

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास ने जब अपनी रामायण की रचना आरम्भ की तब उनकी आयु लगभग ४२ वर्ष की थी: मानस उनकी परिपक्व अवस्था की कृति है। यह रचना समाप्त कब हुई इसका हमें कोई ज्ञान नहीं। अयोध्या में प्रचलित एक परम्परा के अनुसार संवत् १६३३ (१५७६ ई०) में इसकी इति श्री हुई: इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानस की रचना में केवल दो वर्ष लगे: पर इस ग्रन्थ बृहद् आकार को देखते हुए यह बात ठीक नहीं उतरती।[2]

मुहम्मद जायसी की **पदुमावती** के समान रामचरितमानस की रचना चौपाइयों और दोहों में हुई है। इसी कारण कभो इसको "**चौपाई रामायण**" का नाम भी दिया जाता हैं।

चौपाई में चार पाद और प्रत्येक पाद में १६ मात्रा होती हैं। प्रत्येक दो पाद समानान्तक रहते हैं। प्रत्येक पाद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है और सामान्यतया (पर सदा नहीं) अन्तिम पाद के दो अन्तिम अक्षर दीर्घ होते हैं। दो समानान्तक पादों को एक ही पंक्ति में लिखने पर अर्धली (अर्ध चौपाई) बनती है जैसे:—

बंदऊँ गुहपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

'**दोहा**' में दो पाद और प्रत्येक पाद में २४ मात्रा होती हैं। दोनो पाद समानान्तक होते हैं प्रत्येक पाद दो चरणों में विभाजित होता है परन्तु इस विभाग को लक्षित नहीं किया जाता। प्रत्येक चरण की व्यवस्था इस प्रकार होती है; ६+४+३ और ६+४+१। प्रथम चरण के पाद के अन्त में नगण (ऽऽऽ) अथवा एक लघु और गुरु मात्रा होती है। प्रत्येक पाद का अन्तिम अक्षर लघु होना चाहिए; दोहे में प्रत्येक पाद ही अर्धली (अर्ध चौपाई) कहलाती है जैसे:—

---

[1] कबीर की तिथि अनिश्चित है। भंडारकर (वै. शै. पृ० ६९) ने मैकोलिफ (दि सिख रिलीजन, ६, पृ० १२२) द्वारा निर्धारित तिथि को स्वीकार किया है इसके अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५ (१३९८ ई०) में तथा मृत्यु १५१८ ई० में हुई।

[2] दे. माताप्रसाद गुप्त: गोस्वामी तुलसीदास पृ० २३०-२३१।

दो०—जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान॥

रामचरितमानस में चार चौपाइयाँ और एक दोहा मिलकर पद्यात्मक इकाई बनाते हैं: और इसीलिए मानस के भारतीय समालोचक दोहे से अन्त करने वाले प्राय: सम्पूर्ण पद्य को दोहा ही कहते हैं। पर इस प्रकार के नामकरण से भ्रम की सम्भावना रहती है हमारे विचार में पद्य को नहीं परन्तु दोहा कहना चाहिए: यह भेद करना इसलिए आवश्यक है कि मानस में पद्यों के अन्त में दोहा न होकर कभी कभी सोरठा भी होता है।

प्रत्यावर्तित दोहा ही **सोरठा** है। दोहे के लम्बे व छोटे चरण यहाँ पर क्रमश: छोटे व लम्बे चरण होजाते हैं। दोहे के समान इसमें भी छोटे चरण ही समानान्तक होते हैं जैसे—

"सो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिबरबदन।
करउ अनुग्रह सोइ। बुधिरासि सुभ गुन सदन॥"

चौपाई और दोहों के अतिरिक्त, मानस के कुछ पद्यों में छन्दों का भी प्रयोग हुआ है प्राय: हरिगीतिका का। इस छन्द में चार समानान्तक पद होते हैं और प्रत्येक में २८ मात्रा होती हैं। अनंकित यति सोलहवीं मात्रा के बाद होती है (१६+१२)। जैसे:—

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दू बासना रसना दसन बर, मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवतब्यता बस काम कौतुक लेखइ॥

बालकाण्ड के अन्तिम भाग अयोध्याकाण्ड में यह छन्द प्रत्येक २५ पद्यों की अन्तिम चौपाई के बाद प्रयुक्त हुआ है; इस छन्द में तुलसीदास का नाम भी आता है और इसके पश्चात् दोहे के स्थान पर सोरठा आता है जो पद्य के अन्त का सूचक है। बालकाण्ड के पूर्वार्ध और विशेषकर बाद के काण्डों में छन्दों का प्रयोग तथा प्रकार विभिन्न है और पद्यों के अन्तर्गत चौपाइयों और दोहों की संख्या भी एक सी नहीं है।

वाल्मीकि रामायण की भाँति रामचरितमानस भी सात काण्डों में विभक्त है और छटे काण्ड को छोड़कर अन्य सब के नाम भी वाल्मीकि रामायण के से है; वाल्मीकि के युद्धकाण्ड के स्थान पर छठे काण्ड को मानस में लंकाकाण्ड का नाम दिया गया है, परन्तु ये परम्परागत नाम तुलसीदास द्वारा दिए गए प्रतीत नहीं होते।[1]

---

[1] ग्रियर्सन (मि. व. लि. हि. पृ. ५६ पादटिप्पणी १८) के अनुसार तुलसीदास ने रा. च. मा. के सात काण्डों की पुष्पिकाओं में अन्य नाम दिये थे—दे० पृ० २८९ से २९० और ३४६।

इस ग्रन्थ का अनुपात असमान है और इसकी रचना भी विचित्र ढंग से हुई है। मानस में बालकाण्ड सबसे लम्बा है (इसमें ३६०० से भी अधिक अर्धलियां हैं) और कई ऐसी कथाएं भी हैं जो रामाश्रयी नहीं। अयोध्याकाण्ड भी काफ़ी लम्बा है, इसमें ३२०० से अधिक अर्धलियां हैं और हिन्दू लोग इस काण्ड की सर्वाधिक प्रशंसा करते हैं और इसको प्राय: पढ़ते भी हैं। इन दोनों काण्डों से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का दो तिहाई भाग पूरा हो जाता है। इनके बाद आने वाले, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और सुन्दरकाण्ड बहुत ही छोटे हैं। अन्तिम दो, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड मंझली लम्बाई के हैं। परन्तु बालकाण्ड के प्रथमभाग के समान लग भग पूरे उत्तरकाण्ड का विषय रामकथा के बाहर का है।

रामचरितमानस की अनेकों हस्तलिपियां हैं परन्तु जो जितनी महत्वपूर्ण है वह उतनी ही दुष्प्राप्य भी है; क्योंकि प्राय: वे महन्तों द्वारा मन्दिरों में निहित हैं जिससे नास्तिकों की कुदृष्टि उन पर न पड़ सके। यही बात राजापुर की प्रसिद्ध हस्तलिपि के विषय में घटित होती है।

उपलब्ध हस्तलिपियों में से प्राचीनतम हस्तलिपि में केवल बालकाण्ड ही है। उस पर संवत् १६६१ (१६०४ ई०) की तिथि पड़ी है। परिणामस्वरूप यह ऐसे समय में लिखी गई जब कि गोस्वामी जी स्वयं जीवित थे। यह हस्तलिपि सरयू नदी पर स्थित वासुदेव घाट के 'श्रवण कुंज' मन्दिर में उपलब्ध है और स्थानीय राजा साहब की सम्पत्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कई बार सुधार किए गए।[१]

लखनऊ के पास मलीहाबाद के एक मन्दिर में एक अन्य हस्तलिपि उपलब्ध है। माना जाता है कि इसको स्वयं तुलसीदास ने लिखा। यह (सातों काण्डों से युक्त) सम्पूर्ण भी है और प्राचीन भी अवश्य है यद्यपि इस पर कोई तिथि नहीं पड़ी है। यह हस्तलिपि विशेषतया दुर्लभ है। पंडित वि. त्रिपाठी ने इसके दर्शन अवश्य किए पर इसे काम में न लासके। मिश्रबन्धुओं[२] के अनुसार इसके मूल में कई प्रक्षिप्त स्थल हैं और राजापुर की हस्तलिपि की तुलना में इसकी लिखाई भिन्न है।

रामचरितमानस की सर्वप्रसिद्ध हस्तलिपि (बोदा ज़िले में) राजापुर की है और बहुत समय तक इसको तुलसीदास की ही लिखी माना जाता रहा है। परन्तु इसमें केवल अयोध्याकाण्ड ही है: ऐसा क्यों है इसकी एक कथा थी, और इसका ग्राउज़ ने अपने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में संकेत किया है।[3] इस हस्तलिपि को लाला सीताराम ने १९०८ ई० में प्रकाशित किया[४] और रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड के सभी संस्करणों के लिए यह आधार भी रही है। डा. माताप्रसाद गुप्त[५] और पं. राम नरेश त्रिपाठी[६] इस हस्तलिपि का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यद्यपि यह प्रति प्राचीन अवश्य है पर तुलसीदास द्वारा स्वयं लिखित निश्चय ही नहीं है।

---

[१] मा. प्र. गुप्त—"रामचरितमानस की सबसे प्राचीन प्रति," "हिन्दुस्तानी"—जनवरी १९३५।

[२] **हिन्दीनवरत्न**—पृ० ६६।

[3] सप्तम संस्करण, इलाहाबाद १९३७, पृ० XIII।

[४] किशोर ब्रदर्स, इलाहाबाद।

[५] "रामचरितमानस की सबसे प्राचीन प्रति"—"हिन्दुस्तानी" जनवरी, १९३५।

[६] "**तुलसीदास और उनकी कविता**" इलाहाबाद १०३७, पृ० २५४ इत्यादि।

रामचरितमानस की प्राचीनतम, सम्पूर्ण और आजकल प्रयोग करने योग्य हस्तलिपि काशी नरेश के पास है। यह वाराणसी के पास रामनगर में सुरक्षित है। इसकी तिथि संवत् १७०४ (१६४७ ई०) है।

१८८८ में जौर्ज ग्रियर्सन ने रामचरितमानस के प्रकाशकों व व्याख्याकारों में समालोचनात्मक दृष्टिबिन्दु के अभाव पर खेद प्रगट किया था। उस समय मानस का पूर्णतया संशोधित कोई संस्करण प्राप्त नहीं था। तबसे प्रगति अवश्य हुई है—१९०२ ई० में **इन्दियन प्रेस** ने कुछ पंडितों की सहायता से एक संस्करण प्रस्तुत किया था जिसके आरम्भ में कवि के जीवनवृत्त के साथ साथ उनकी रचनाओं की रूपरेखा भो दी थी। १९०८ ई० में लाला सीताराम ने राजापुर की हस्तलिपि प्रकाशित की। फिर भो, उपलब्ध प्रमुख हस्तलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित रामचरितमानस का संशोधित संस्करण यथार्थ में अभो तक उपलब्ध नहीं (यद्यपि १८३७ ई० में पंडित विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा वाराणसी से प्रकाशित संस्करण इस दिशा में प्रथम प्रयास है)। मानस के आधुनिक संस्करणों में से सर्वोत्तम, मासिक पत्रिका "कल्याण" का १९४० ई० का विशेषाङ्क "मानसाङ्क" है। इसके सम्पादक सर्व श्री गोस्वामी व बाजपेयी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिए संकेत इसी संस्करण से दिए गए है।[1]

मानस की व्याख्याएं सामान्यतया अच्छी नहीं हैं। उनका प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। बैजनाथ कुर्मी की व्याख्या (लखनऊ १८६०) सबसे अधिकप्रचलित है "**मानस पीयूष**"[2] प्राचीन व्याख्याओं का (९ जिल्दों में) एक वृहत् संकलन है पर व्याख्याओं को समालोचनात्मक रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया और कई उपयोगी सूचनाएं व्यर्थ की बातों के साथ उलझ गई हैं। जैसा कि ग्रियर्सन ने कहा है: "अधिकतर व्याख्याकारों की प्रवृत्ति कठिन स्थलों को छोड़देने की और सरलतम स्थलों को ऐसे रहस्यात्मक अर्थ प्रदान करने की रही है कि इनके विषय में तुलसीदास ने कदाचित् कभो विचार भी न किया हो"।[3] आधुनिक टीकाओं में से श्यामसुन्दरदास कृत टीका[4] निःसन्देह सर्वोत्तम है।

भारतवर्ष में मानस के अनेकों अनुवाद हुए और टोकाएं प्रकाशित हुईं। कई पंडितों ने मिलकर संस्कृत में एक रामचरितमानस प्रकाशित किया और उसको एक ऐसे मौलिक ग्रन्थ के समान प्रस्तुत किया जिसका अनुवाद तुलसीदास ने किया होता: पर सर्वप्रथम जौर्ज ग्रियर्सन[5] और फिर लाला सीताराम[6] को, हिन्दी कविता की मौलिकता को सिद्ध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। 'रामचरितमानस' के विभिन्न भाषाओं में हुए अनुवादों से, सम्पूर्ण भारत में, इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है। १८९७ में ग्राउज़ ने इसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया था। यूरोपीय भाषा में यही एक सम्पूर्ण अनुवाद है; यद्यपि यह यत्र तत्र अशुद्ध और असुन्दर है तथापि प्राय: लाभप्रद होने

---

[1] क्योंकि प्रयाग विश्वविद्यालय के डा. माता प्रसाद गुप्त का संशोधित संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

[2] शीतल सहाय सावन्त कृत (१९३४ इत्यादि)।

[3] मा. व. लि. हि. पृ० ४७।

[4] इलाहाबाद १९२७।

[5] ज. रा. ए. सो. १९१३ पृ० १३३: "**इज़ दि रामायण औफ तुलसीदास ए ट्रान्सलेशन?**"।

[6] वही, १९१४ पृ० ४१६ "**ओरिजिनैलिटी औफ दि रामायण औफ तुलसीदास**"।

के कारण यह कई बार छपा है।[1] भूमिका में गाउज़ ने ग्रन्थ का संक्षिप्त सार दिया है और इस ग्रन्थ के मूल आधार, उसकी रचना और उसमें अभिव्यक्त दार्शनिक तथा धार्मिक भावों की समस्या को भी छुआ है।

पर सर जौर्ज ग्रियर्सन को तुलसी के अनुसन्धान कर्ताओं में अग्रगण्य माना जासकता है।[2] उन्होंने हिन्दी महाकवि की कृतियों का सबसे पहिले समीक्षात्मक अध्ययन किया। "**मिडिएवल वर्नाक्यूलर लिट्रेचर औफ हिन्दुस्तान**"[3] नामक उनकी रचना का प्रथम बीज इस क्षेत्र में उनका अनुसन्धान ही था। अपने "**नोटस औन तुलसीदास**"[4] नामक निबन्ध में तुलसीदास द्वारा रचित माने जाने वाले ग्रन्थों का विश्लेषण कर और उनकी प्रामाणिकता का निर्णय करके उन्होंने एक प्रकार से क्षेत्र को परिमार्जित करने का प्रयत्न किया। तदुपरान्त उनके अनुसन्धान के निष्कर्ष १८९८ और १९१४ के बीच (ज. रा. ए. सो. में) प्रकाशित निबन्धों में संगृहीत हैं। "**हिन्दी नवरत्न**"[5] नामक साहित्यक समालोचनात्मक प्रथम ग्रन्थ के लेखक मिश्रबन्धुओं ने ग्रियर्सन के अनुसन्धान का उपयोग किया; इन नवरत्नों में तुलसीदास का सर्वप्रथम स्थान है।

"**इल रामचरितमानस ए इल रामायण**"[6] नामक ग्रन्थ में इटली के विद्वान टेसिटोरी ने रामचरितमानस के मूलाधारों और उस पर वाल्मीकि रामायण के प्रभाव की समस्या को उठाया और विस्तार से प्रतिपादित किया। इन विद्वान ने बालकाण्ड के प्रथम भाग और लगभग सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड को एक ओर छोड़ दिया, क्योंकि इनमें वाल्मीकि रामायण की कथा से कोई अंश नहीं लिया गया। टेसिटोरि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अवशिष्ट रामचरितमानस में तुलसीदास ने वाल्मीकि

---

[1] सातवां संस्करण, इलाहाबाद १९३७, रामेश्वर भट्ट कृत अंग्रेजी अनुवाद (आगरा १९०९) निर्मूल्य है।

[2] ग्रियर्सन से पहिले निम्न लिखित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं: हो. हे. विल्सन: "**स्केच औफ दि रिलिजस सैक्टस औफ दि हिन्दूज़**" १८३१ वर्क्स १६ पृ० ४८) इसमें तुलसीदास को वैष्णव-धर्मावलम्बी कहा गया है। गार सें द त्तासी, **इस्तुवार द ला लितेराच्युर एन्दुइ ए एंदुस्तानी**" १८३१, जिल्द १ पृ० ५०७-५११ तुलसीदास का जीवन वृत्त; वही जिल्द २ पृ० २१५-२७२ सुन्दरकाण्ड का फ्रांसिसी अनुवाद।

[3] कलकत्ता १८८९ (ज. ए. सो. वं. विशेषाङ्क ३१), पृ० ४७ पर दी तुलसीदास विषयक भूमिका, प्राच्य विद्या विशेषज्ञों के अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन के, सन् १८८८ में वियेना में हुए, सप्तम अधिवेशन के अवसर पर पढ़े गए एक लेख का पुनर्मुद्रण है। इस लेख का विषय: "**दि मिडिएवल वर्नाक्यूलर लिट्रेचर औफ हिन्दुस्तान विध स्पेशल रिफरैन्स टु तुलसीदास**" (फैरहान्डलुंगन डैस ७ इन्टरनास्योनालन ओरियन्टैलिस्टन कौंग्रेसैस, वीन, १८८८ आरिशे सैक्सियोन, पृ० १५७ इत्यादि)।

[4] इ. ए. २२, १८९३ पृ० ८९, १२२, १९७, २२५, २५३।

[5] लखनऊ १९१०, चतुर्थ संस्करण १९३८।

[6] "जियोर्नाले दैल्ला सोसियेता आज़ियातिका," जिल्द २४, १९११, १९१२; अंग्रेजी अनवाद के लिये देखिये इं. एं. ४१. व ४२. १९१३।

रामायण का अनुकरण किया है, अत एव वही रामचरितमानस का "मुख्य मूलाधार" है। उन्होंने मानस से उद्धृत कई ऐसे स्थलों की भी सूची दी है जिनमें वाल्मीकि के ग्रन्थ की 'प्रतिध्वनि' मिलती है यहाँ तक कि उन्होंने वाल्मीकि के ग्रन्थ के उन संस्करण विशेषों तक को निर्धारित करने का प्रयास किया जिनका तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ के विभिन्न भागों में आश्रय लिया। तुलसीदास की और वाल्मीकि की कथा में जो अनेक विषमताएँ हैं उनका समाधान करने के लिए वे तुलसीदास की स्मरण शक्ति अथवा अन्य प्रकार की भ्रान्ति को दोषी ठहराते हैं। इस पर भी, स्वयं टेसिटोरी ने कुछ संकोच प्रगट किया और कहा।

"केवल (वाल्मीकि कृत) रामायण पर ही आश्रित होने से इन निष्कर्षों का अस्थायी प्रतीत होना स्वाभाविक है। हमें ज्ञात है कि तुलसीदास ने ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत विद्यमान, रामायण के रहस्यात्मक "रूपान्तर", अध्यात्मरामायण का प्रयोग भी किया था। इस मूलाधार का अध्ययन करने पर ही रामचरितमानस के स्रोतों में (वाल्मीकि) रामायण की प्राथमिकता अन्तिम रूप से सिद्ध होसकेगी। परन्तु कुल मिलाकर यदि रामायण को जो प्राथमिकता हमने दी है उसमें कुछ संकोच भी हो तो भी प्रस्तावित सामान्य निष्कर्ष सर्वथा निश्चयात्मक हैं।"

मानस के आरम्भिक संस्कृत श्लोक में तुलसीदास ने स्वयं मूलाधारों का उल्लेख किया है: अनेक पुराण, निगम, आगम और रामायण तथा कुछ अन्य ग्रन्थों (क्वचिदन्यतोऽपि) के अनुरूप ही उन्होंने रामकथा का वर्णन किया है। भारतीय टीकाकारों के अनुसार इन "अन्य ग्रन्थो" में अध्यात्म रामायण तथा भुशुण्डि रामायण जैसी अन्य रामायणें और हनुमन्नाटक (महानाटक) और प्रसन्नराघव जैसे कुछ नाटक सम्मिलित हैं। टेसिटोरी के अध्ययन की समालोचना करते हुए ग्रियर्सन ने उनके सिद्धान्त की दुर्बलता की बतलाया और कहा कि टेसिटोरी ने अवाल्मीकीय अन्य मूलाधारों को कोई महत्व नहीं दिया। रामचरितमानस के अन्य आधारों का अध्ययन करने से वाल्मीकि की रामायण और मानस की विषमताओं को, टेसिटोरी के प्रयास की अपेक्षा, अधिक सरलता से समझा जा सकता है।[1]

ग्रियर्सन के पश्चात् आने वाले भारतीय समीक्षकों ने रामचरितमानस के मूलाधारों की समस्या की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। ये सब तुलसीदास के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा करके ही संतुष्ट रहे हैं और रामचरितमानस पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव को दर्शाते हैं। राम नरेश त्रिपाठी[2] या शिवनन्दन सहाय[3] जैसे कुछ विद्वानों ने (संदर्भ दिए बिना) अनेकों ऐसे उद्धरण दिए हैं जो मानस में संस्कृत ग्रन्थों की छाया के परिचायक हैं। शिवनन्दन सहाय ने तो वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण से रामचरितमानस की तुलना को एक पूरे अध्याय[4] में प्रस्तुत किया है। उनका प्रयास सराहनीय है यद्यपि वे टेसिटोरी के अध्ययन से अनभिज्ञ हैं; उनका विवेचन पल्लवग्राही भी है।

---

[1] ज. रा. ए. सो. १९१२ पृ० ७९७।

[2] पृ० २९३ इत्यादि।

[3] "श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित", बांकीपुर १९१९, द्वितीय भाग अध्याय २८।

[4] वही द्वितीय भाग अध्याय ३०।

रामचरितमानस के आधुनिक भारतीय समीक्षकों ने मानस की रचना पर अध्यात्म रामायण के प्रभाव का अधिक जोर से उल्लेख किया है। राम नरेश त्रिपाठी के अनुसार तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण से ही कथा के विषय की प्रेरणा प्राप्त थी। यही मत माता प्रसाद गुप्त का है: उनका कथन है कि तुलसीदास ने मानस की संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रस्तावना में जो "रामायण" शब्द का प्रयोग किया है वह वाल्मीकि रामायण की ओर नहीं परन्तु अध्यात्म रामायण की ओर संकेत करता है। इन विद्वान ने अपने कृति के अन्तिम अध्याय में, जिस में तुलसीदास के जीवन वृत्त और कृतियों की विवेचना है, दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की दृष्टि से, एक ओर **विनयपत्रिका** से, तो दूसरी ओर **अध्यात्म रामायण** से, रामचरितमानस की संक्षिप्त तुलना की है।[1]

अध्यात्म रामायण रामभक्ति शाखा का प्रख्यात ग्रन्थ है और १८ महापुराणों में से एक, ब्रह्माण्ड पुराण का अंश समझा जाता है। यह रामायण कुछ अर्वाचीन भी प्रतीत होती हैं। बैजनाथ[2] ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया था। प्रबोधचन्द्र बागची[3] ने इसका एक संशोधित संस्करण संपादित किया है और एक विस्तृत भूमिका भी प्रस्तुत की है। श्री बागची इस ग्रन्थ का रचनाकाल १४९० और १५५० के बीच का मानते है; उनके अनुसार यह रामायण कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आश्रित है: अध्यात्म रामायण की रचना के समय, भागवत पुराण के अतिरिक्त, संभवत: पम्परामायण (कन्नड भाषा में लिखित एक जैन संस्करण), योगवाशिष्ठ, अद्भुत और भुशुण्डि रामायण भी विद्यमान थीं।

अध्यात्म रामायण को सर्वोत्तम पुराण कहा जाता है और पुराणों के समान ही यह ग्रन्थ सूत द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कलियुग के दु:खों से पीड़ित नारद मुनि ब्रह्मा के पास जाते हैं और उनसे मुक्ति के सरल साधन पूछते हैं। तब ब्रह्मा उनसे अध्यात्म रामायण का पाठ करने को कहते हैं क्योंकि उस में "राम तत्व" का वर्णन है: यह रहस्य प्राचीन काल में शिव ने पार्वती को बताया था। अत: यह ग्रन्थ शिवपार्वती के संवाद के रूप में है जिसे ब्रह्मा ने नारद को बताया, यद्यपि संपूर्ण कथा को सूत ही प्रस्तुत करता है।

इस ग्रन्थ के द्विपक्षी लक्षण के लिए इस प्रकार की दोहरी भूमिका उपयुक्त ही है: अध्यात्म रामायण पुराण भी है क्योंकि इस में एक प्राचीन कथा वर्णित है, और तंत्र भी है क्योंकि यह राम कथा के रहस्यात्मक पक्ष पर आश्रित एक अध्यात्मिक गाथा भी है।

राम को परब्रह्म का अवतार बताकर, अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को, शंकर के शुद्धाद्वैत को और उसके द्वारा राम की भक्ति को जन साधारण तक पहुँचाना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। फिर भी अध्यात्म रामायण के अद्वैत में कुछ शाक्त तत्व मिश्रित है—संपूर्ण ग्रन्थ में सीता को, शक्ति, और संसार का सृजन, पालन, और संहार करने वाली माया बताया है। अन्तिम काण्ड का पंचम सर्ग जिस में रामगीता है, भगवद्गीता के समान है—यहाँ पर अर्जुन के स्थान पर लक्ष्मण को राम मुक्ति विषयक वेदान्त के सिद्धान्त का उपदेश करते हैं। वस्तुत: यहाँ पर राम की भक्ति को अद्वैत आधार

---

[1] मा. प्र. गुप्त: **गोस्वामी तुलसीदास** पृ० ३८० इत्यादि

[2] से. बु. हि., इलाहाबाद, १९१३।

[3] कलकत्ता संस्कृत सिरीज़ ११, १९३५।

देने का प्रयास किया गया है और इस प्रयास से स्पष्ट है कि १५ वीं शताब्दी में, भक्ति के अनुयायियों तक में, इस सिद्धान्त के प्रति पक्षपात था।

अध्यात्म रामायण में भी सात काण्ड हैं—बागची द्वारा दिए गए सारांश से ज्ञात होता है कि इसकी कथा वाल्मीकि रामायण का संक्षेपमात्र है यद्यपि उस में कहीं कहीं कुछ वैषम्य भी है और आधिक्य भी। कथापट में लम्बे लम्बे दार्शनिक उपदेश भी समाविष्ट हैं और विभिन्न पात्रों द्वारा प्रस्तुत "स्तुतियां" भी हैं: इन "गीता"ओ व "स्तुतियों" से कथासूत्र त्रुटित होजाता है, यद्यपि वह स्वयं ही क्षीण है। रामानन्दियों में अध्यात्म रामायण का अत्यधिक सम्मान है और परम्परा के अनुसार यह रामायण ही हिन्दी रामायण के प्रमुख मूलाधारों में से एक है।

रामचरितमानस व अध्यात्म रामायण का सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत निबन्ध का मूलबिन्दु है: इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता यह है कि एक तो मानस में अध्यात्म रामायण से लिए गए भावों के महत्व और सीमा का ज्ञान होजाएगा, और दूसरे, टेसिटोरी के निष्कर्षों की समीक्षा भो हो जाएगी। यह तो स्पष्ट ही है कि मुख्यतया रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण की कथा में साम्य है। हमें यह भी सुविदित है कि जनसाधारण की दृष्टि में तुलसीदास वाल्मीकि का अवतार ही हैं:[1] एक प्रकार से, वाल्मीकि रामायण, हिन्दी रामायण का प्रमुख मूलाधार भी है क्योंकि अधिकतर मध्ययुगीन रामायणों के, विशेषकर अध्यात्म रामायण के समान, मानस भी वाल्मीकीय परम्परा पर आश्रित है। परन्तु ज्ञातव्य प्रश्न यह रह जाता है कि क्या तुलसीदास ने प्रत्यक्षरूप से वाल्मीकि से कुछ लिया है, और यदि हो तो कितनी मात्रा में। बात यों है कि टेसिटोरी ने रामचरितमानस में से जितने भी स्थलों में "वाल्मीकि की छाया" पायी है उनमें से कम से कम आधे वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, और प्राय: यह कहना सम्भव नहीं होता कि तुलसीदास नें इनमें से कौन से ग्रन्थ का आश्रय लिया है। जब कभी हिन्दी की रामायण में कोई ऐसा स्थलविशेष देखने में आता है जिसका पूर्वरूप वाल्मीकि के तीन[2] में से किसी भी एक संस्करण में मिल जाय तो टेसीटिरी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तुलसीदास ने मानस के उस स्थलविशेष में वाल्मीकि के उस संस्करणविशेष का आश्रय लिया—पर प्राय: वही स्थलविशेष अध्यात्म रामायण में भी दृष्टिगोचर होता है; और विचार होता है कि तुलसीदास ने कदाचित् प्रत्यक्ष वहीं से उसका आदान किया हो।

प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी कथा का ढांचा अध्यात्म रामायण से ग्रहण किया। अध्यात्म रामायण के आमुख[3] में जैसे शिवपार्वती संवाद है वैसे ही रामचरितमानस के बालकाण्ड में भी है, और ग्रन्थ के एक भाग में, विशेषकर अन्तिम पाँच काण्डों में (पार्वती के सम्मुख) शिव ही कथा के प्रमुख प्रस्तुतकर्ता हैं। पर मानस के बालकाण्ड में यह संवाद इस प्रकार रखा गया है कि

---

[1] नाभा जी कृत '**भक्तमाल**' के अनुसार: "इस कलियुग में, मानव के कल्याण के लिए ही वाल्मीकि ने तुलसी के रूप में अवतार लिया था"। ग्राउज़ की कृति में पृ० ५ पर उद्धृत।

[2] याकोबी के वर्गीकरण के अनुसार ('**डास रामायण**', बौन, १८९३: 'क',—उत्तर पश्चिमी संस्करण; 'ख'—बंगाली संस्करण; 'ग',—दक्षिणी संस्करण। दे० बुल्के: "**दे थ्रि रिसैन्सन्स औफ दि रामायण**" ज. ओ. रि. म. XVII (१९४१ पृ० १)।

[3] दे० अध्याय ३।

इसको कथा का वास्तविक आमुख मानना असम्भव है। यह संवाद १०७ वें पद्य से आरम्भ होता है और प्रत्यक्षरूप से रामकथा का सूत्रपात भी नहीं करता; रामकथा तो बहुत आगे चलकर १९७ वें पद्य से आरम्भ होती है। १०७ वें और १९७ वें पद्य के बीच में कई ऐसे आख्यान आजाते हैं जिनके स्रोत विभिन्न हैं और जिनमें से किसी का भी पूर्वरूप वाल्मीकि रामायण अथवा अध्यात्म रामायण में नहीं मिलता। बालकाण्ड के अन्तिम भाग में और संपूर्ण अयोध्याकाण्ड में अर्थात् कविता के अधिकतर भाग में शिव प्रस्तुत कर्ता के रूप में कभी भी उपस्थित नहीं होते। अध्यात्म रामायण से लिए गए इस शिवपार्वती संवाद से मानस का ढांचा कुछ कृत्रिम व किंचित् अनुपयुक्त और संपूर्ण ग्रन्थ के अननुरूप होगया है क्योंकि मानस न तो पुराण है और न तंत्र ही।

यद्यपि अध्यात्म रामायण, वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण (ग) का समीप से अनुसरण करती है तथापि कुछ बातों में, उससे भिन्न है। यहाँ तक कि उसमें कई ऐसे सन्दर्भ ढूंढ निकाले जासकते हैं जो अवाल्मीकीय हैं—इन सन्दर्भों में से अधिकतर रामचरितमानस में उपलब्ध हैं और इन दोनों ग्रन्थों की तुलना करने से प्राय: यह निष्कर्ष निकलता है कि इन में अन्योन्याश्रयी संबन्ध है। वैसे रामचरितमानस में प्रवेश पाने पर इन संदर्भों का रंगरूप परिवर्तित हो जाता है क्योंकि यहाँ उनको एक विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार के परिवर्तन तुलसीदास की सहज प्रवृत्ति व प्रतिभा के परिचायक हैं।

अध्यात्म रामायण का प्रभाव, मानस के गीतिप्रधान और उपदेशात्मक भागों में विशेष द्रष्टव्य है—मानस में प्रस्तावित अधिकतर स्तुतियाँ और गीताएँ प्रत्यक्षरूप से अध्यात्म रामायण से लीगई हैं—समान परिस्थितियों में, समान वार्ता करने के लिए समान पात्रविशेष ही भाग लेते हैं। फिर, कभी कभी ऐसा भी होता है कि इन दोनों कविताओं में या तो कभी वार्तालाप का सार ही या कभी उसका स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है—और ऐसे स्थलों में किए गए परिवर्तन हमारे कवि के धार्मिक या दार्शनिक विचारों के प्रति पक्षपात अथवा विरोधको एक विलक्षण प्रकार से सूचित करते हैं।

(बालकाण्ड के प्रारम्भिक १०० पद्यों और संपूर्ण उत्तरकाण्ड को छोड़ कर) मानस के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक, अध्यात्म रामायण का प्रभाव एकसा नहीं है। मानस के विभिन्न भागों में विभिन्न ग्रन्थों का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। यहाँ पर हम उन में से प्रमुख आधारों का ही उल्लेख करेंगे।

एक महत्वपूर्ण मूलाधार शिवपुराण है। यह एक उपपुराण है और उस शैव पुराण से भिन्न है जिसकी गणना १८ महापुराणों में होती है और जिसे वायुपुराण से भिन्न नहीं समझा जाता है। औफ्रैक्ट[1] के अनुसार इस उप पुराण के १२ संहिता हैं, जो कठिनाई से एक साथ प्राप्त होते हैं। विल्सन[2] के अनुसार, इस पुराण के २ संहिता हैं और इस में लग भग ६००० पद्य हैं, इस के प्रथम

---

[1] **कैटालोगस कैटालोगोरम**, लाइपत्जिग, १८९१ पृ० ६५०।

[2] विष्णुपुराण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका (लन्दन १८६४ जिल्द १ पृ० ८८।) इस पुराण के कई संस्करण उपलब्ध है और उन सब में बहुत कुछ भेद है। सबसे अर्वाचीन मथुरा, संवत् १९९६ (१९३९ ई०) का है। इस में हिन्दी की टीका ब्रह्मचारी महाराज की है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए इस संस्करण का और "शिव पुराण भाषा", लखनऊ १९२५—एक हिन्दी अनुवाद का, उपयोग किया है।

संहिता में कतिपय आख्यान हैं परन्तु दूसरे में प्राय: शैव आख्यान ही हैं जैसे त्रिपुरासुर का नाश, दक्षयज्ञ, कार्तिकेय व गणेश का जन्म इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि मानस के बालकाण्ड के प्रथम भाग में जो शैवाख्यान आए हैं वे तुलसीदास ने इस पुराण के दूसरे संहिता से लिए हैं, परन्तु तुलसी ने उन्हें राम भक्ति के अनुसार परिवर्तित करदिया है। बहुत सी सामग्री नाटकों से लीगई है, विशेषकर **हनुमन्नाटक** व **प्रसन्नराघव** से। सिल्वें लेवी ने हनुमन्नाटक अथवा महानाटक को "सभी नियमों के प्रतिकूल एक विचित्र ग्रन्थ" कहा है।[१] यह संस्कृत में है और इसके दो विभिन्न संस्करण प्राप्त हैं: एक मधुसूदन का (९ अंक, ७२० श्लोक में) और दूसरा दामोदरमिश्र का (१४ अंक ५७८ श्लोक में)[२]। यह नाटक अतिप्राचीन ढंग का है और रामायण के अधिक निकट है। इसकी रचना के विषय में एक आख्यान है—कहा जाता है कि इसकी रचना दिव्य वानर हनुमान ने की; इन्होंने समुद्र के तट पर चट्टानों के ऊपर इसको लिखा, जिससे वाल्मीकि तक मे इर्ष्या जागृत होगई। रामचरितमानस की संस्कृत भूमिका में, राम कथा के प्रस्तुतकर्ता के रूप में, वाल्मीकि के साथ साथ हनुमान की भी अर्चना भी कीगई है: यह बात इस नाटक के प्रति तुलसीदास की श्रद्धा की सूचक है। प्रसन्नराघव के रचयिता विदर्भनिवासी, नैयायिक जयदेव हैं, और गीत गोविन्द के लेखक बंगाल के जयदेव से भिन्न हैं। तुलसीदास ने बालकाण्ड के अन्तिम भाग में और सुन्दरकाण्ड में प्रसन्नराघव का प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया है। कीथ[3] के अनुसार इस नाटक का रचना काल लगभग १२०० ई० है।

रामचरितमानस की रचना करते समय तुलसीदास को अध्यात्म रामायण के अतिरिक्त, अन्य साम्प्रदायिक रामायणों[४] का बोध भी रहा होगा और सम्भव है कि उन्होंने इनका प्रयोग भी किया हो। इनमें से **योगवशिष्ठ**, **अद्‍भुत रामायण** और **भुशुण्डि रामायण** का प्राय: उल्लेख किया जाता है।

योगवशिष्ठ बृहत् दार्शनिक ग्रन्थ है: इसमें ६ प्रकरण और लगभग ३२००० श्लोक है; और राम कथा वर्णित नहीं केवल विश्वामित्र के साथ जाते समय राम को दिया गया वशिष्ठ मुनि का उपदेश प्रस्तुत किया गया है। उपदेश का सिद्धान्त एक प्रकार का अद्वैत है जो शंकर के अद्वैत और बौद्ध विज्ञानवाद से बहुत मिलता जुलता है;[५] इस सिद्धान्त की सोदाहरण व्याख्या भी कीगई है। भि.

---

[१] "**ल तेआत्र एंदिंए**," पेरिस १८९० पृ० २४३।

[२] तुलना कीजेए सु. कु. दे: "**दि प्रौबलम औफ दि महानाटक**," इ. हि. क्वा. VII. (१९३१)। एसटैलर द्वारा संशोधित संस्करण: "**दि एलटैस्टे रिसौन्सिमोन डैस महानाटकम्**", लाइपत्जिग, १९३६। सु. कु. दे ने वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा (दामोदर का संस्करण, ५७८ श्लोक) प्रकाशित ग्रन्थ का प्रयोग किया है।

[3] "**संस्कृत ड्रामा**," औक्सफोर्ड १९२४ पृ० २४४।

[४] वाल्मीकि रामायण के विषय में मराठी भाषा मे किसी "महाराष्ट्रीय" द्वारा लिखित एक ग्रन्थ के परिशिष्ट में (विना ब्यौरे वार) ९० संस्कृत रामायणों का विवरण दिया है।

[५] तुलना करो, दास गुप्त—"**हिस्ट्री औफ इन्डियन फिलौसौफी**", कैम्ब्रिज, १९३२—"**दि फिलौसौफी औफ योगवशिष्ठ**" शीर्षक १२ वां अध्याय।

ला. आत्रेय[1] इस ग्रन्थ को शंकराचार्य से पूर्ववर्ती, और कालिदास और भर्तृहरि के मध्य काल में लिखा मानते हैं। सम्पूर्ण मध्ययुग में इस महान् ग्रन्थ का अत्यधिक प्रभाव रहा है। भारतीतीर्थ और माधव (लग भग १३५० ई०) द्वारा १५ अध्यायों में रचित '**पञ्चदशी**' नामक वेदान्त की व्याख्या में इसका विशेष उल्लेख है। लग भग १६०० ई० में[2] तमिल में इस ग्रन्थ के श्लोकबद्ध रूपान्तर की रचना हुई।

अद्‍भुत रामायण अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है। ग्रियर्सन[3] ने इसका अध्ययन किया है। इसको वाल्मीकि की रामायण का ८ वां काण्ड बताया जाता है क्योंकि यह अभी तक मानवों से छुपा रहा। इसमें भी राम भक्ति का उपदेश है और कहीं कहीं शाक्त सिद्धान्त मिश्रित हैं—कुछ अन्तिम सर्ग देवी माहात्म्य[4] की नकल पर हैं और इस ग्रन्थ में सीता को देवी की उपाधियां दी गई हैं। अद्भुत रामायण में राम और सीता की उत्पत्ति और उनके अवतारों के कारणों को विस्तार से दिया है। इसमें कई ऐसे शैव आख्यानों का समावेश है जिनमें नारद का स्थान महत्वपूर्ण है।

व्याख्याकारों ने **भुशुण्डि रामायण** को मानस का एक आधार बताया है और प्रबोध चन्द्र बागची ने तो इसे अध्यात्म रामायण तक का आधार माना है। ग्रियर्सन[5] का कथन है कि उन्होंने न तो इसे देखा और न ही यह जाना कि इस प्रकार का कोई ग्रन्थ है भी या नहीं। स्वसम्पादित रामचरितमानस की भूमिका में, राम नरेश त्रिपाठी ने (बिना सन्दर्भ दिए) भुशुण्डि रामायण का एक पद्य उद्धृत किया हैं और मानस के एक पद्य से उसका सम्बन्ध जोड़ा है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है पर इसकी सत्ता स्वीकरणीय है। "रामचरितमानस की सबसे प्राचीन प्रति" (अर्थात् श्रवणकुञ्ज की हस्त लिपि) शीर्षक निबन्ध में माता प्रसाद गुप्त ने यह निर्देश किया है कि उसी मन्दिर में "**आदिरामायण**" नामक एक संस्कृत ग्रन्थ की हस्त लिपि भी विद्यमान है: ब्रह्मा और भुशुण्डि का संवाद इसका विषय है। बहुत सम्भव है कि यही **भुशुण्डि रामायण** है। दुर्भाग्य यह है कि यह हस्तलिपि एक महन्त के अधीन है जिसके कारण उसकी समीक्षा सम्भव नहीं।

योगवशिष्ठ रामायण में (६-२४) भुशुण्ड नामक अत्यधिक दीर्घजीवी एक काक की चर्चा है और यह काक वशिष्ठ ऋषि को "प्राणों" के सिद्धान्त पर उपदेश करता है। परन्तु रामायण और पौराणिक परम्परा दोनों में इस नाम का पात्र अज्ञात है। तुलसीदास के समकालीन मराठी कवि **एकनाथ** ने इसका उल्लेख किया है। वे बहुत समय तक वाराणसी में रहे और इन्होंने भागवतपुराण के कुछ भागों का मराठी में अनुवाद किया और व्यख्या लिखी। "**एकनाथ भागवत**" नामक इस ग्रन्थ में, मराठी कवि ने इस संसार के अवास्तविक होने के विषय में कई तर्क उपस्थित किए हैं जिनमें से तीसरा निम्नवत् है: "प्रत्येक कल्प के अन्त होने पर, मार्कण्डेय और भुशुण्डि ने लाखों बार संसार को भस्मसात् होते देखा है।"[6] यह वृद्ध भुशुण्डि निश्चय ही योगवशिष्ठ का काक भुशुण्ड है। भक्तमाल में भगवान राम के ४२

---

[1] "**फिलौसौफी औफ योगवशिष्ठ,**" १९३६, अध्याय २।
[2] फ़र्कुहर: **आउट लाइन** ..... पृ० २९६।
[3] ब. स्कू. ओ. सृ. IV. १९२६—१९२८, पृ० ११—२७।
[4] शाक्तभावों से प्रेरित मार्कण्डेय पुराण का एक अंश।
[5] ज. रा. ए. सो., १९१२ पृ० ७९४।
[6] तुलनाकरो—ऐबट: **एकनाथ,** पूना १९३७, "**एकनाथ भागवत**" शीर्षक १२वां अध्याय।

प्रियभक्तों में पक्षिराज गरुड़ की गणना हुई है; इसको चतुर्थनिष्ठा (श्रवण) का भक्त बताया गया है क्योंकि उसने भुशुण्डि द्वारा वर्णित राम कथा को सुना।[1] परन्तु भक्तमाल का यह कथन स्वयं रामचरितमानस पर ही आश्रित हो सकता है। अन्त में यही कहना होगा कि काक भुशुण्डि एक रहस्यमय पात्र है और रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इसके विषय में जो कुछ कहा गया है उससे अधिक हमें कुछ भी ज्ञात नहीं।

मानस के आमुख में एक स्थान पर, जो, हम आगे देखेंगे, कि यह स्थल निश्चय ही बाद मे प्रक्षिप्त हुआ, राम कथा के प्रस्तुतकर्ताओं में भुशुण्डि की भी गणना हुई है: उसने यह कथा पक्षिराज गरुड़ को सुनाई।[2] पर वस्तुत: प्रस्तुतकर्ता के रूप में भुशुण्डिका आगमन, केवल अरण्यकाण्ड से, अर्थात् कविता के अन्तिम तिहाई भाग से होता है। अरण्यकाण्ड से लंकाकाण्ड तक शिव ही प्रस्तुत कर्ता रहते हैं और भुशुण्डि यत्र तत्र ही; उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि शिव से आगे बढ़ जाता है और रामकथा का प्रधान प्रस्तुत कर्ता बन जाता है। उत्तरकाण्ड के अधिक भाग में भुशुण्डि चरित का और राम भक्ति के विषय में उसके और गरुड़ के बीच हुए संवाद का वर्णन है; रामचरितमानस का यह अन्तिम भाग एक प्रकार का परिशिष्ट है जिसको बलात्कार शेष ग्रन्थ में जोड़ा गया—सामान्य शैली और गति तथा अभिव्यक्त भावों की दृष्टि से, यह भाग सम्पूर्ण ग्रन्थ के अननुकूल है। दूसरी ओर अरण्यकाण्ड से लेकर लंकाकाण्ड तक के कुछ सन्दर्भों में—जहाँ भुशुण्डि प्रस्तुत कर्ता के रूप में उपस्थित हुआ है—और इस अन्तिम भाग में कुछ साम्य है—कदाचित् वे किसी एक ही आधार पर आश्रित हैं और यह आधार भागवत पुराण से प्रभावित कोई साम्प्रदायिक रामायण ही होगी, सम्भवत: यह भुशुण्डि रामायण ही हो। भुशुण्डि रामायण के विषय का हमारा अज्ञान और भी अधिक दु:खद इसलिए है कि यदि इस ग्रन्थ की नकल ही हुई तो इस ज्ञानसे रामचरितमानस की रचना और उत्तरकाण्ड के स्वरूप की कई विशेषताओं को सन्तोषजनक प्रकार से समझा जा सकता है।

रामचरितमानस पर **भागवतपुराण** का प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा है यद्यपि इस प्रभाव को प्राय: इतना माना नहीं जाता। भागवत के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आदानों से यह व्यक्त है कि भागवत भी मानस के मूलाधारों में से है: रामचरितमानस की रचना पर इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का सुनिश्चित प्रभाव है क्योंकि मानस ने इसके भावप्रवाह का अनुकरण किया है।

इन प्रमुख आधारों के अतिरिक्त, तुलसीदास को कई अन्य ग्रन्थों से भी सामग्री प्राप्त हुई है कुछ भारतीय समीक्षकों ने इन अन्य आधारों की लम्बी लम्बी सूचियां[3] प्रस्तुत की हैं परन्तु उनके कथनों को प्राय: प्रमाणित नहीं किया जासकता। प्रस्तुत अध्ययन भी सर्वथा सम्पूर्ण होने का दावा नहीं करता: अमुक भाव अथवा वाक्य तुलसीदास ने किस पूर्ववर्ती ग्रन्थ से लिया, यह निश्चय करने का प्रयास

[1] तुलना करो "**ग्लीनिङ्गस् औन दि भक्तमाल**"—ज. रा. ए. सो. १९१० पृ० २६९ इत्यादि। ग्रियर्सन के अनुसार निष्ठा का अर्थ "स्थान" अथवा "पक्ष" (एटिट्यूड) है। भागवत की भाषा में यह शब्द संतविशेष की भक्ति को लक्षित करता है। वैष्णव संतों का वर्गीकरण "निष्ठा" के अनुसार किया जाता है और इससे ही उनमें भेद होता है।

[2] तुलना करो अध्याय १ पृ० १७।

[3] [illegible]

अव्यवहार्य और कुछ मात्रा में निरर्थक भी रहेगा। प्रस्तुत अनुसन्धान की दिशा दूसरी ही है— रामचरितमानस को, उसके उद्गम को, उसकी विलक्षणता को, उसके प्रयोजनों को और उसकी रचना की विशेषताओं को, पहिले से अधिक अच्छी प्रकार समझने में सहायता मिले, यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

यह जानना आवश्यक है कि तुलसीदास को प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई; परन्तु रामचरितमानस व उसके आधारों के तुलनात्मक अध्ययन का हमारे लिए सबसे अधिक महत्व इस लिए है कि उससे कवि की निजी प्रतिभा, और लेखक, विचारक और दार्शनिक के रूप में कवि की मौलिकता का ज्ञान हो। जिस प्रकार तुलसीदास ने कुछ तथ्यों अथवा सिद्धान्तों को स्वीकार किया, या उनको विस्तार दिया, या परिवर्तित अथवा तिरस्कृत किया, उससे हमें उनकी प्रतिभा की गम्भीर प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है। इन मूलाधारों के प्रभावक्षेत्र का ज्ञान भी कम महत्व का नहीं। तुलसीदास पर कभी एक, तो कभी दूसरा, प्रभाव पड़ा है और इस प्रकार के प्रभावभेद के फलस्वरूप कथावस्तु की शैली और गति में, और कभी कभी शब्दावली तथा अभिव्यक्ति के साधनभूत वाक्यों में भी; कुछ परिवर्तन व्यक्त होगए है। अधिकतर ये परिवर्तन मानस के आकार में,—विशेषकर कथा के प्रस्तुतकर्ता के द्योतक स्थलों में, जहाँ, कहीं तो कवि ही प्रस्तुत कर्ता है और कहीं पर कोई पुरातन पात्र,—और पद्य व्यवस्था में सुव्यक्त होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों से हमें कवि की रचना प्रणाळी ज्ञान होता है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि रामचरितमानस एक बार में ही नहीं लिखा गया परन्तु उसकी रचना कई चरणों में हुई। मानस का जितना भी अधिक अध्ययन किया जाय उसकी विषयता भी उतनी ही अधिक स्पष्ट हो जाती है, यद्यपि कवि ने पाठक को उसकी एकता का भाव देने और विषय भागों को एक सूत्रबद्ध करने में बहुत ही प्रवीणता दिखाई है। इसी कारण मानस के मूलाधारों की समस्या मानस की रचना की समस्या से संबन्धित है।

रामचरित मानस के मूलाधारों और उसकी रचना के अध्ययन का अनिवार्य लक्ष्य यह है कि 'तुलसीदास के धार्मिक और दार्शनिक विचार क्या थे' तथा 'तुलसी मत क्या था' जैसे विवादास्पद प्रश्नों का अध्ययन भी हो। वास्तव में तुलसीदास को, द्वैत, अद्वैत या विशिष्टाद्वैत जैसे परम्परागत किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का अनुयायी नहीं कहा जासकता क्योंकि मानस के विभिन्न स्थलों में उन्होंने (तर्क की दृष्टि से) परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक समीक्षक ने इस समस्या का समाधान प्राय: अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार किया है। यदि मानस के मूलाधारों का, विशेषकर अध्यात्म रामायण का अध्ययन न किया जाय, और यह न माना जाय कि कवि ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त,—यदि उसके कोई नीजी विचार थे,—पात्रविशेषों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किए, तो मानस के दार्शनिक अर्थ को समझना एक विकट समस्या होजाएगी। जैसा कि माता प्रसाद गुप्त ने कहा है, यह जानना प्राय: कठिन होता है कि कवि ने कौन से भाव जान भूझ कर और कौन से अनजान में अन्य ग्रन्थों से लिए हैं।[1] कुछ सन्दर्भों को उनके मूलाधार से दूर कर, स्वतंत्रता से लेकर, मानस के दार्शनिक अर्थ की आधार शिला बनाना असंभव है: पर अधिकतर भारतीय समीक्षकों ने ऐसा ही किया है और कोई अचरज नहीं कि वे परस्पर-विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचे। दार्शनिक अर्थ

[1] "गोस्वामी तुलसीदास" पृ० ३८०।

समझने के लिए कृति के समस्त स्वरूप का और कई वर्षों में संपन्न उसकी रचना का भी ध्यान करना होगा। जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रदर्शित किया जाएगा, मानस के, अयोध्या में रचित प्राचीनतम भाग में, आकार और भावों की ऐसी विशेषताएँ हैं जो वाराणसी में रचित अपेक्षाकृत परवर्ती भाग में देखने में नहीं आहीं: अत एव यह अनुमान करना उचित ही है कि कालान्तर में कवि के भावों का विकास हुआ।

रामचरित मानस के परस्पर विरोधी स्थलों के समाधानार्थ यही कहा जासकता है कि कवि विविध भावों में समन्वय स्थापित करना चाहता था। आमुख[१] में इस इच्छा को कवि ने भली भांति व्यक्त किया है। रामानन्दी और भागवतो के अर्ध अमर्यादित प्रवाहों के बीच स्थित, तुलसीदास उन दोनों को ब्राह्मण धर्म और वेदान्ती परमतत्व की मर्यादा में समन्वित करने में सफल रहे हैं, और ऐसा करने में राम के एकमात्र देव होने की निजी श्रद्धा की बलि भी नहीं दी। भारतीय बुद्धि के लिए समन्वय वाद स्वाभाविक है और यही तुलसीदास की धार्मिक प्रतिभा का विशेषलक्षण है! साहित्यक कला के साथ साथ, यही लक्षण रामचरितमानस की अद्वितीय सफलता और समग्र हिन्दू जाति पर उसके प्रभाव का मूल कारण है।

तुलसीदास के निजी दार्शनिक विचारों की व अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक संप्रदायों से उनके संबन्ध की समस्या विशिष्ट अध्ययन का विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम इस विषय को नहीं लेंगे। हमारा विचार है कि रामचरितमानस के मूलाधारों व उसकी रचना का वैज्ञानिक अध्ययन एक प्रकार से मार्ग को परिमार्जित करसकेगा और इस समस्या से संबन्धित तथ्यों का प्रतिपादन कर सकेगा। हमारे विचार में यदि यह बताया जासके कि रामचरित मानस के रचयिता को प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, इस ग्रन्थ से उसका प्रयोजन क्या था और इस उद्देश्य में वह कितना सफल हुआ, तो हमारा कार्य पर्याप्त मात्रा में संपन्न हुआ समझा जासकता है।

---

[१] दे. अध्याय १—पृ० ५ इत्यादि।

अध्याय—१

रामचरितमानस का बालकाण्ड—आमुख

रामचरितमानस में बालकाण्ड का आकार बहुत ही बढ़ा चढ़ा है। इसमें ३६१ पद्य हैं (लगभग ३५०० अर्धालियां), अर्थात् सम्पूर्ण मानस का एक तिहाई भाग इसी काण्ड से बनता है।[1] इस का विस्तार तो विशेष है ही, पर इसमें रचना को जटिलता और विषय को विषमता भी विशिष्ट है—इसी कारण इस काण्ड को एक सम्पूर्ण इकाई मानना असम्भव है। स्पष्ट विश्लेषण के निमित्त हमने बालकाण्ड को निम्न भागों में विभाजित किया है—इनमें से प्रत्येक भाग का अध्ययन पृथक् अध्यायों में किया जाएगा—

१ — आमुख (पद्य १ से ४३ तक)
२ — शिवचरित (पद्य ४४ से १०४ तक)
३ — शिवपार्वती संवाद (पद्य १०५ स १२० तक)
४ — अवतार के कारण (पद्य १२१ से १८४ तक)
५ — राम का जन्म तथा बालपन (पद्य १८४ से २०५ तक)
६ — राम का यौवन तथा विवाह (पद्य २०६ से ३६१ तक)।

आमुख (१—४३)—

बालकाण्ड के प्रथम ४३ पद्यों में एक प्रकार को प्रस्तावना है और इस खण्ड में तुलसीदास ने मानस को अपनी ओर से प्रस्तुत किया है। ग्रियर्सन ने भी कहा है—"यह भाग सम्पूर्ण मानस के सबसे

---

[1] वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण में बालकाण्ड में ७७ सर्ग हैं, अर्थात् सम्पूर्ण ग्रन्थ का लगभग ८ वाँ भाग। अध्यात्मरामायण में बालकाण्ड में सात सर्ग हैं, अर्थात् सम्पूर्ण ग्रन्थ का लगभग नवां भाग।

अधिक विशिष्ट खण्डों में से है।"[1] ग्रन्थ के विषय में इस प्रस्तावना से अनेकों महत्वपूर्ण बातों का बोध होता है—जैसे, उसका रचनाकाल, उसके स्रोत, उसका प्रयोजन तथा दृष्टिकोण, लेखक के धार्मिकविचार, तथा अपनी कला के विषय में उसकी धारणा। इस खण्ड में लगभग ४५० अर्धालियां हैं और इसका अलग से ही फ्रांसीसी अनुवाद होना चाहिए। परन्तु हम इसका संक्षिप्त विवरण देकर ही संतोष करेंगे।

विवरण—

श्लोक १–५—संस्कृत में सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान और सीता की वन्दना।

६—परमदेव राम की वन्दना।

७—तुलसीदास की घोषणा कि "भाषा" में रचित होने पर भी काव्य नाना आगम सम्मत है।

सोरठा १–५—हिन्दी में पुनर्वन्दना और उसका विस्तार; गणेश, सरस्वती, विष्णु, शिव तथा गुरु की क्रमशः वन्दना।—

दोहा १–२—गुरु-प्रशंसा, गुरु के "पद पदुम पराग" की महिमा; रामचरित के बोध के निमित्त गुरुपदरज का महत्व।

२–४—(रामभक्त) संतों व ब्राह्मणों की वन्दना; सत्संग से आनन्द और कल्याण की प्राप्ति, और इस दृष्टि से उसकी प्रयागराज से तुलना।

४–७—"असजनों" की वन्दना; "साधु और असाधु", भला और बुरा, इन दोनों का संग्रह; राममय सकल जगत की वन्दना।—

८–१०—"कवि का छोटा भाग्य" और बड़ी अभिलाषा; उसका विश्वास कि यह ग्रन्थ सज्जनों केलिए सुखकर होगा और दुष्ट इस पर हंसेंगे। लेखक को न सब कलाओं का न सब विद्याओं का ज्ञान है पर राम-भक्ति से भूषित यह ग्रन्थ सज्जनों के आदर का भाजन होगा।

११–१४—आराध्य देव की प्रार्थना ही प्रेरणा का मूल है और विषय के कारण ही कविता का उपयोग है। निजी अवगुणों का वर्णन—रामभक्ति ही रचना का मूल कारण। पूर्ववर्ती महान् मुनियों से सहायता तथा उदारता की विनती।

१४, सोरठा १–४—वाल्मीकि मुनि की वन्दना, श्री रघुनाथ के निर्मल यशका वर्णन करनेवाले "वेदों" की वन्दना; भवसागर के सृजक ब्रह्मा के, तथा देवों, ब्राह्मणों व पण्डितों के चरणों को वन्दना।

१५–१८—सरस्वती (नदी) तथा सुरसरिता (गंगा) को वन्दना; रामभक्त शिव और पार्वती की पुनर्वन्दना; "तंत्रों" के रचयिता शिव की स्तुति। शिव के प्रसाद के

---

[1] मि. व. लि. हि. पृ. १८७।

फलस्वरूप तुलसीदास द्वारा रामचरित का वर्णन और उसकी शोभा। रामकथा से सम्बन्धित पात्रों तथा स्थानों की वन्दना—कौसल्या, दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान, अंगद तथा रावण को वन्दना; राम के भक्त, पशुओं, मनुष्यों व दानवों और सनत्कुमार, नारद तथा अन्य मुनियों की वन्दना; आपातत: पृथक् पर वस्तुत: अभिन्न, सीता व राम की वन्दना।

१९-२७—रामनाम की महिमा; उसके प्रभाव को प्रदर्शित करनेवाले आख्यानों का उल्लेख; परब्रह्म के नाम की महिमा तथा उसका कल्याणकारी फल; नाम, ब्रह्म के (निर्गुण व सगुण नामक) दोनों स्वरूपों से बड़ा है; नाम (सगुण) राम से भी बड़ा है। रामनाम मन को पवित्र करने वाला है; इसको प्रमाणित करने वाले अनेक आख्यान; कलियुग में नाम ही मोक्ष का एकमात्र साधन है व उसका विशेष महत्व।

२८-२९—कवि की राम में आस्था—वे कृपालु हैं, प्रभु भक्तों के हृदय की भलाई का ही स्मरण करते हैं।

३०-३१—रामकथा का उद्गम।

३१-३३—रामकथा की स्तुति, उसका पावन फल; शिवपार्वती के संवाद में रामकथा का प्रारम्भ। यह कथा "अलौकिक" है।

३४—अयोध्या में इस कथा की रचना की तिथि। शिव द्वारा दिए गए इस कथा के सुहावने तथा पवित्र "रामचरितमानस" नाम की व्याख्या।

३५-४३—कविता का वर्णन, मानसरोवर से उसकी तुलना; इस "मानस" की विशेषता के अभिव्यंजक कथानकों का विवरण।

मानसके आमुख की पद्यव्यवस्था विषम है—इसके पद्यों में १० और १८ के बीच अर्धालियां हैं; कुछ के अन्त में एक के स्थान पर दो दोहे हैं। १४ वाँ पद्य विशेष लम्बा है (उसमें २६ अर्धालियाँ हैं)। १९वें से २७वें पद्यों में रामनाम की महिमा कही गई है अतएव इनमें विषय की एकता है और छन्द की दृष्टि से भी ये पद्य नियन्ति हैं क्योंकि प्रत्येक पद्य में चार चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है।

वन्दना को छोड़कर, इस आमुख के दो मुख्य भाग हैं। पहिले भाग में (पद्य १ से २९ तक) कवि ने दिव्य तथा मर्त्य दोनों ही प्रकार के विभिन्न पात्रों का वन्दना को है ताकि वे कवि को रक्षा करें और कवि उनके साये में रह सके; तथा कवि ने अपनी कृति का प्रयोजन और अपनी दुर्बलता को बताया है। दूसरे भाग में (पद्य ३० से ४३ तक) कवि ने रामकथा का उद्गम बताया है, उसके शीर्षक को व्याख्या की है और उसके आध्यात्मिक परिणामों का विवरण दिया है।

वन्दना—

कविता के प्रारम्भिक श्लोकों में, मर्यादा के अनुसार, तुलसीदास ने सरस्वती, गणेश, भवानी (पार्वती) और शंकर को वन्दना की है। तत्पश्चात् शंकर का अवतार समझे जाने वाले "गुरु",

"कवीश्वर" अर्थात् संस्कृत रामायण के प्रणेता महाकवि वाल्मीकि, और फिर "कपीश्वर" अर्थात् प्रसिद्ध महानाटक या हनुमन्नाटक के प्रख्यात रचयिता हनुमान को वन्दना को है—इन दोनों ने "सीता व राम के गुणों के पवित्र वन में सुख से विचरण किया।" इसके उपरान्त, रामपत्नी सीता को वन्दना है—इन्होंने (विश्व का) "सृजन, पालन व संहार" किया। अन्त में, राम के नाम में भगवान हरि की वन्दना है। यही माया के स्वामो हैं और ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं सहित सकल विश्व उसके अधीन है।

सातवें व अंतिम श्लोक में कविता के स्रोतों का प्रत्यक्ष उल्लेख है—"अनेक पुराण, आगम निगम से सम्मत तथा रामायण में वर्णित और अन्यत्र से भी उपलब्ध राम की कथा को तुलसीदास अपने अन्त:करण के सुख केलिए अत्यन्त मनोहर भाषा में विस्तृत करता है"।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि तुलसीदास एक साहित्यिक पर सुबोध रामकथा की आवृत्ति करना चाहते हैं—और यह अपने किसी सिद्धान्त की व्याख्या के निमित्त नहीं अपितु स्वान्त:सुख के लिए। साथ ही वे अपनी निष्ठा को भी प्रगट करते हैं, उनकी कविता "श्रुति" पर आश्रित है—तुलसीदास के अनुसार श्रुति में एक ओर तंत्र (आगम) और दूसरी ओर पुराण सम्मिलित हैं। पुराणों को श्रुति के अन्तर्गत मानने से कवि का मत मध्यकालीन हिन्दू धर्म के अधिक समीप है क्योंकि उस समय की मान्यताएँ साम्प्रदायिक पुराणों पर आधारित हैं। जहाँ तक आगम शब्द का प्रश्न है—यहां उससे शाक्त साहित्य नहीं अपितु सम्पूर्ण तांत्रिक साहित्य ही अभिप्रेत है। रामचरितमानस में निगम और आगम शब्द निरन्तर एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। थोड़ा आगे चलकर (बालकाण्ड, ६, ५ में) इस युग्म का पुन: उल्लेख है। तुलसीदास की दृष्टि में पार्वती केलिये, शिव द्वारा वर्णित तंत्रों का विषय एक दूसरा वेद है।[2]

इसी प्रकार स्मृति या परम्परा के प्रतिनिधि कवियों तथा मुनियों के प्रति भी तुलसीदास ने अपना आभार प्रकट किया है। उनके अनुसार यह परम्परा "कवीश्वर" कहलानेवाले, वन्दनापात्र, वाल्मीकि ऋषि की प्रसिद्ध रामायण जितनी प्राचीन है। प्रसंग से व्यक्त हो जाता है कि यहाँ पर "रामायण" से किसी अन्य रामायण की ओर संकेत नहीं। तुलसीदास की दृष्टि में अध्यात्मरामायण एक श्रुतिग्रन्थ है—उसमें (सूत द्वारा वर्णित) पुराण और (शिव द्वारा पार्वती को वर्णित) तंत्र, दोनों के तत्व हैं। इसी प्रकार तुलसीदास द्वारा मान्य अन्य सभी साम्प्रदायिक रामायणों के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वे सभी श्रुति हैं, सब ही "रहस्यार्थ की प्रतिपादक" हैं।

अत: तुलसी अपने को वाल्मीकि परम्परा के ऋणी तो मानते ही हैं, साथ ही "अन्य ग्रन्थों" के प्रति भी वे अपना आभार प्रकट करते हैं। मानस के लेखक ने जिन अन्य ग्रन्थों का उपयोग किया है उनके विषय में उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। हमारे विचार में मानस में प्राय: उद्धृत, मनु तथा भर्तृहरि को रचनाओं और महानाटक जैसे रामभक्ति से प्रेरित कई नाटकों की इन "अन्य ग्रन्थों" में गणना करनी चाहिए।

[1] नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

[2] दे. पृ० १५।

इन सात श्लोकों के पश्चात् पांच सोरठे दिए गए हैं, और इन में वन्दना का विस्तार है— पहिले में विघ्ननाशक गणेश की और दूसरे और तीसरे में प्रभु (भगवान) का वन्दना है—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥

इन दोनों सोरठों में तुलसीदास भागवत भक्त के रूप में उपस्थित हुए हैं—यहाँ राम का नाम नहीं लिया गया पर राम को अप्रत्यक्षरूप से भगवान से अभिन्न और भागवतों के परमाराध्य देव विष्णु से अभिन्न माना गया है।

चौथे सोरठे में शिव को वन्दना है और पांचवें में गुरुकी—

बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोहतम पुंज जासु बचन रबिकरनिकर॥

"मैं उन गुरु महाराज के चरण कमल की वन्दना करता हूं जो कृपा के समुद्र और नर रूप में श्री हरि ही हैं और जिनके वचन महामोह रूपी घने अन्धकार के नाश करने के लिए सूर्य-समूहों की किरणें हैं।"

(पण्डित विजयानन्द त्रिपाठी के संस्करण को छोड़कर) रामचरितमानस की मुख्य हस्तलिपियों और उसके आधुनिक सभी संस्करणों के पहिले पाद में "हरि" पाठ है। मानस के इसी स्थल पर यह कथन सदा से आश्रित रहा है कि तुलसीदास के गुरु का नाम नरहरि था।[1]

परन्तु इस पाद में "हरि" पाठ अवश्य ही अशुद्ध है—इसके स्थान पर कुछ हस्तलिपियों में उपलब्ध पाठ "हर" अभीष्ट है (हर-निकर)। इसके अतिरिक्त चौथे सोरठे में शंकर की वन्दना है और तीसरे श्लोक में तुलसीदास ने गुरु को शंकररूप भी माना है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

अर्थात् "ज्ञानमय, नित्य, शंकर रूप गुरु की मैं वन्दना करता हूं"।

अन्त में, जैसा कि डा० मा० प्र० गुप्त ने भी निर्देश किया है, इस सोरठे के द्वितीय पाद (महा मोह इत्यादि) से विनयपत्रिका के कुछ स्थलों का स्मरण हो आता है और वहाँ पर शंकर को ही तुलसीदास के गुरु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2] निश्चय है कि तुलसीदास की दृष्टि में शिव ही दिव्य गुरु थे।

---

[1] ग्रियर्सनने (इं. एं २२. १८९३, पृ० २६६ पर) गुरुपरम्परा की दो सूचियां दी हैं परन्तु इन सूचियों के प्रामाणिक होने में सन्देह है। (दे० मा० प्र० गुप्त—तुलसीदास पृ० १३८ इत्यादि)।

[2] "तुलसी संदर्भ", पृ० १४७। डा० मा० प्र० गुप्त ने वि० प० ९-१०-१२-१३ का उल्लेख किया है।

परन्तु यह गुरु कौन हैं जिनको शंकर का स्वरूप माना गया है? आमुख के पद्य ३० दो० १ में तुलसी ने "निज गुरु" कहकर अपने गुरु का उल्लेख किया है परन्तु यहाँ पर और तीसरे श्लोकमें अधिकारबोधक विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ[१]—इन दोनों स्थलों पर निश्चय ही एक ही व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसका वर्णन एक ओर तो "नित्य", "बोधमय" कह कर हुआ है और दूसरी ओर "नर रूप हर" कह कर। अतः तुलसी के अपने गुरू का प्रश्न नहीं हो सकता पर यहाँ किसी ऐसे पात्र की ओर संकेत किया गया है जो थोड़ा बहुत पौराणिक, कुछ मानव, पर दिव्यत्व प्राप्त है, कदाचित् यहाँ अभिप्राय रामानन्द से हो। इन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय को चलाया और उस सम्प्रदाय के यही प्रथम गुरु थे।[२] जो भी हो मानस के इस स्थल से हमें तुलसीदास के गुरु के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता और इस पर आश्रित जो भी वादविवाद रहा है वह निष्फल है।

मानस का प्रथम पद्य सम्पूर्णतया इस अंतिम सोरठे की ही व्याख्या है, इसमें "गुरु पद रज" का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है और इस रज की तुलना उस सिद्धाञ्जन से की है जो विवेक के लोचनों को निर्मल कर देता है। इस शुद्धि के पश्चात् तुलसीदास रामचरित का वर्णन करने को तय्यार होते हैं (बरनउँ रामचरित)। वन्दना यहाँ समाप्त हो जाती है और एक नया विषय आरम्भ होता है—यह आमुख का प्रथम भाग है (पद्य २ से २९ तक)।

आमुख का प्रथम भाग (२–२९)—

मानस के आमुख के प्रथम भाग में, तुलसीदास ने, कालिदास के रघुवंश (प्रथम सर्ग) के समान, एक प्रकार से अपने पक्ष की वकालत की है। संस्कृत महाकवि ने सज्जनों से प्रत्यक्ष अपील की—

"सत् और असत् को जानने वाले सज्जन इस रघुवंश काव्य को सुनें, अग्नि परीक्षा से ही सोने के शुद्ध होने व उसमें अशुद्ध सम्मिश्रण का ज्ञान होता है।[3]

---

[१] इसीप्रकार निम्न लिखित अर्धालियों में भी—१, १; १, ३; २, १; और अयोध्याकाण्ड श्लो० ३ (तुलना करो अध्याय ७ पृ० १२८-१२९), तथा डा० मा० प्र० गुप्त के गोस्वामी तुलसीदास पृ० १४१ पर उद्धृत वि. प. १७३।

[२] कबीर के तथा नानक द्वारा प्रचारित सिख धर्म की एक विलक्षणता यह है कि वे भी गुरु को देवता मानते हैं। कबीर ने गुरु शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है—कभी तो उसका अर्थ "सत्पुरुष" और कभी स्वयं कबीर ही प्रतीत होता है, यह अन्तिम अर्थ तभी होता है जब कि देवता, कबीर में या कबीर के द्वारा व्यक्त हों। इसी प्रकार, नानक के गुरु भी भगवान हैं (दे० मैकोलिफ कृत दि सिख रिलीजन १, पृ० ५४)। कबीर और नानक के अनुसार "गुरु" कोई मानव नहीं है, वह दिव्य स्वरूप है।

[3] रघुवंश सर्ग १, श्लो० १०

तुलसीदास भी सन्तों की वन्दना व उनके गुणों का परिगणन करते हैं—इन संतों की संगति सर्वाधिक वांछनीय है और उससे ही नैतिक उत्कर्ष को पाया जाता है। पर हिन्दी के कवि "असाधुओं" को भी नहीं भूले—

> बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥
> पर हित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें॥[1]

दुष्टों के लक्षण बताने के पश्चात्, तुलसीदास ने भला या बुरा परस्पर पूरक है इस पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं—

> भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए॥[2]

इसके अतिरिक्त इन दोनों की सीमा सुस्पष्ट नहीं है—विधि के वश में होकर कभी २ भले लोग भी बुरे काम कर बैठते हैं और दुष्ट लोग अच्छे काम कर देते हैं। भला व बुरा, गुण और दोष यह सब परिस्थिति और प्रसंग का परिणाम है। इनकी परिभाषा नहीं की जा सकती। वे एक दूसरे के पूरक हैं अतएव पवित्र-आत्मा तुलसी सभी जीव जन्तुओं की वन्दना करते हैं—

> जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
> बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
> देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
> बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥[3]

ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यहाँ पर तुलसीदास ने अपने किसी प्रकार के विरोधियों को ओर संकेत किया हो। पर सम्भव है कि जिन "दुष्टों" के बुरे कामों का उल्लेख तुलसी ने किया है—"जो बिना ही प्रयोजन के अपना हित करने वाले के प्रतिकूल आचरण करते हैं"—उन जैसे कुछ लोग तुलसी के विरोधी रहे हों। इन दुष्टों के वर्णन में, उन्हें सबसे पहिले अपवित्र, सदाचार का उल्लंघन करने वाला, विषयी और "हरि व हर का शत्रु" बताया गया है। इस प्रकार के अपवित्र व्यक्ति निस्सन्देह ही तुलसी जैसे भक्त के विरोधी हैं, परन्तु कुछ लोगों की शत्रुता ईर्ष्या से प्रेरित हो सकती है। कम से कम कवि का अभिप्राय यही प्रतीत होता है—

> हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषनधारी॥
> निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
> जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥[4]

---

[1] रा. च. मा. १, ४, १।
[2] वही, १, ६, २।
[3] वही, १, ७, दो० ३ व ४।
[4] वही, १, ८, ५-६।

दूसरी ओर, तुलसी ने अव्याजरूपसे अपने अवगुणों को स्वीकार किया है और इसका कारण बताते हुए ऐसी विनम्रता प्रकट की है कि वह बनावटी बिल्कुल प्रतीत नहीं होती। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कालिदास की विनम्रता, एक लेखक की मर्यादित विनम्रता है; परन्तु तुलसीदास की विनम्रता हार्दिक प्रतीत होती है।

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं ॥
करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥
मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी ॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई ॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥[1]

मानस के लेखक ने अपनी बुद्धि की सीमित शक्ति और विषय की अथाह ऊँचाई के भेद का सजग अनुभव किया है। उसके अनुसार यह विषय ही तो उसकी कविता का "सम्पूर्ण प्राण है"—वह राम की स्तुति गाता है क्योंकि उसका विश्वास है कि इस पावन नाम के गान से सज्जनों की आत्मा को सुख पहुंचेगा; यदि अन्य व्यक्ति इस पर हंसें तो तुलसीदास क्या करें—

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ॥
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥
कबि न होउँ नहीं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें ॥[2]
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक ॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥[3]

---

[1] वही १, ८, २-५।

[2] "सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें"—वाचिकार्थ—"मैं सत्य कहता हूँ और मैं कोरा कागज लिखे देता हूँ।" व्याख्याकारों ने इसका सुस्पष्ट अर्थ नहीं किया। डा० वासुदेव शरण अग्रवालके अनुसार यह मुहावरा कानूनी भाषा से लिया गया है—"एक कोरे कागज पर हस्ताक्षर करने" का अर्थ है कि विपक्ष की बुरी या अच्छी सभी बातों को पहिले से स्वीकार कर लिया जाय। यहाँ पर तुलसी कविता के विषय में की गई सारी निन्दा को पहिले से ही स्वीकार करने को तत्पर हैं।

[3] रा. च. मा. १, ९, ३-१०; १०, १।

उपर्युक्त स्थल में काव्यात्मक प्रतिभा के विषय में बहुत कुछ कहा गया है अर्थात् कवि की प्रेरणा का मूल भक्ति है, और इस प्रतिभा को भगवान की स्तुति में समर्पित करके ही कवि सफलता प्राप्त कर सकता है नहीं तो वह विलुप्त हो जाएगी।

तुलसी ने कुटिलयुग में यह रचना की—इस युग में मानव "देखने में तो हंस पर अन्दर से कौवे" हैं। सच्ची भक्ति वास्तव में दुर्लभ है—धोखाधड़ी ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है; स्वयं तुलसीदास भी इस सामान्य निन्दा से दूर नहीं—

> **तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥**
> **जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥**
> **ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥**
> **समुझि बिबिधि बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥**
> **एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका॥**
> **कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥**[1]

यहाँ पर मर्यादित विनम्रता के स्थान पर एक और ही बात है। तुलसीदास की हार्दिक भक्ति को और भगवान की अलौकिकता के विषय में उनके जाग्रत अनुभव की सहायता से आमुख की यह अत्यधिक विनम्रता समझ में आ सकती है। परन्तु इसमें एक ऐसे लेखक की आत्मपरीक्षा को समझने का भी प्रयत्न करना चाहिए जिसकी ख्याति अभी सुचारु रूप से नहीं जमी और जो लोकवाद का सामना करने को तय्यार हो रहा है। अनुभव होता है मानो तुलसीदास के चारों ओर ऐसे विरोधी एकत्र हों जो उनका तिरस्कार करने को कटिबद्ध हैं—जैसे रूढ़िप्रेमी ब्राह्मण; "भाषा" को तुच्छ समझने वाले विद्वान; "धर्म" अर्थात् "भक्ति" के विरोधी; और वे लोग जिनके लिए रामचरित का कोई आकर्षण नहीं; तथा संस्कृत साहित्य शास्त्र के जटिल नियमों के प्रेमी, समीक्षक और लेखक, (तुलसीदास ने इन के नियमों की अनभिज्ञता स्वीकार की है); और अन्त में, तुकबन्दियां करने वाले वे सब लोग जो सच्चे कवि का उपहास करते हैं। तुलसीदास ने हर प्रकार से सब का सामना किया—कुछ को विश्वास दिलाया, तो कुछ की कृपा की अभ्यर्थना की। पर सर्वोच्च बात यह है कि अपने ऊपर यह कार्यभार लेने की उपयोगिता को आन्तरिक विनम्रता से पर गौरवपूर्ण वाणी से समझाया और उन क्रूर तथा कुटिल व्यक्तियों पर व्यंग्य तक कसे जो "दूसरों के दोषों को ही भूषण रूप से धारण करते हैं।"

उपर्युक्त कथन के विशिष्ट स्थलों में से एक वह है जहाँ तुलसीदासने कहा है—[2] "मैं कवि नहीं हूँ" (कवि न होउँ), "न ही चतुर कहलाता हूँ" (नहिं चतुर कहावउँ), और मैं काव्य के सिद्धान्त तथा

---

[1] वही १, १२, ४-९।

[2] पार्वती मंगल के आरम्भ में भी इसी प्रकार का कथन मिलता है —

> "कबितारीति नहीं जानउँ कवि न कहावउँ।
> शंकर चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ॥"

"मैं काव्य के नियमों से अनभिज्ञ हूँ, लोग मुझे कवि भी नहीं कहते, पर मैं अपने हृदय को शिवचरित की सुन्दर सरित में नहलाना चाहता हूं।"

उसके नियमों से अनभिज्ञ हूं।" यह कम सम्भव है कि तुलसीदास वास्तव में इतने अनभिज्ञ रहे हों। इन नियमों की ओर जो सूक्ष्म संकेत किया गया है उससे ही यह कथन विपरीत सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह अनभिज्ञता मानस के कुछ ऐसे खण्डों से भी असत्य सिद्ध होजाती है जिनकी शैली में गवेषणा और उक्तिवैचित्र्य का अभाव नहीं है। तुलसीदास के कथन से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे मानस जैसी कविता को काव्य–शास्त्र के झमेलों से दूर रखना चाहते थे क्योंकि वह जनसामान्य के लिए है और उसका लक्ष्य बुद्धि को नहीं परन्तु राम के भक्तों के हृदय को सन्तुष्ट करना है। दूसरे शब्दों में कहना चहिए कि आमुख के इस खण्ड में, तुलसीदास यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस "काव्य" को लिखकर उन्होंने अपने महान् पूर्ववर्ती वाल्मीकि से स्पर्धा करनी नहीं चाही। "मैं कवि नहीं हूँ" कथन में 'कवि' शब्द को वे कदाचित् "(शास्त्र में) प्रवीण" के संकुचित अर्थ में लेते हैं। इस अर्थ में विशेषण पद कवि का "बुद्धिमान" अर्थ निहित है। इसके अतिरिक्त, जब कभी वे अपनी पद्यमय रचना की ओर संकेत करते हैं तो उसे "काव्य" नहीं कहते, सदा ही सामान्य तथा कुछ कम पांडित्यपूर्ण शब्द "कविता" का ही प्रयोग करते हैं। इस प्रकार बालकाण्डके १० वें पद्य के छन्द में तुलसीदास ने कहा है कि प्रभु रघुनाथ के सुन्दर यशके सम्पर्क से उनकी "क्रूर कविता रूपी नदी" पवित्र गंगा के तुल्य हो गई है।

इस प्रकार अपने विरोधियों के सम्मुख अपने कार्यभार को विशद विवेचना करने के पश्चात् तुलसीदास ने कहा है कि उनके पूर्ववर्तियों के कारण उनका कार्य सुकर होगया—

> मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई॥
>
> अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
> चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥
>
> एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहउँ रघुपति कथा सुहाई॥
> ब्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
> चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे॥[1]

वेद, महाभारत और पुराणों के कल्पित लेखक व्यास और वाल्मीकि ऐसे महान पूर्वज हैं जिन्होंने तुलसी जैसी कलियुगकी "छोटी चींटी" के लिए मार्ग खोल दिया। मानस के लेखक ने इन दोनों के बाद, अपने निकट पूर्ववर्ती कलियुगके कवियों का उल्लेख किया है—

> कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
> जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने॥

---

[1] रा. च. मा. १, १३, [illegible], दोहा; १४, १-२

भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें । प्रनवउँ सबहि कपट सब त्यागें ।।
होहु प्रसन्न देहु बरदानू । साधु समाज भनिति सनमानू ।।[1]

भाषा में हरिचरित का वर्णन करनेवाले ये "प्राकृत" अर्थात् केवल मानवीय कवि तुलसी के समकालीन या निकट के पूर्ववर्ती हैं । यहाँ पर संकेत इतना अपर्याप्त है कि अभिप्रेत कवियों के विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता ; न हमें यही बताया गया है कि उन्होंने किस बोली में रचना की न यही कि संकेत क्या केवल रामभक्त कवियों की ही ओर है । हरि, विष्णु का दूसरा नाम है और हरि के गुणों का गान करनेवालों में कृष्णभक्त कवियों की गणना करनी चाहिए—इनमें सर्वाधिक ख्यात, तुलसीदास के समकालीन सूरदास हैं । यहाँ इन प्राकृत कवियों का संकेत करने से तुलसीदास का अभिप्राय यह रहा होगा कि वे किसी को भो भूलना नहीं चाहते । परन्तु तुलसीदास इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करते केवल अपना आदरभाव और स्नेह प्रकट करना चाहते हैं । उनकी एकमात्र मनोकामना यह है कि इन कवियों में उनकी भो गणना हो, जिससे दोषपूर्ण होने पर भो उनको कविता साधु समाज में अर्थात् हरि-भक्तों में सम्मान पा सके—

करहु कृपा हरि जस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर ।।[2]

"प्राकृत" कवियों के प्रति यह अभ्यर्थना १४ वें पद्य के दूसरे दोहे में समाप्त हो जाती है पर यह पद्य बहुत ही अधिक लम्बा है—इसमें ६ चौपाइयां, ३ दोहे, ३ सोरठे और पुनः १ दोहा है, अर्थात् कुल मिलाकर २६ अर्धालियां हैं जब कि आमुख के दीर्घतम पद्य में १६ से अधिक अर्धालियाँ नहीं हैं ।

इस पद्य के तीसरे दोहे में भावों का क्रम भंग होगया है—एक बार फिर, तुलसीदास ने "रामचरित रूपी मानसरोवर के सुन्दर हंसों" से कवियों और ऋषियों की तुलना करके उन्हें सम्बोधित किया है—आपाततः यहाँ पर कविता के शीर्षक रामचरितमानस की ओर संकेत है। परन्तु अभी तक शीर्षक का प्रसंग नहीं आया क्योंकि उसको आगे चलकर आमुख के दूसरे भाग के ३४ वें पद्य में दिया व समझाया गया है ।[3]

चौदहवें पद्य के पहिले सोरठे में वाल्मीकि की पुनः वन्दना की गई है—

बंदउँ मुनि पद कंजु रामायन जेहिं निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित ।।

यहाँ पर वाल्मीकि की वन्दना अप्रत्याशित है—आरम्भिक वन्दना में ही वाल्मीकि और रामायण का उल्लेख हो चुका था ; उसके बाद १३ वें पद्य और १४ वें पद्य की पहिली चौपाई में हरि के

---

[1] रा. च. मा. १, १४, २-४ ;
[2] वही, १, १४, दो० २ ।
[3] दे० आगे पृ० २१ ।

गुण गान करने वाले मुनियों और महान कवियों में भी वाल्मीकि की गणना है ही। १४ वें पद्य की अन्य चौपाइयों में कलियुग के कवियों की वन्दना है, और यदि इन कवियों के पश्चात् वाल्मीकि का उल्लेख हुआ है तो कदाचित् इसीलिए कि रामायणविषयक एक आलंकारिक सोरठा बीच में डाला जा सके —क्योंकि यहाँ पर रामायण को एक ही समय में कोमल और 'सखर', तथा दोष रहित और 'दूषन सहित' बताया गया है। यहाँ पर तुलसीदास ने मौलिकता का परिचय दिया है और एक उच्च "कवि" के समान विरोध अलंकार का प्रयोग किया है; उनके पूर्वकथन इस प्रकार के वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोगों से झूठे सिद्ध हो जाते हैं। ये प्रयोग आमुख के सम्पूर्ण प्रथम भाग की साधारण और प्रत्यक्ष शैली के अनुरूप भी नहीं हैं।

चौदहवें पद्य के दूसरे सोरठे में "संसार समुद्र के पार होने के लिए "तरणी" रूप वेदों की स्तुति है। तीसरे में ब्रह्मा (विधि) को सम्बोधित किया है और उनकी वन्दना की है—इन्होंने भवसागर बनाया है जहाँ से एक ओर तो सन्तरूपी अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु निकले और दूसरी ओर दुष्ट मनुष्यरूपी विष और मदिरा उत्पन्न हुए। विधिरूप ब्रह्मा का आरम्भिक वन्दना में कोई उल्लेख नहीं परन्तु छठे पद्य में उनको जड़ व चेतन विश्व का, गुणी व दोषी जनों का स्रष्टा कहा है—१४ वें पद्य के तीसरे सोरठे में कदाचित् इसी विधिरूपी ब्रह्मा की ओर संकेत है पर आश्चर्य की बात है कि यदि कवि ब्रह्मा की स्तुति करना चाहता था तो वह इतनी देर तक क्यों रुका रहा। हो सकता है कि यहाँ पर वह अपनी भूल को सुधारना चाहता था। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि इतनी देर में की हुई ब्रह्मा की प्रशंसा के द्वारा उसने भव सागर और प्रसिद्ध आख्यान समुद्र-मन्थन की तुलना करके पद्य को एक नवीन अलंकार से भूषित करना चाहा है। १४वें पद्य के अन्तिम दोहे में न तो शब्दालंकार है न कोई विचित्र उपमा; उसमें आठ चरण पहिले आई हुई, ऊपर के दूसरे दोहे की प्रार्थना की पुनरावृत्ति है।

अतः चौदहवें पद्य को लम्बा बनाने वाले इन दस चरणों (तीसरा दोहा, ३ सोरठे और अन्तिम दोहे) का और इससे पूर्ववर्ती विषय का सम्बन्ध सुस्पष्ट नहीं है। उपरिनिर्दिष्ट विश्लेषण हमारे इस अनुमान का समर्थक है कि यह स्थल बाद में, सम्भवतः आमुख के दूसरे भाग के साथ, एक ही समय में, जोड़ा गया।

आमुख का प्रथम भाग मुख्यतया क्षमाप्रार्थना के रूप में है पर इसमें धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति का अभाव नहीं। कवि के धार्मिक विचार छोटे २ विषयांतरों में, मानो स्वाभाविकतया और बहुत ही वैयक्तिक रूप में, प्रस्तुत हुए हैं—

समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥
सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥
सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू ॥
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू ॥[1]

इसप्रकार का सबल देवतावाद निश्चय ही भक्ति में लीन सेवक का हो सकता है—भागवतों के समान, तुलसीदास भक्तों के हितकारी, शरीरधारी, अलौकिक, एक साकार देव के उपासक हैं। उनके देव का सर्वोच्च लक्षण उनकी कृपा है—तुलसी ने इन देव को राम का नाम दिया है, और उन्हें दशरथ के पुत्र राम से अभिन्न माना है। विचित्रता यह है कि इस स्थल में तुलसीदास ने वेदान्त और भागवतों की भाषा के साथ २ अरबी और फ़ारसी के शब्दों का सम्मिश्रण किया है।

रामचरितमानस में "गरीब" "नेवाजू" "साहिब" शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है—ऐसे शब्दों का प्रयोग सम्पूर्ण ग्रन्थ में अधिक नहीं बल्कि या तो आमुख के इस भाग में या अयोध्या-काण्ड में हुआ है।[2] निश्चय ही ये प्रयोग सबोध हैं और इससे लेखक की समन्वयात्मक और रामभक्ति को सार्वभौम बनाने की प्रवृत्ति विलक्षित होती है।

मनुष्य-रूप में अवतरित, साकार देव राम की, वेदान्त के ब्रह्म-आत्म से एकता की दार्शनिक व धार्मिक समस्याओं का आमुख में प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन नहीं हुआ। फिर भी इस स्थल में सगुण और निर्गुण ब्रह्म के अनुयायियों के बीच हुए वादविवाद की ध्वनि मिल सकती है—राम के नाम को परब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से भी उच्च मानकर, तुलसीदास ने इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है यद्यपि इस स्थल का प्रधान उद्देश्य संदेहों को दूर करना और आपत्तियों का समाधान करना है।

(दस, दस अर्धालियों के) नियमित आठ पद्यों में (१९ वें से २७ वें पद्य तक) राम के नाम का गुणगान हुआ है। सर्वप्रथम तो इसको "महामंत्र" बताया गया है, फिर इस मंत्र के जापके फलस्वरूप जो चमत्कार हुए तुलसीदास ने उनका स्मरण कराया है और इस नाम के दोनों अक्षरों के गुण की महिमा गाई है—यह नाम "वेदों का प्राण" है। तत्पश्चात् कवि ने अपने विचारों के अनुसार वेदान्त के 'नाम रूप' सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है—उनका कथन है कि नाम की अपेक्षा रूप निकृष्ट है क्योंकि नाम द्वारा ही रूप को जाना जाता है न कि रूप के द्वारा नाम को। परन्तु कवि ने इस रहस्यमय पद्धति की व्याख्या नहीं की—

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥

---

[1] रा. च. मा. १, १२, ६ दोहा; १३, १-४।

[2] गरीब (अरबी) शब्द का आमुख के प्रथम भाग में तीन बार प्रयोग हुआ है (१, १३, ४; २५, १; २८, ३) और अन्यत्र नहीं। नेवाजू (फ़ारसी) का आमुख के प्रथम भाग में दो बार (१, १३, ४; २५, १) और अयोध्याकाण्ड में भी दो बार (२, २५०, ४; २९९, ३) प्रयोग हुआ है। साहिब (अरबी) का आमुख के प्रथम भाग में तीन बार और अयोध्याकाण्ड में कई बार प्रयोग हुआ है, अन्यत्र नहीं।

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर ।।[1]

राम का नाम ही योगी के प्रयत्नों को सफल करता है और नामरूपसे अतीत परब्रह्म से उसे मिला देता है। वही रहस्यों का बोध कराता है और सिद्धियों को शक्ति प्रदान करता है। नाम का जप करनेवाले ही प्रभुराम के इष्ट भक्त होते हैं। इस विचित्र आध्यात्मिक शक्ति के अतिरिक्त, रामनाम परस्परविरोधी दो सिद्धान्तों में मेल कराने वाला है—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ।।
प्रौढ़ि सुजन जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ।।
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ।।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी ।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ।।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ।।[2]

इसप्रकार के विचित्र विषयांतर से हमें ब्रह्म की दो-स्वरूप-विषयक समस्या पर कवि के विचारों का बोध होता है। कवि द्वारा प्रस्तावित इस समस्या का समाधान व्यक्तिगत प्रतीत होता है। उसने इन दोनों स्वरूपों के बीच बनी खाई के ऊपर राम-नाम का पुल बांधा, पर यह पुल नाजुक है। हम देखते हैं कि कवि ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़ी सावधानी से किया है, उसने इसे अपने व्यक्तिगत विचार कह कर प्रस्तुत किया है। तुलसीदास के अनुसार, नाम ही विश्व के जीव जन्तुओं और विशेषकर मानवता के लिए दिव्य सार है। इस कलियुग में मनुष्य, देव के नाम तक ही पहुंच पाते हैं, यही उनकी मुक्ति का एकमात्र साधन है और यही उनकी दृष्टि में मुख्य है। राम-नाम की महिमा को बताने वाली यह रामकथा आधुनिक युग में भी अवतारों में विश्वास को बनाए रखकर मानव की मुक्ति का सुकार्य बराबर करती है।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ।।
भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।[3]

---

[1] रा. च. मा. १, २१, ४ दोहा।
[2] वही १, २३, १ दोहा।
[3] "भव शब्द श्लिष्ट है—अ, सत्ता, संसार; आ, शिव का नाम।

दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन ॥
. . . . करहु बिचारु सुजन मन माहीं ॥[१]

स्पष्ट है कि यहाँ रामनाम का प्रताप बताया है। परन्तु इसके बाद के पदों से ज्ञात होता है कि यहाँ पर केवल दशरथ के पुत्र का ही प्रश्न नहीं है—२५ वे पद्य के दोहे में कहा गया है कि "नाम ब्रह्मा और राम दोनों से बढ़कर है।" इसके बाद आनेवाले पद्य में शिव, शुकदेव, सनत्कुमार और नारद जैसे ऋषियों व प्रह्लाद, ध्रुव और अजामिल जैसे भक्तों का उल्लेख है—इन सब ने नाम की शरण ली और मुक्ति पाई—

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥[२]

प्रत्येक युग में नाम ही मुक्ति का निश्चित साधन है पर कलियुग में तो यही एकमात्र आश्रय है—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥[3]

तुलसीदास के तर्क को संक्षेप में इस प्रकार से प्रस्तुत किया जासकता है—वेदों ने स्वीकार किया है कि ब्रह्मतत्व अज्ञेय और अगम्य है। जीवजन्तुओं की भक्ति के पात्र, देव के साकार अवतार के रूप में राम भो अगम्य हैं क्योंकि वे प्रत्येक त्रेतायुग में ही अवतार लेते हैं।[४] कलियुग में अर्थात् आधुनिक समय में जनसाधारण के लिए केवल उनका नाम या उनकी कथा ही प्राप्य हैं। रामकथा व रामनाम जनसामान्य की मुक्ति का एकमात्र उपाय है और इसीलिए रामकथा के पाठ अथवा श्रवण और रामनाम के जाप का महत्व मानना होगा। प्रमुखतया व्यवहार की दृष्टि से, यहां पर तुलसीदास के, और ब्रह्म की "शक्ति" के उपासक शाक्तों के, दृष्टिकोण में एक प्रकार की समानता है, शक्ति के उपासक शाक्तों का त्रिश्वास है कि ब्रह्म निराकार और निष्क्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं। इसीप्रकार, यदि तुलसी ने राम के नाम के प्रताप को निर्गुण ब्रह्म और स्वयं राम से भी बड़ा माना है तो इसलिए कि रामनाम कल्याणप्रद है। तुलसी केलिए रामनाम एक प्रकार से राम की "शक्ति" है।

---

[१] रा. च. मा. १, २४, दूसरा दोहा; २५, १-२।

[२] वही, १, २६, २-४।

[3] वही, १, २७, ४।

[४] सगुण रूप में प्रभु की उपासना अथवा पूजा ही "भक्ति" है। यहाँ कवि का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि भक्ति त्रेतायुग में ही सम्भव है, क्योंकि इस युग में ही राम अवतार लेते हैं। परन्तु नाम (अथवा कथा) राम के अवतार को कलियुग तक में चरितार्थ कर देता है।

यहाँ कुछ बातों को रेखांकित करने की आवश्यकता है। तुलसीदास के लिए उपनिषदों का ब्रह्म निर्गुण है और अवतार रूपमें ईश्वर सगुण है। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण राम निर्गुण हैं, पर मानवरूप में अवतार लेने के कारण वे सगुण हैं। भक्ति के पात्र, सगुण देव की भावना केवल दशरथ के पुत्र राम से ही सम्बन्धित नहीं—यह अन्य अवतारों से, जैसे विष्णु-हरि के अन्य अवतार कृष्ण से, भी सम्बन्धित है। संकुचित अर्थ में, राम से अभिप्राय, दशरथ के पुत्र और वाल्मीकिरामायण के नायक से है, पर व्यापक अर्थ में राम परब्रह्म का सगुण स्वरूप हैं अर्थात्, वे व्यक्तिगत "भगवान" हैं। ऐसा मानने से ही भागवतपुराण में भी वर्णित विष्णु और कृष्ण के भक्त, प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल, गज और गणिका के प्रसंगों को समझा जासकता है।[1] तुलसीने बताया है कि इन पात्रों ने हरि के दिव्य नाम के कारण मुक्ति प्राप्त की और हरि, राम और कृष्ण एक ही हैं। राम के नाम की महिमा के प्रसंग में सम्पूर्ण मानस का एक ऐसा दुष्प्राप्य सन्दर्भ है जिसमें कृष्ण की ओर संकेत हुआ है। तुलसीदास ने कहा है कि रामनाम के दोनों अक्षर "जिह्वा केलिए उतने ही मधुर हैं जितने यशोदा केलिए हरि (कृष्ण) और बलराम" (बालकाण्ड २०, ४)। परन्तु सम्पूर्ण आमुख में और अयोध्याकाण्ड में "हरि" से अभिप्राय प्रभुके सगुण स्वरूप से है, जो भक्तों से पूजित है और ब्रह्मा-विष्णु-महेश से भी ऊंचा है। अत: यदि हम हरि को व्यापक अर्थ में लें तो यह सर्वथा राम का पर्यायमात्र है। इस प्रकार की द्व्यर्थता का कारण स्पष्ट ही है—कृष्ण की कथा को रामधर्म की चर्चा में सम्मिलित कर अथवा अपनाकर लेखक इसे अधिक व्यापक बनाना चाहता है।

राम-नाम के फल की घोषणा करते हुए कवि ने एकबार फिर कहा है—

"राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे॥"[2]

"सब जानते हैं कि राम ने केवल सुग्रीव और विभीषण दो को ही अपनी शरण में लिया था परन्तु नाम ने अनेकों दीनों पर कृपा की।"

अरबी शब्द "ग़रीब" और फ़ारसी शब्द "निवाज़" का हिन्दुई प्रयोग स्पष्टतया जानबूझ कर किया गया है। "गरीब" या दीन लोग वे अपवित्र और "अनार्य" व्यक्ति हैं जो रामकथा में वानर और राक्षसों के रूप में उपस्थित हुए हैं। जैसे राम की दृष्टि ने वानर सुग्रीव और राक्षस विभीषण को पवित्र किया इसी प्रकार राम का नाम उन जैसे अन्य व्यक्तियों को पवित्र करने में समर्थ है, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को जिनकी गणना विधिवश द्विजों से बाहर होती है। ये दोनों विदेशी शब्द यहां पर विशेषतया अर्थगर्भित हैं। राम-नाम का धर्म सब के लिए है और मान्यता की स्वतंत्रता से अधिक पुष्ट होता है—यह स्वतंत्रता भक्ति पर केन्द्रित सब धर्मों में विलक्षण है।

---

[1] प्रह्लाद ७, ४-५-६; गज ८, २-३-४; ध्रुव ४, ८-९ तथा १२; अजामिल ६, १-२-३; पिङ्गला ११-८। मानस में उत्तर काण्ड के १३० वें पद्य के प्रथम छन्द में भी इन पात्रों का उल्लेख है—दे० अध्याय १३ पृ० ३००।

[2] रा. च. मा. १, २५, ०।

तुलसीदास ने शिव को जो अति आदरणीय स्थान दिया है उसका बोध भी आमुख से होता है। अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव का स्थान बहुत ही ऊँचा और निराला है—संस्कृत में निबद्ध वन्दना में कहा गया है कि शिव और पार्वती के बिना सज्जन, अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते। जिन गुरु की वन्दना की गई है वे भी तुलसीदास के अनुसार शिव का स्वरूप हैं—हर का हरि (विष्णु) से साहचर्य है और सभी सज्जन इन दोनों की वन्दना करते हैं। रामचरित से विमुख दुष्ट लोगों की तुलना उस राहु से की गई है जो "हरि और हर के प्रताप रूपी चन्द्रमा को ग्रस्त करता है।"

सम्पूर्ण ग्रन्थ में और आमुख में, शिव और पार्वती को राम का परम भक्त बतलाया गया है। ये दोनों भक्तिपूर्वक राम के नाम का जप करते हैं—यह नाम वह महामंत्र है जिसे काशी में शिव आसन्नमृत्यु जनों को सुनाते हैं जिससे उनकी मुक्ति निश्चित रहे। वास्तव में शिव ही इस मंत्र के निर्माता हैं, इन्होंने ही मूल रामायण के शतकोटि श्लोकों में से इस मंत्र को निकाला।

राम के भक्त होने के अतिरिक्त शिव ने आगम अथवा तन्त्र भी बताया, तुलसी ने आगमों को श्रुति का भाग माना है। आमुख में इन धार्मिक ग्रन्थों का उल्लेख है—

> **गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥**
> **सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥**
> **कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥**
> **अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥**[1]

अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास तान्त्रिक साहित्य से परिचित थे और इस साहित्य का प्रभाव मानते थे। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि रामचरितमानस की रचना के लिए उन्होंने इस साहित्य का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया अथवा तान्त्रिक धर्म पर नितान्त आश्रित वाममार्गी कहलाने वाले शाक्त सम्प्रदायों के प्रति उनकी सहानुभूति थी—वस्तुतः मानस के कुछ स्थलों में इन सम्प्रदायों के प्रति तुलसीदास ने अरुचि की भावना अभिव्यक्त की है।[2] फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रामचरित को शिव और पार्वती के संवाद के रूप में प्रस्तुत करने का भाव तुलसीदास ने तंत्रों से लिया।[3] परन्तु यह प्रणाली अध्यात्मरामायण तथा अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों ने पहिले ही अपना ली थी और सम्भव है कि तुलसीदास ने इसे इन ग्रन्थों से ग्रहण किया हो।

मानस के प्रमुख कथाभाग की बाह्य सीमा बांधनेवाले इस शिवपार्वती संवाद की चर्चा आमुख के प्रथम भाग में नहीं हुई है। तुलसी ने शिव के प्रताप की महिमा गाई है और उन्हें राम का "परम भक्त" बताया है; अपने लिए शिव की कृपा की प्रार्थना की है और रामकथा वर्णन करने के

---

[1] रा. च. मा. १, १५, २-३।

[2] वही, २, १६७, दोहा; १६८, ४; दे० तुलसीरामायण का फ्रांसिसी अनुवाद पृ० १४७ पादटिप्पणी २, तथा पृ० १४८ पादटिप्पणी १।

[3] दे० अध्याय ३, "शिव-पार्वती संवाद"।

अपने कार्य में सफल होने की वन्दना की है। परन्तु यह कहीं नहीं बताया कि शिव ही इस कथा के प्रणेता अथवा प्रथम प्रस्तुतकर्ता थे। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तुलसीदास स्वयं ही इस कथा के उत्तरदायी हैं और उन्होंने अपने को श्रुति तथा स्मृति पर आश्रित बताकर इस बात की पुष्टि ही की है।

कहा जासकता है कि यह संवाद एक सरल साहित्यिक युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है— शिव के विषय में कुछ कहा जाय या नहीं, पाठक को कोई भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि रामचरितमानस किसी अज्ञात लेखक की रचना नहीं। किंतु यदि शिवको मानस का काल्पनिक प्रस्तुतकर्ता ही माना जाय, तो भी आरम्भ से ही मानस में, उनके प्रस्तुतकर्ता होने के विषय में कुछ न कुछ तो कहा जाना चाहिए था— वस्तुत: आमुख के प्रथम भाग में शिव की चर्चा कई बार हुई, पर न तो उन्हें रामकथा का प्रणेता और न प्रचारक ही बताया गया है; इसके विपरीत, शिवपार्वती संवाद की चर्चा नहीं की गई व तुलसीदास ने स्वयं ही रामचरित वर्णन करने का उल्लेख किया है।

आमुख के प्रथम भाग में कविता के शीर्षक, रामचरितमानस की भी चर्चा नहीं है। १४ वें पद्यके तीसरे दोहे में, जो सम्भवत: बादमें जोड़ा गया है, कवि और पण्डितों की तुलना "रामचरित रूपी मानसरोवर के हंसों" से की गई है, परन्तु यह नहीं बताया गया कि रामचरितमानस कविता का नाम है; कविता का उल्लेख सामान्यतया "भनिति" (कथा; संस्कृत भणिति, गाथा), "चरित" (कार्य, आख्यान) शब्दों से किया गया है; आमुख के केवल दूसरे भाग के ३५ वें पद्य में ही इस कविता के विशिष्ट शीर्षक और उसके पौराणिक उद्गम का उल्लेख हुआ है।

आमुख का दूसरा भाग (३०-४३)—

आमुख के प्रथम भाग का विश्लेषण करने से हमें ज्ञात होता है कि लेखक ने कथा को आरम्भ करने की बात चार बार निम्नवत् की है—

१—संस्कृत की वन्दना में वर्तमानकालिक "आतनोति" (श्लोक ७) शब्द का,
२—"बरनउं रामचरित" (दूसरे पद्य पहिली चौपाई) में वर्तमान का,
३—"करिहउं रघुपति कथा" (१४ वें पद्य पहिली चौपाई) में भविष्यत् का, और,
४—"बरनउं रघुबर बिसद जसु" (२९ वें पद्य के तीसरे दोहे) में पुन: वर्तमान का प्रयोग किया है।

इस अन्तिम (चौथे) उद्धरण में वर्तमान को आसन्न भविष्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और इसका अर्थ "मैं रघुबर के निर्मल यश का वर्णन करने वाला हूँ" लगाना चाहिए।

अत: अपेक्षा यह रहती है कि अगले (३० वें) पद्य में कथा आरम्भ हो—पर वस्तुत: कथा बहुत आगे चलकर ४४ वें पद्य में आरम्भ होती है। २९ वें व ४४ वें पद्यों के बीच एक ऐसा लम्बा अंश है जिसका विषय इससे पहिले आने वाले संदर्भ से सम्बन्धित नहीं और ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पहिले आमुख से भिन्न कोई दूसरा ही आमुख प्रस्तुत किया गया हो।

तीसवें पद्य में ऋषि याज्ञवल्क्य और उनसे वार्तालाप करने वाले ऋषि भरद्वाज सहसा उपस्थित होते हैं—

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी॥[१]

उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ पर क्रियारूप में परिवर्तन होगया है—(आसन्न भविष्यत् अर्थक) वर्तमान का यहाँ प्रयोग नहीं है जैसा कि पहिली चौपाई में था। वरन् यहाँ पर भविष्यत् का ही प्रयोग है। वस्तुत: दोनों ऋषियों का संवाद ४४ वें पद्य से पहिले आरम्भ नहीं होता। इस बीच में तुलसी अपनी कथा के उद्गम का विशदीकरण करते हैं—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समसीला। सवँदरसी जानहिं हरि लीला॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥
औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥
मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।[२]

जिन व्यक्तियों का यहाँ उल्लेख हुआ है वे कथा के काल्पनिक प्रस्तुनकर्ता हैं; इनमें यथाक्रम शिव, भुशुण्डि और याज्ञवल्क्य का नाम आया है। साथ ही शिव को यहाँ कथा का लेखक भी कहा गया है (संभु कीन्ह यह चरित सुहावा)।

वास्तव में, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बालकाण्ड के अन्तिम भाग और सम्पूर्ण अयोध्या-काण्ड से बने मानस के एक बड़े भाग में इन धार्मिक प्रस्तुतकर्ताओं में से कोई भी उपस्थित नहीं होता—केवल तुलसीदास ही एकमात्र प्रस्तुतकर्ता हैं। इस भाग को छोड़कर मानस में अन्यत्र इन में से कभी कोई तो कभी कोई प्रस्तुतकर्ता के रूपमें आता रहता है।

उपरिलिखित उद्धरण से यदि हम यह निष्कर्ष निकालें कि कथा का प्रसार शिव-पार्वती, शिव-भुशुण्डि, भुशुण्डि-याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, इन चार संवादों द्वारा हुआ तो युक्ति-संगत होगा। परन्तु इन चार संवादों में से केवल प्रथम और अन्तिम संवाद ही मानस में उपलब्ध हैं। आमुख के इस स्थल के अतिरिक्त न कहीं पर यह कहा गया है और न संकेत ही हुआ है कि शिव ने इस कथा को भुशुण्डि को बताया या भुशुण्डि ने इसे याज्ञवल्क्य को बताया—शिव और भुशुण्डि

[१] रा. च. मा. १, ३०, १।
[२] वही, १, ३०, २, दोहा १।

अन्योन्याश्रित नहीं। अरण्यकाण्ड से लेकर लंकाकाण्ड तक शिव और भुशुण्डि बारी बारी कथा कहना आरम्भ करते हैं परन्तु ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता कि उनमें से कोई भी दूसरे के वचनों को दोहरा रहा हो; उत्तरकाण्ड के उत्तरार्द्ध में शिव भुशुण्डि का नाम लेकर उल्लेख करते हैं पर भुशुण्डि ने शिव का उल्लेख नहीं किया। अतः आमुख का यह स्थल सम्पूर्ण ग्रन्थ के तथा वास्तविक परिस्थिति के अननुरूप है।

तुलसी ने हमें स्वयं ही बताया है कि यह कथा उन्हें गुरु से सूकरखेत में प्राप्त हुई, परन्तु आरम्भ में तुलसीदास इसे समझ नहीं सके क्योंकि—"राम की गूढ़ कथा के वक्ता और श्रोता दोनों ज्ञान के निधि थे"[1] और वे स्वयं उस समय तक महामूढ़ जड़ जीव थे। अतः जो कथा तुलसी ने सूकरखेत में सुनी वह वाल्मीकि-कथा नहीं थी—उस रामायण के प्रणेता शिव और पार्वती थे। उसके प्रस्तुतकर्ता पौराणिक पात्र थे और उनका ध्येय गूढ़ अध्यात्म शिक्षा देना था। सम्भव है कि यह कविता संस्कृत में थी क्योंकि तुलसी ने उसके अनुवाद करने की बात कही है—

"भाषाबद्ध करबि मैं सोई . . . . ."।[2]

कथा के उद्गम का यह विवरण आमुख के प्रथम भाग के वर्णन के अनुकूल नहीं। वास्तव में यदि कथा के उद्गम की कथा यों ही है तो इसके लिए तुलसीदास कम उत्तरदायी हैं और उससे पहिले की सारी व्याख्यात्मक वार्ता अनुपयुक्त है।

तीसवें पद्य में रामकथा को अनन्त बताने से एक नया ही भाव प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि शिव की प्रभुता को स्वीकार किया गया है पर रामकथा के विभिन्न प्रस्तुतकर्ता परस्पर एक समान कहे गये हैं। कवि ने कहा है कि ऐसे कई अन्य ऋषि हैं जिन्होंने रामकथा को "बिधि नाना" से कहा है। तुलसीदास की रामकथा में और अन्य रामकथाओं में जो भी भेद हैं या रहें उन्हें परस्परविरोधी मानना आवश्यक नहीं—ये सभी कथाएं एक समान सत्य हैं क्योंकि उनके प्रस्तुतकर्ता हरिलीला को भलीभंति जानते हैं।

थोड़ा सा आगे चलकर तुलसीदास ने अपने श्रोताओं को एक महत्वपूर्ण चेतावनी दी है—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार॥

---

[1] रा. च. मा. १, ३०, दोहा २।
[2] वही, १, ३१ वें पद्य की पहिली चौपाई।

एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर पद पंकज धूरी॥
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहिं लाग न खोरी॥
सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम गुन गाथा॥[1]

रामावतारों की अनेकता व इसी कारण रामायणों की अनन्तता की बात रामसम्प्रदाय में भागवत धर्म से आई हुई प्रतीत होती है—भागवत पुराण के अनुसार त्रेतायुग के प्रत्येक कल्प में अपनी माया के द्वारा कृष्ण अवतार लेते हैं और मानव लीला करते हैं जो वास्तव में उनकी माया की लीला अथवा क्रीडा है।[2] योगवशिष्ठ, अध्यात्म, अद्भुत, आनन्द और सम्भवतः भुशुण्डि जैसी मध्ययुगीन अधिकतर रामायणों में रामकथा के अनन्त होने की धारणा एक समान है। अतएव अद्भुतरामायण वाल्मीकि रामायण के ८ वें काण्ड के रूप में प्रस्तुत हुई है। कहा जाता है कि वाल्मीकि ने दो रामायणों की रचना की—एक तो देवों के लिए थी और उसमें सौ करोड़ श्लोक थे, और दूसरी मानवों के लिए जिसमें केवल २४ हजार श्लोक थे। यह अन्तिम रामायण ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है; और अद्भुतरामायण को पहिली रामायण का एक खण्ड माना जाता है।[3]

इसीप्रकार अध्यात्मरामायण भी किसी बृहत् ग्रन्थ का संक्षिप्त खण्ड कहा जाता है। अध्यात्मरामायण के माहात्म्य में ब्रह्मा ने नारद से कहा—

"हे मुने! रामगीता का पूरा २ माहात्म्य शंकरके सिवा किसी अन्य को ज्ञात नहीं। उनसे आधा पार्वती को ज्ञात है और इनसे भी आधा मुझे ज्ञात है। उसे पूरा कहा भी नहीं जा सकता। अतः मैं उसमें से थोड़ा ही तुम्हें सुनाता हूँ।[4]"

रामकथाओं की अनन्तता का सम्बन्ध राम के अनन्त अवतारों से है। अध्यात्मरामायण में, राम के साथ वन में जाने के लिए आग्रह करते समय राम के सम्मुख सीता यह अकाट्य तर्क देती हैं—

"एक बात और कहती हूँ, उसे सुनकर आप मुझे वन को ले चलिए। बहुत से ब्राह्मणों ने बहुत सी रामायणें सुनी हैं। बताइए इनमें से किसी में भी क्या राम सीता के बिना वन को गए हैं?[5]"

इससे पता चलता है कि आमुख के इस दूसरे भाग में तुलसीदास ने भागवतपुराण और साम्प्रदायिक रामायणों का दृष्टिकोण अपनाया है। रामकथा और रामावतारों की अनन्तता के विषय में बालकाण्ड के प्रथम भाग में और उत्तरकाण्ड[6] में एक समान कथन हैं। परन्तु अवशिष्ट कविता में कहीं

---

[1] वही, १, ३३वाँ पद्य व ३४ वें की दूसरी चौपाई।

[2] भागवत पुराण १, १, १८; ८, १८, ११; दे०—लैंकारनास्यों दाप्रे ल भागवतपुराण, पेरिस, १८९१।

[3] ग्रियर्सन—'औन दि अद्भुत रामायण', बु. स्कू. ओ. स्ट. १९२६, ४, खण्ड १, पृ० ११-२७।

[4] अध्यात्मरामायण माहात्म्य—श्लोक ४६-४७।

[5] वही, सर्ग ४, श्लो०, ७७-७८।

[6] रा. च. मा. १, १०५ वें पद्यकी दूसरी चौपाई, १२०, सो० ३; उत्तरकाण्ड के ५२ वें पद्य की पहिली दो और ९१ वें पद्यकी पहिली दो चौपाई।

भी इस बात का उल्लेख नहीं है। केवल इन्हीं दो काण्डों में राम के चरितों को "लीला" का नाम दिय गया है और इन्हीं में साम्प्रदायिक रामायणों का प्रभाव भी विशेष द्रष्टव्य है।

इस प्रकार अपने श्रोताओं को विश्वास दिलाकर और उनके सन्देहों को दूर करने के पश्चात तुलसीदास ने बताया है कि इस कविता की रचना कहाँ और कब आरम्भ हुई—

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधु मासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥

"श्री हरि के चरणों पर सिर रखकर सम्वत् १६३१ में इस कथा का आरम्भ करता हूँ। चैत्र मास की नवमी तिथि मंगलवार को, अयोध्या मे यह चरित प्रकाशित हुआ। वेद कहते हैं कि जिस दिन राम का जन्म होता है उस दिन सारे तीर्थ वहाँ (अयोध्या में) चले आते है।[1]"

इस पावन दिवस, सभी देव और ऋषि अयोध्या में एकत्र होते हैं जिससे अयोध्या की पवित्रता अद्वितीय हो जाती है—

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥[2]

कविता के शीर्षक को समझाने के बाद तुलसी ने कहा है -

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥[3]

रामचरितमानस की रचना के सम्बन्ध में इस उद्धरण से जो सूचना मिलती है उससे अर्थ-विषयक एक समस्या भी उठ खड़ी होती है। वास्तव में यदि सभी व्याख्याकारों के समान यह मान लिया जाय कि ३४वें पद्य की चौथी और पाँचवीं अर्धालियों में एक ही तिथि की ओर संकेत है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि तुलसीदास ने अपनी कविता सम्वत् १६३१ (अर्थात् १५७४ ई०) में चैत्र मास के नवें दिन मंगलवार को आरम्भ की। परन्तु याकोबी और ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित ज्योतिष-सम्बन्धी गणित के अनुसार सम्वत् १६३१ के चैत्र मास का नवां दिन बुधवार था। ग्रियर्सन ने चान्द्र वर्ष और व्यावहारिक वर्ष के एक न होने से इस विरोध का समाधान करने की परिकल्पना की है।[4]

---

[1] वही १, ३४, २-३ (अर्धाली ४-६)।

[2] वही, १, ३५, ३।

[3] वही १, ३५, ७।

[4] ग्रियर्सन—नोट्स औन तुलसीदास, इं. एं. २२, ८९। वाराणसी में बुधवार ३१ मार्च १५७४ ई० को सूर्योदय के थोड़ी देर बाद नवमी तिथि समाप्त हुई, यह दिन सुदी नवमी था।

डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस कठिनाई का एक और ही समाधान प्रस्तुत किया है।[1] उनका कथन है—१-कि ३४ वें पद्य कि पहिली से चौथी अर्धालियों में क्रियाएं वर्तमान काल की हैं (बरनउँ, करउं); २-कि इसके विरुद्ध ३४ वें पद्य की पाँचवीं अर्धाली और ३५ वें पद्य की पहिली से छठी अर्धालियों में क्रियाएँ भूतकाल की हैं (प्रकासा, कीन्ह); और ३-कि ३५ वें पद्य की सातवीं से १३ वीं अर्धालियों में क्रियाएं पुनः वर्तमान काल की हैं (कहउँ)। इससे उन्होंने परिणाम निकाला है कि उपरिनिर्दिष्ट दूसरे सन्दर्भ-स्थल (३४, ५; ३५, १-६) राम नवमी के दिन नहीं लिखे गए—यदि ऐसा होता तो छटी अर्धाली में "जेहि दिन" के स्थान पर "आज" का कोई पर्याय होता; इसी तर्क के अनुसार यह सन्दर्भ-स्थल अयोध्या में भी नहीं लिखे गए क्योंकि समीपार्थक सांकेतिक अव्यय यहाँ के पर्याय के स्थान पर दूरार्थक सांकेतिक अव्यय "तहाँ" का प्रयोग हुआ है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए, इन्हीं समालोचक ने अनुमान किया है कि उपर्युक्त दूसरा सन्दर्भस्थल पहिले और तीसरे के साथ नहीं लिखा गया वरन् इनके बहुत दिनों बाद लिखा गया जब कि कवि अयोध्या में नहीं थे और कविता का बहुत कुछ भाग लिखा जा चुका था। अतः इस प्रकार का दिवस-भ्रम (बुधवार के स्थान पर भौमवार का उल्लेख) भूल के कारण हुआ बताया जासकता है क्योंकि समय अधिक बीत चुका था। संक्षेप में, डा० माता प्रसाद गुप्त की परिकल्पना यों है—तुलसीदास ने उपरिनिर्दिष्ट प्रथम तथा तृतीय सन्दर्भ-स्थलों को अयोध्या में सम्वत् १६३१ में रामनवमी के दिन लिखा और महीना, दिन और पुण्य तिथि या अपने स्थान को बताए बिना उन्होंने केवल अपनी रचना के वर्ष का उल्लेख कर दिया; कुछ समय के पश्चात् उन्होंने मास तथा स्थान का उल्लेख कर इस अभाव को दूर किया, पर दिनके विषय में उनसे भूल होगई।

यह परिकल्पना माननीय प्रतीत नहीं होती—पहिले तो इस प्रकार की भूल ही असंगत लगती है और फिर उपरिनिर्दिष्ट तीनों ही सन्दर्भस्थल एक साथ लिखे लगते हैं। ऐसा भी कोई प्रमाण नही है जिससे यह परिणाम निकाला जाय कि इनमें से किसी की भी रचना में फेरबदल हुआ। यदि ३४ वें पद्य की चौथी व पांचवीं अर्धालियों को सूक्ष्मतः देखा जाय तो पता चलेगा कि वे पृथक् चौपाइयों की अंग हैं और इसलिए उन दोनों को एक ही तिथि का द्योतक मानना अनिवार्य नहीं। क्योंकि उन दोनों ही अर्धालियों में क्रिया पृथक् पृथक् है और उसका प्रयोग भी भिन्न काल में हुआ है। (चौथी में, 'करउँ' और पांचवीं में 'प्रकासा')—सम्वत् १६३१ में जब कि आमुख का यह भाग लिखा गया और जब कि कवि ने रामचरितमानस नामक कृति को प्रस्तुत किया, तो वह सम्वत् रामचरित के लिखने का प्रारम्भिक काल होना आवश्यक नहीं। इसके विरुद्ध हमारा विचार है कि यहाँ पर दो भिन्न समयों का उल्लेख है—तुलसी ने आमुख का यह भाग सम्वत् १६३१ में लिखा, और साथ ही स्मृति के आधार पर वे उस स्थान (अयोध्या) और उस दिन (राम नवमी) का उल्लेख करते हैं जब उन्होंने

पर क्योंकि धार्मिक त्यौहारों का सम्बन्ध प्रायः तिथि (अर्थात् चान्द्र दिवस) से होता है, और व्यावहारिक दिवस से नहीं, यह अनुमान किया जासकता है कि तुलसीदास ने अपनी कविता नवमी तिथि में ही मगलवार को आरम्भ की। कदाचित् राम नवमी के अधिकतर उत्सव इसी दिन मनाए गये हों क्योंकि नवमी तिथि का अधिकतर भाग उसी दिन था।

[1] ज. रा. ए. सो. १९३५, ४, ७१७।

रामचरित को लिखना आरम्भ किया था। यदि उन्हें उस स्थान तथा सप्ताह के दिन, अर्थात् मंगलवार का ध्यान रहा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जहां तक कथा लिखना आरम्भ करने के वर्ष का प्रश्न है उन्होंने उसका उल्लेख नहीं किया क्योंकि आमुखके लिखने का और रामचरित आरम्भ करने का समय पृथक देना आवश्यक होता और वह अटपटा लगता। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तुलसी ने रामचरित अयोध्या में रामनवमी के दिन, पर सम्वत् १६३१ से पहिले लिखना आरम्भ किया; परन्तु सम्वत् १६३१ (१५७४ ई.) में उन्होंने रामचरितमानस की "आवृत्ति" का ही कार्य हाथ में लिया; "आवृत्ति" इसलिए कि इस रहस्यात्मक कथा के लेखक, तुलसीके अनुसार शिव हैं। इस समय तक कथा का कुछ भाग लिखा जा चुका था; समूचे ग्रन्थ में उसको केवल मिलाया गया था। परन्तु (आमुख के दूसरे भाग में) अपनी रचना को प्रस्तुत करते समय तुलसीदास ने यह बताना आवश्यक समझा कि किस शुभ स्थान व दिन में उन्होंने राम की यह कथा लिखनी आरम्भ की जो सम्वत् १६३१ में रामचरितमानस नामक कविता में परिणत हुई। यह तर्क इसलिए और भी अधिक संगत है कि कविता की विशेष रचना से इसकी पुष्टि होती है—ग्रन्थ का मूल भाग, जहाँ पर तुलसीदास ही एकमात्र प्रस्तुतकर्ता हैं, निश्चय रूप से, कविता के अवशिष्ट भाग और आमुख के इस दूसरे भाग से पहिले रचा जा चुका था।[1]

कविता की तिथि के साथ २ हमें उसके शीर्षक का भी परिचय दिया गया है—

> रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइअ बिश्रामा॥
> मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

तुलसीदास ने इस नाम की व्याख्या की है और उसके प्रभाव को भी बताया है—

> रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
> त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥
> रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
> तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥
> कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥[2]

यहाँ पर कविता को दिया हुआ शीर्षक, कथा के कथित लेखक शिव से सम्बन्धित प्रतीत होता है। यह शीर्षक मानस शब्द के श्लिष्टार्थ—आत्मा तथा दिव्य सरोवर मानसरोवर—पर आधारित है। अत: रामचरितमानस का अर्थ हुआ, रामचरित का सरोवर अथवा उसकी आत्मा। अरण्यकाण्ड[3] में मानस शब्द का श्लिष्टार्थ में दो स्थानों पर और उत्तरकाण्ड में अनेक बार प्रयोग हुआ है यद्यपि वहाँ पर कथा के शीर्षक का कोई प्रसंग नहीं है। इसी प्रकार बालकाण्ड के १४६ वें पद्य में मनु ने राम को

---

[1] दे० अध्याय ७ पृ० १७० इत्यादि।

[2] रा. च. मा. १, ३५, ५-७।

[3] राम को अरण्यकाण्ड में (८-१) "संकर मानस राजमराला" और ११, ४ में "हर हृदि मानस बाल मरालं" कहा गया है।

"भुसुंडि मन मानस हंसा" कह कर सम्बोधित किया है। वास्तव में हिन्दी रामायण में इस शीर्षक-सम्बन्धी संकेत बहुत कम हैं—आमुख के इस स्थल के अतिरिक्त अन्यत्र केवल दो बार इसका उल्लेख हुआ है—बालकाण्ड के १२० वें पद्य के एक अतिरिक्त सोरठे में, जहाँ भुशुण्डि को रामचरितमानस का प्रस्तुतकर्ता कहा गया है, और उत्तरकाण्ड के भुशुण्डिचरित में जहाँ लोमश ने भुशुण्डि को यह रामचरितमानस सुनाया। सम्भव है कि तुलसीदास ने यह शीर्षक उस ही स्रोत से लिया जिससे उन्हें उत्तरकाण्ड के भुशुण्डिचरित की प्रेरणा मिली। जो भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि यह शीर्षक भुशुण्डि के, रामकथा के प्रस्तुतकर्ता होने के अनुरूप है तथा अपनी कविता को यह नाम देने का विचार तुलसीदास को बहुत बाद में आया।[1]

रामचरितमानस के दिव्य उद्गम और उसके नाम की व्याख्या करने के बाद, कवि ने एक बार फिर, और इस बार वर्तमानकालिक क्रिया (कहउँ) द्वारा रामकथा कहने की घोषणा की है, जिससे शिव-पार्वती संवाद की आकांक्षा होती है। परन्तु वास्तव में यह संवाद बहुत ही बाद में, १०५ वें पद्य में प्रस्तुत होता है। एक नए विषय का आरम्भ कर तुलसी इस कविता के लिए रामचरितमानस नाम की संगति को बताते हैं। वास्तव में यहाँ व्याख्या कम और मानसरोवर-तुल्य ग्रन्थ के प्रतीकात्मक विवरण को अधिक महत्व मिला है। आमुख के प्रथम भाग की अपेक्षा यहाँ कवि के अधिक आत्मविश्वास का भी बोध होता है—

"संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी"॥[2]

अर्थात् "शिव की कृपा से तुलसी के हृदय में सुन्दर बुद्धि का विकास हुआ और वह रामचरितमानस का कवि बन गया।"

परन्तु इसका दूसरा अर्थ भी सम्भव है और कदाचित् वही अधिक संगत है—

"शंभु की कृपा से ...... और रामचरित मानस के कारण, तुलसी कवि हो गया।"

अवशिष्ट आमुख में—अर्थात् ८ पद्यों में—इस "मानसरोवर" का वर्णन है। इस सारे भाग में सारांश की सी विशदता नहीं है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने कविता के सौन्दर्य और इससे भी अधिक, उसके आध्यात्मिक फलों को रेखाङ्कित करने की दृष्टि से इसे बाद में लिखा—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥
सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥
मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

---

[1] दे० अध्याय १४ पृ० ३२३।
[2] रा. च. मा. १. ३६, १।

सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥ . . .[1]

कवि ने कोई भी बात नही छोड़ी—भक्तों की, साधुओं की और (राम के) नाम की स्तुति की तुलना जलचरों से की गई है। भक्ति के विभिन्न प्रकारों की तुलना उन वृक्षों से की है जिनके फूल, गुण और यम नियम हैं और जिनका फल ज्ञान है। यहां पर वर्णित कथाए और आख्यान ही "तोते और कोयल" आदि हैं। जो व्यक्ति इस कथा को सुनते हैं अथवा इसका पाठ करते हैं वे इस मानसरोवर के रखवाले हैं परन्तु दुष्ट और विषयी लोग उन बगुलों और कौवों के समान हैं जिनको इस सरोवर तक पहुचना भी नहीं मिलता।

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥[2]

इस रामकथा के प्रत्येक प्रसंग की तुलना इस मानसरोवर के किसी न किसी अंग से की गई है—

उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥
रघुबर जनम अनंद बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई॥
बालचरित चहु बंधु के बनज बिपुल बहुरंग।
नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारिबिहंग॥[3]

कविता के प्रमुख स्थलों की तुलना ६ ऋतुओं से की गई है—शिव और पार्वती का विवाह हेमन्त ऋतु है, रामजन्म का उत्सव शिशिर, रामविवाह का वर्णन वसन्त, उनका वनगमन दुःसह ग्रीष्म,

---

[1] रा. च. मा. १, ३६, २ दो०, तथा ३७, १-४।
[2] वही, १, ३९, ५-६।
[3] वही, १, ४०, ४।

राक्षसों से उनका घोर युद्ध वर्षा और उनके राज्य का सुख निर्मल शरद् ऋतु है। एक विचित्र बात यह है कि बीच में ही, कवि, आमुख के प्रथम भाग के समान, अपनी हीनता का उल्लेख फिर से करते हैं। उनके अनुसार उनकी विनय और दीनता इस सुन्दर और निर्मल जल का हल्कापन है।

उपसंहार में भूतकाल का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह वर्णन बाद में लिखा गया—

मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहि कह कबि कथा सुहाइ॥[१]

इस लम्बे खण्ड की कई बातों से आश्चर्य होता है। यहाँ रामचरितमानस को कथा कम और नीति काव्य अधिक बताया है। इस नीति काव्य में सुन्दर उपदेश और उत्तम कल्पना ही प्रधान हैं, वर्णनात्मक भागों, उपाख्यानों और विभिन्न कथाओं की तुलना "तोतों और कोयलों" से की गई है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मानस साम्प्रदायिक रामायणों के समान कोई शास्त्रीय ग्रन्थ हो। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ को देखते हुए यह बात ठीक नहीं उतरती और अगर ठीक है भी तो केवल कुछ भागों के लिए, विशेषकर उत्तर काण्ड के लिए, जिसका उत्तरार्द्ध साम्प्रदायिक रामायणों के आधार पर रचा गया है।

इस मानसरोवर के चार घाटों के समान बताए गये संवादों की ओर जो संकेत हुआ है वह स्पष्ट नहीं है। यहां अभिप्राय किन चार संवादों से है? निश्चय ही किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बीच हुए संवाद का निर्देश तो यहां अभिप्रेत नहीं, क्योंकि कविता में ऐसे अनेक संवाद हैं; यह भी सुव्यक्त नहीं कि बिना किसी व्याख्या के इन संवादों की उपमा रामकथारूपी मानसरोवर तक पहुंचानेवाले घाटों से क्यों दी गई है। मालूम होता है कि यहाँ पर कथा के प्रस्तुतकर्ताओं के बीच हुए संवादों से ही तात्पर्य है। सभी व्याख्याकारों ने "संवाद" शब्द का यही अर्थ लगाया है परन्तु उन सभी को इन संवादों के निर्धारण में कठिनाई हुई है; पहिले तीन अर्थात् शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, और भुशुण्डि-गरुड़ संवादों के विषय में मतैक्य है परन्तु चौथे संवाद के विषय में सबको संकोच है। यह भी अनुमान लगाया गया था कि यह चौथा संवाद राम और उनके भक्तों के बीच हुआ है अथवा यहाँ पर तुलसी और साधुओं के संवाद की ओर संकेत है।[२] परन्तु इन अनुमानों का कोई आधार नहीं।

यदि उत्तरकाण्ड की विशिष्ट रचना को ध्यान में रक्खा जाय तो हमारे विचार में यह समस्या समाधानायोग्य नहीं है। वस्तुतः मानस में दो शिवपार्वती संवाद हैं—एक बालकाण्ड में, दूसरा उत्तरकाण्ड में। जैसा कि आगे प्रदर्शित किया जाएगा, भुशुण्डि द्वारा कही रामकथा और शिव द्वारा कही रामकथा को एक करने की दृष्टि से तुलसी ने इन दोनों शिवपार्वती संवादों को एकमें मिलाने का प्रयास किया।[3] परन्तु वास्तव में, उत्तरकाण्ड में शिव का वही स्थान है जो याज्ञवल्क्य का बालकाण्ड में है। बालकाण्ड में शिव को रामकथा का सर्वप्रथम प्रस्तुतकर्ता कहा है पर उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि के समक्ष वे गौण हो जाते हैं। बालकाण्ड व उत्तरकाण्ड की रचना एक ही समान है, इनमें से प्रत्येक काण्ड

---

[१] वही, १, ४३, दो० १।
[२] रा. न. त्रिपाठी, पहिला भाग, पृ० २१७-१८।
[3] दे० अध्याय १३ पृ० २८७-२८८; ३०२ इत्यादि।

यहाँ धार्मिक सिद्धान्त अभी कुछ अस्थिर है; उसका प्रधान लक्षण प्रचुरमात्रा में समन्वय-वाद है, जो अधिकतर भागवत पुराण से प्रभावित पर उससे कुछ बढ़ा हुआ है और कुछ बातों में कबीर और कबीरपन्थियों के अधिक निकट है—गुरु की दिव्यता व नाम के जाप का महत्व, वस्तुतः इसी पन्थ के विलक्षण अंग हैं। यद्यपि कबीर ने अवतार के सिद्धान्त को नहीं माना तथापि उन्होंने भगवान को राम या हरि कहा है।

आमुख के पहिले व दूसरे भाग में, शैली, सामान्य गति और आकार की दृष्टि से भेद है और वास्तव में कहीं २ विरोध भी है। दूसरे भाग में "रामचरित मानस" की घोषणा है, यह कथा आरम्भमें शिव ने पार्वती को बताई और इसके विषय में कई पुरातन व्यक्तियों में संवाद भी हुए। कहा गया है कि तुलसीदास ने इन संवादों का ही सहारा लिया है। इस "मानसरोवर" में भिन्न प्रकार के कथानक हैं जो सभी एक समान सच्चे हैं और सभी शम्भु के ओठों से निकली सनातन रामायण का भाग हैं। वास्तव में राम अनन्त हैं और राम की कथा अपार है। भागवत पुराण में जैसे कृष्ण की लीला वैसे ही यहाँ, राम का मानवीय चरित्र उनकी माया की "लीला" है।

मानस के आमुख के दूसरे भाग का अर्थ लगाना कठिन है। सम्पूर्ण ग्रन्थके, विशेषकर उत्तरकाण्ड के साथ पढ़कर ही इसका अर्थ स्पष्ट होता है क्योंकि यह भाग उत्तरकाण्ड के बाद लिखा गया प्रतीता होता है। जैसा कि हम प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे यह वास्तव में सम्पूर्ण ग्रन्थ के विभिन्न भागों के विरोधों का परिहार करने का कवि का चरम प्रयास है ताकि ग्रन्थ सामञ्जस्यपूर्ण दिखाई दे।

अध्याय—२

रामचरितमानस का बालकाण्ड—शिवचरित

(पद्य ४४ से २०४ तक)

भूमिका—

बालकाण्ड के पद्य ४० से ८४ तक प्रत्येक में नियमित रूपसे चार चौपाइयां और एक दोहा है। परन्तु आमुख के अन्तिम, ४३ वें पद्य में २ दोहे हैं—पहले में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करके पूर्वगामी विवरण का उपसंहार है और दूसरे में वर्तमानकालिक (आसन्न भविष्यदर्थक) क्रिया का प्रयोग करके याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद का प्रारम्भ।

अब रघुपति पद पंकरुह हियँ धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिबर्य कर मिलन सुभग संबाद॥

प्रयाग में भरद्वाज ऋषि का आश्रम रामके भक्तों का संगमस्थान है। रुचिपूर्ण वर्णन के पश्चात् तुलसीदास इस पवित्र सभा का परिचय देते हैं। एक बार सम्मेलन की समाप्ति पर भरद्वाज ऋषि ने महर्षि याज्ञवल्क्य से राम के विषय में सन्देहनिवारण की प्रार्थना की—

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥
सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥[1]
रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि॥
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥

---

[1] भागवतों का यही मत है—दे० ग्रियर्सन, ज. रा. ए. सो. १९ ९. पृ० ६४२।

जैसें मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ।।[१]

परन्तु याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज के सन्देह को वास्तविक नहीं माना और कहा—

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ।।
रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी ।।
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा ।।
तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई ।।
महामोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला ।।
रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ।।
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी ।।
दो०कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ।।[२]

इस प्रकार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद में शिव-पार्वती के संवाद की घोषणा है यद्यपि वह ५० पद्यों के बाद (१०७ वें पद्य) से आरम्भ होता है; दोनों संवादों के पात्रों और वातावरण में भेद है परन्तु विषय दोनों का एक समान है— इन दोनों में,

१—"सन्देह" राम के दिव्य स्वरूप के विषय में है और यह स्वरूप उनके मानवीय व्यवहार के विरुद्ध प्रतीत होता है।
२—सीता के विरह पर राम द्वारा अभिव्यक्त दुःख आपत्तिजनक है।
३—यहाँ सन्देह वास्तविक नहीं अपितु इसका निराकरण राम-कथा की आवृत्ति का व्याज-मात्र है।

अतः यह याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद एक भूमिका की भूमिका है—यह शैली पुराणों और मध्ययुगीन रामायणों के नितान्त अनुरूप है। अध्यात्मरामायण में भी कथा शिव-पार्वती संवाद के अन्तर्गत वर्णित हुई है पर यह संवाद ब्रह्मा-नारद के संवाद द्वारा प्रस्तुत किया गया है। मानस के उत्तरकाण्ड में भी तुलसी ने इसी प्रणाली को अपनाया है—वहाँ एक नवीन शिव-पार्वती संवाद द्वारा भुशुण्डि-गरुड़ संवाद को प्रस्तुत किया है।

मूल-गोसाईं-चरित के अनुसार[3] चित्रकूट से अयोध्या जाते हुए तुलसीदास को प्रयाग में एक वट वृक्ष के नीचे दो साधु मिले जो राम की कथा कह रहे थे। ये दो साधु याज्ञवल्क्य व भरद्वाज थे। तुलसीदास ने उनसे इस रहस्यमय कथा के विषय में पूछताछ की और याज्ञवल्क्य ने उन्हें राम की कथा

---

[१] रा. च. मा. १, ४६, दो० १; ४७, १।
[२] रा. च. मा. १, ४७, १ दो०।
तुलसी सन्दर्भ (पृ० १२१–१२२) में मा. प्र. गुप्त द्वारा उद्धृत।

वैसी की वैसी कह सुनाई जैसी भुशुण्डि ने कही थी और शिव ने रचकर उमा को सुनाई थी। दूसरे दिन, वे दोनों साधु वहाँ से ग़ायब हो गए। मूल-गोसांई-चरित का यह उद्धरण स्पष्टतया रामचरितमानस के बालकाण्ड के ३० वें पद्य पर आधारित है।

पर आमुख (१. ३०) के अनुसार यद्यपि याज्ञवल्क्य, भुशुण्डि से गृहीत रामकथा के प्रस्तुतकर्ताओं में से एक हैं, पर वे बालकाण्ड के केवल इसी भाग में उपस्थित हुए हैं और बालकाण्ड के १७६वें पद्य के बाद उनका कहीं भी ज़िकर नहीं हुआ। वस्तुतः रामचरितमानस में याज्ञवल्क्य, रामकथा के प्रस्तुतकर्ता के रूप में नहीं, अपितु रामकथा से सम्बन्धित कुछ शैव उपाख्यानों के वक्ता के रूप में उपस्थित होते हैं; भरद्वाज को शिवपार्वती का संवाद बताना उनका कार्य है, और इस संवाद की परिस्थिति समझाने के निमित्त वे शिव की कथा अथवा शिवचरित का विस्तार से वर्णन करते हैं—इस शिव-चरित ने कुछ भी नहीं तो ५५ पद्य अर्थात् बालकाण्ड का लगभग ७ वां भाग ले लिया है।

शिव चरित के तीन भाग किए जासकते हैं—

१—सती-चरित (४८-६०)।
२—दक्ष-यज्ञ और सती का देहत्याग (६०-६५)।
३—पार्वती-चरित (६५-१०३)।

१—सती-चरित—

सतीचरित का सारांश—

त्रेता युग में अगस्त्य ऋषि से रामकथा सुनकर शिव, अपनी पत्नी भवानी (सती) के साथ लौट रहे थे, और राम से साक्षात्कार प्राप्त करने के साधन की उन्हें चिन्ता थी, शिव यह भी चाहते थे कि वे स्वयं अज्ञात रहें। रावण ने सीता का हरण कर लिया था और उनकी खोज में अति व्याकुल दण्डकारण्य में घूमते हुए रामका शिव ने दर्शन किया जिससे उनके हृदय में अत्यन्त आनन्द हुआ। पर इस भय से कि वे पहिचान लिए जायगे, शिव ने राम को परब्रह्म स्वरूप मानकर केवल प्रणाम भर किया और आगे चल दिए। इस घटना से सती बेचैन हो उठीं और उनके मन में सन्देह हुआ—यह कैसे संभव है कि परम भगवान ने मानव रूप ग्रहण किया, और यह कैसे हो सकता है कि यदि राम ही सर्वशक्तिमान भगवान हैं तो उन्हें अपनी पत्नी के हरण पर इतनी व्याकुलता हो? शिव ने सती के विचारों को जान लिया और उनके सन्देह को दूर करने का प्रयास किया पर सब निरर्थक। यह जानकर कि सती भगवान की माया के वश में हैं, शिव ने सती से स्वयं ही इसकी छानबीन करने को कहा; और स्वयं वे राम के नाम को जपने लगे।

सती ने राम की परीक्षा लेने का निश्चय किया। एतदर्थ सीता का रूप धारण कर वे राम के समक्ष उपस्थित हुईं, लक्ष्मण बहुत चकित हुए, पर राम सती के कपट को जान गए और उन्होंने सती से पूछा कि तुम इस प्रकार वन में अकेली क्यों फिर रही हो। सती के सन्देह को दूर करने के लिए और अपनी दिव्यता सिद्ध करने के लिए राम ने चमत्कारपूर्ण दर्शन दिया। दुःखी होकर सती मूर्च्छित होगईं। जब सचेत हुईं तो वहाँ उन्हें कुछ भी न दीख पड़ा और लज्जित होकर वे शिव के पास लौट आईं।

शिव ने मुस्कराकर उनका स्वागत किया और पूछा कि तुमने किस प्रकार राम की परीक्षा ली। सती ने उत्तर में झूठमूठ कह दिया कि उन्होंने शिव के वचनों को प्रमाण माना था। परन्तु अपनी ध्यानशक्ति से शिव ने तथ्य जान लिया और सती ने जो कुछ भी किया था उससे शिव बहुत दुखी हुए—सीता का रूप धारण करने से वे सती को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे, नहीं तो अधर्म होता। अत: उन्होंने प्रण किया कि जब तक सती उस शरीर में रहेंगी तब तक वे उन्हें छुएंगे भी नहीं। दोनों कैलाश वापस पहुंचे। मार्ग में आकाशवाणी द्वारा, शिव की भक्ति और उनके प्रण की सराहना हुई और इस प्रकार ही सती को शिव के प्रण का ज्ञान हुआ। कैलाश में आकर शिव एक वट वृक्ष के नीचे समाधिस्थ और अभागिनी सती से विमुख होगए। उधर सती अत्यन्त दुखी हुई और राम से ही अपने प्राणों का अन्त करने की विनती करने लगीं। इस प्रकार ८७ हज़ार वर्ष बीत गए और जब शिव ने समाधि खोली तो सती को अपने सामने[1] बैठने के लिए एक आसन दिया और स्वयं भगवान कीं रसमयी कथा कहने लगे।

शिवपुराण में सती-चरित

शिव-पुराण के रुद्र संहिता में एक सतीकाण्ड है और स्पष्टतया वही मानस के सतीचरित का आधार है। शिव और सती की यात्रा, सीता की खोज में व्याकुल राम से भेंट, शिव का राम को प्रणाम, राम की दिव्यता में सती का सन्देह, सीता का रूप धारण कर सती द्वारा राम की परीक्षा, सती का सम्भ्रम, शिव से झूठ बोलना, शिव की प्रतिज्ञा और सती का परित्याग, ये सब वर्णन शिव-पुराण में उपलब्ध हैं। तुलसीदास ने शिवपुराण का इतना अधिक अनुकरण किया है कि दोनों ग्रन्थों में कुछ वाक्य तक एक समान हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

अ—शिव की आज्ञा से सती जाती हैं और राम की परीक्षा लेने के विषय में विचार करती हैं—

शिवपुराण, २, २४, २५—

शिवाज्ञया सती तत्र गत्वाचिन्तयद् ईश्वरी।
कुर्यात् परीक्षां च कथं रामस्य वनचारिणः॥

रा. च. मा. १, ५२, २—

चलीं सती सिव आयसु पाई। करहिं बिचारु करौं का भाई॥

आ—शिव के पास लौट आने पर शिव ने कुशलप्रश्न करके उनसे राम की परीक्षा की विधि को पूछा—

शिवपुराण २, २५, ४५—

अथ तां दुःखितां दृष्ट्वा पप्रच्छ कुशलं हरः।
प्रोवाच वचनं प्रीत्या तत्परीक्षा कृता कथम्॥

---

[1] इससे सूचित होता है कि यहाँ उन्होंने सती को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया क्योंकि पत्नी का स्थान पति के वामपक्ष में है।

रा. च. मा. १, ५५, दो०—

गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥

इ—अपने ध्यान की शक्ति से शिव ने सती के व्यवहार की कल्पना की—

शिवपुराण २, २५, ४७—

अथ ध्यात्वा महेशस्तु बुबोध चरितं हृदा।
दक्षजाया महायोगी नानालीलाविशारदः॥

रा. च. मा. १, ५६, २—

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥

ई—आकाशवाणी सुनने पर सती दुःखविह्वला हुई और शिव से उनकी प्रतिज्ञा के विषय में पूछने लगीं—

शिवपुराण २, २५, ५५—

श्रुत्वा व्योमवचो देवी शिवं पप्रच्छ विप्रभा।
कं पणं कृतवान् नाथ ब्रूहि मे परमेश्वर॥

रा. च. मा. १, ५७, ३-४—

सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। . . . .॥

उ—कैलाश पर लौट कर शिव निजस्वरूप का ध्यान करने में लीन होगए—

शिवपुराण २, २५, ६०—

स्थित्वा निजं रूपं दधौ योगी समाधिभृत्।

रा. च. मा. १, ५८, ४—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखण्ड अपारा॥

ऊ—समाधि खोलने के बाद सती को अपने सम्मुख बिठाया—

शिवपुराण २, २५, ६४—

आसनं दत्तवान् शम्भुः स्वसम्मुख उदारधीः।

रा. च. मा. १, ६०, २—

सनमुख संकर आसनु दीन्हा।

पर, कई बातों में मानस और पौराणिक कथा में भेद भी हैं; और ये भेद सामान्यतया धर्म-विषयक हैं। दोनों कथाओं में आरम्भ एकसा है, शिव की पार्थिव यात्रा का वर्णन है, पर शिवपुराण में इस यात्रा का कोई विशेष कारण नहीं दिया गया—

"नाना लीला विशारद शिव सती के साथ नन्दी पर आरूढ़ तीनों लोकों की यात्रा को करने के लिए चल दिए[1] . . . . ।"

परन्तु मानस में इस यात्रा का प्रयोजन बताया गया है—शिव अगस्त्य ऋषि के यहाँ गए थे और वहाँ उन्होंने ऋषि से रामकथा सुनी थी; साथ ही शिव ने हरिभक्ति के विषय में अगस्त्य को भी उपदेश दिया—

रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी ॥
रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई ॥[2]

यहाँ अगस्त्य ऋषि रामकथा के प्रचारक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं पर ऐसा कैसे हो सकता है कि शिव इस कथा से अनभिज्ञ रहे हों। तुलसी ने यह भी नहीं कहा है कि वे इस कथा से अभिज्ञ हैं; उन्होंने केवल यह कहा है कि इस कथा को सुनकर शिव आनन्दित हुए—एक भारतीय देवता के कानों को आकर्षित करने के लिए, कथा नवीन हो, यह आवश्यक नहीं। अगस्त्य द्वारा शिव को बताई यह कथा वह ही नहीं हो सकती जिसका उल्लेख बालकाण्ड के ३० वें पद्य में है क्योंकि वहाँ शिव को उस कथा का रचयिता और प्रथम प्रस्तुतकर्ता बताया गया है। दूसरी ओर, जब त्रेतायुग म अगस्त्य ने शिव को रामकथा सुनाई तब राम का अवतार हो चुका था और वे सीता की खोज में दण्डकारण्य में घूम रहे थे—अर्थात् उनकी कठिनाइयां तब तक समाप्त नहीं हुई थीं—अतः अगस्त्य ने उन घटनाओं की कथा शिव को कैसे सुनाई होगी जो तब तक घटी ही नहीं थीं? स्पष्ट है कि यहाँ तुलसी ने साम्प्रदायिक रामायणों के उस दृष्टिकोण को अपनाया है जिसकी व्याख्या उन्होंने आमुख के दूसरे भाग में की है; इस दृष्टिकोण के अनुसार रामावतार अनन्त हैं और रामायणें भी अनेक हैं और ये सब की सब "सत्य" हैं। अगस्त्य द्वारा वर्णित रामायण, जिसका यहाँ और उत्तर काण्ड के एक स्थल पर (३२, ४) उल्लेख हुआ है उन आंशिक रामायणों में से एक है जो रामभक्त महर्षि अगस्त्य ने कही होगी। माना जाता है कि एक "अगस्त्य रामायण" उपलब्ध है—श्रीरामदास गौड़[3] के अनुसार इसमें १६ हज़ार श्लोक हैं और इसमें प्रतापभानुचरित भी वर्णित है। कदाचित् तुलसीदास को इस ग्रन्थ का ज्ञान रहा हो। जो भी हो, रामचरितमानस में अगस्त्य की कथा की किसी भी विशेषता का उल्लेख नहीं है—हो सकता है कि यह कथा बहुत संक्षिप्त रही हो। हमें तो केवल इतना पता है कि मानस में इसके बाद शिव और अगस्त्य में हरिभक्ति के विषय की चर्चा हुई और यह चर्चा बहुत दिनों तक होती रही। साम्प्रदायिक रामायणों की एक विलक्षण प्रणाली यह है, कि रामकथा प्रायः उपदेशात्मक विस्तार का

---

[1] शिवपुराण, २, २४, ११।
[2] रा. च. मा. १, ४८, २।
[3] हिन्दुत्व, वाराणसी, १९४०।

व्याजमात्र होती है। आश्चर्य नहीं कि रामसम्प्रदाय के इन पूज्य ऋषि अगस्त्य को भी इसीप्रकार के कार्य का निर्वाह करना पड़ा।[1]

शिवपुराण में परब्रह्मतुल्य शिव ने राम को अविलम्ब प्रणाम किया और उन्हें अपना दर्शन दिया (अदात् तस्मै स्वदर्शनम्)। वस्तुत: उन्होंने यह एक बहुत बड़ा प्रसाद प्रदान किया। इसके विरुद्ध मानस में, शिव को राम के एक महान भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। शिव ने राम को 'सच्चिदानन्द' व 'जगपावन' मानकर उनकी वन्दना की है।

राम व लक्ष्मण के वास्तविक स्वरूप के विषय में शिव द्वारा सती को समझाई बातों के सम्बन्ध में दोनों ग्रन्थों में भेद है। शिवपुराण में लक्ष्मण को शेष नाग का और राम को विष्णु का अवतार बताया गया है। मानस में शिव सती से कहते हैं—

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिअ उर काऊ॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥[2]

शिवपुराण के अनुसार, शिव की बलवती माया से प्रभावित सती को इसका विश्वास नहीं होता; पर मानस में उस माया को "हरि की माया" कहा है; जब शिव ने यह जान लिया कि सती को समझाना निरर्थक है तो उन्होंने "हरि का नाम" जपना आरम्भ कर दिया।

इस कथा का उपसंहार भी दोनों ग्रन्थों में भिन्न है। शिवपुराण में सती राम से पूछती हैं कि उनका दर्शन करने पर शिव को इतना आनन्द क्यों हुआ, तो राम उन्हें समझाते हैं कि पुराकाल में शिव ने विष्णु को (और राम उनका ही एक अवतार हैं) ब्रह्माण्ड का आधिपत्य प्रदान किया था। मानस में, सती को पश्चात्ताप होता है और राम उन्हें दर्शन देते हैं। ऐसा उल्लेख पुराण में नहीं है—

जाना राम सतीं दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥
सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥

---

[1] (पांचरात्र के धार्मिक ग्रन्थ) संहिता साहित्य में तीन अगस्त्य संहिता हैं। इन में से एक रामावलम्बी "अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद" का उल्लेख अध्यात्मरामायण में हुआ है (३, २, ३; ४, ४, ३०-१; ६, ५, ९)।

[2] रा. च. मा. १, ५१, ३-४, तथा छन्द।

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥

सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं जेहिं बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥[१]

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥[२]

इस दृश्य के राम विष्णु से सर्वथा भिन्न हैं, वे परब्रह्म हैं और उनसे सीता का सम्बन्ध उनकी "शक्ति" का है। मनु स्वायम्भुव को जो दर्शन प्राप्त हुआ था उसमें भी ऐसा वर्णन है।[३]

२—दक्ष-यज्ञ—

मानस में दक्ष के यज्ञ की कथा, बिना किसी संक्रमणावस्था के, सती की कथा से जुड़ी हुई है—

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भए तेहि काला॥[४]

यह नई कथा 'सतीचरित' का एक प्रकार का उपसंहार है और साथ ही 'पार्वती-चरित' अर्थात् पार्वती के रूप में सती के पुनर्जन्म और शिव से उनके विवाह की कथा की प्रस्तावना भी है।

प्राचीन भारत की मूर्तिकला के इतिहास में दक्ष-यज्ञ की कथा अत्यधिक प्रिय रही है। अधिकतर पुराणों में, विशेषकर भागवतपुराण[५] में, यह कथा प्राप्त होती है यद्यपि उनके वर्णनों में यत्रतत्र कुछ भेद है। शिव-उपपुराण के "सती काण्ड" का सम्पूर्ण अन्तिम भाग इसी कथा से भरा है,[६] और उसके बाद के काण्ड में पार्वतीचरित का वर्णन है—अतः यह कथा दो कथाओं के बीच कड़ी का काम करती है। मानस में यह कथा बहुत संक्षेप से दी गई है।

---

[१] वही, १, ५४ दो०।
[२] वही, १, ५४, २—दो०; ५५, १-३।
[३] दे. अध्याय ४ पृ. ७५।
[४] रा. च. मा. १, ६०, ३।
[५] भागवतपुराण, ४, १-७।
[६] शिवपुराण, २, अध्याय २५-६३।

मानस में, यद्यपि शिव और उनके ससुर दक्ष के पूरे झगड़े का वर्णन नहीं है, पर ब्रह्मा के द्वारा दक्ष को प्रजापतियों का नायक बनाए जाने और उसके परिणामस्वरूप दक्ष को अहङ्कार हो जाने का उल्लेख है (बालकाण्ड, ६०, ३-४)। दक्ष द्वारा आयोजित यज्ञ में जाने के लिए उतावली सती की प्रार्थना के उत्तर में, शिव ने दक्ष के साथ हुए निजी झगड़े की बात कही है (१, ६२, १-२) और सती के देहत्याग के पश्चात् शिव के गणों द्वारा यज्ञ के विध्वंस का वर्णन भी मानस में अत्यन्त संक्षेप से हुआ है—

सती मरनु सुनि संभु गन लगे करन मख खीस।
जग्य बिधंस बिलोकि भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस॥
समाचार सब संकर पाए। बीरभद्रु करि कोप पठाए॥
जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फलु दीन्हा॥
भै जगबिदित दच्छ गति सोई। जसि कछु संभु बिमुख कै होई॥
यह इतिहास सकल जग जानी। ताते मैं संछेप बखानी॥[1]

इस सुविख्यात कथा को संक्षिप्त करने की चिंता से मानस में उसकी केवल प्रमुख रूपरेखा ही दी गई है। यह कहना कठिन है कि कवि ने इस कथा के लिए किस ग्रन्थ का आधार लिया। कुछ विशेषताएँ भागवत पुराण और शिव उपपुराण से लीगई प्रतीत होती हैं; इन दोनों ही ग्रन्थों में दक्ष के यज्ञ की कथा का विशेष विस्तार है। दक्ष के यज्ञ में ब्रह्मा और विष्णु की अनुपस्थिति से मानस के लेखक के वैष्णव पक्षपात का ज्ञान होता है। पुराणों की प्रायः सर्वस्वीकृत परम्परा के अनुसार, शिव को छोड़ कर ये दोनों देवता दक्ष के यज्ञ में उपस्थित थे पर तुलसी ने इस परम्परा का अनुकरण नहीं किया। शिवपुराण में सती को विष्णु पर क्रुद्ध होते बताया है, वे उन्हें "दुर्मते" कह कर सम्बोधित करती हैं और उन पर शिव के प्रति अकृतज्ञता प्रदर्शित करने का आरोप लगाती हैं। केवल भागवत पुराण में कथा कुछ भिन्न है—

"कमल से उत्पन्न देव (ब्रह्मा) और विश्वात्मा नारायण, दोनों ने पहिले से ही (इस यज्ञ के विध्वंस को) जान लिया था, और इसी कारण वे दक्ष के यज्ञ में नहीं गए।"[2]

भागवत पुराण के लेखक की भावना यह रही होगी कि विष्णु को सती के आरोप और शिव के द्रोह से बचाया जाय और किसी ऐसी परिस्थिति में न फंसाया जाय जो देवताओं के लिए श्लाघनीय न हो अथवा जिससे विष्णु की महिमा को ठेस पहुँचे।

३—पार्वती-चरित—

हम देख चुके हैं कि पूर्वगामी कथा के अन्त में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है—

यह इतिहास सकल जग जानी। ताते मैं संछेप बखानी॥[3]

---

[1] रा. च. मा. १, ६४ दो० तथा ६५, १-२।
[2] भागवत पुराण, ४, ६, ३।
[3] रा. च. मा. १, ६५, २।

इसी प्रकार सम्पूर्ण 'पार्वती चरित' के वर्णन में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है—इससे कदाचित् भरद्वाज को सम्बोधित करनेवाले याज्ञवल्क्य का बोध कराना अभीष्ट हो, पर अधिक सम्भव यह है कि तुलसी ने इसे स्वयं अपने लिए ही प्रयुक्त किया है। वैसे इस वर्णन में दोनों ऋषियों में से किसी का नाम भी नहीं आया है।

शिव और पार्वती के विवाह और कार्तिकेय के जन्म की कथा भारतीय धर्मविज्ञान की सामान्य सम्पत्ति है और कई पुराणों और उपपुराणों में मिलती है। शिव-उपपुराण[1] में यह कथा विस्तार से वर्णित है; इसके अतिरिक्त यह कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य कुमारसम्भवम् का विषय भी है—कालिदास की यह कृति कथा के पौराणिक आधारों से निश्चय ही पहिले की है।

तुलसीदास का वर्णन पौराणिक परम्परा पर अधिक और कालिदास के काव्य पर कम आश्रित है। कथा की व्यवस्था की दृष्टि से मानस और कुमारसम्भव में बहुत अन्तर है। कालिदास के अधिकतर प्रसिद्ध वर्णनों, वस्तुतः "काव्यात्मक चित्रों" के वर्णनों का मानस में अभाव है। संस्कृत महाकाव्य के प्रथम सर्ग में नवयुवती राजकुमारी के सौन्दर्य, तृतीय सर्ग में शिव के समक्ष पार्वती की विलासमय भावाभिव्यक्ति और अष्टम सर्ग में शिवपार्वती की सानुराग क्रीड़ा जैसे शृङ्गारात्मक या मांसल वर्णन, मानस में नहीं मिलते; किन्तु कुमारसम्भव के, पार्वती के जन्म पर हिमालय के सौन्दर्य वर्णन, या काम और वसन्त ऋतु के विजयी आगमन के वर्णन या पार्वती की तपस्या जैसे कुछ वर्णनों की ध्वनियाँ मानस में प्राप्त होती हैं; कदाचित् ये ध्वनियाँ किन्हीं अन्य ग्रन्थों की हों। अधिक से अधिक तुलसीदास ने कालिदास से कोई पद अथवा उपमा ली हो, पर उनकी प्रेरणा का मूल सर्वथा भिन्न है।

प्रमुख रूपरेखा की दृष्टि से शिव पुराण और कुमारसम्भव की कथा मिलती जुलती है; परन्तु इस पुराण में, पौराणिक ग्रन्थों की विलक्षण प्रणाली के अनुसार, कथा को अन्य उपकथाओं से मिश्रित करके विस्तारपूर्वक कहा गया है—बीच बीच में पार्वती की दिव्य प्रकृति और शिव के विभिन्न रूपों और उनके चमत्कारपूर्ण दर्शनों का उल्लेख हुआ है। अतः तुलसी के सामने सामग्री बहुत सी थी और इच्छानुसार वे उसका उपयोग कर सकते थे। वस्तुतः उन्होंने अपनी सामग्री प्रायः शिवपुराण के पार्वतीकाण्ड से ली है। परन्तु इस पुराण से ली सामग्री का बोध 'पार्वती चरित' के प्रथम भाग में ही अधिक सरलता से प्राप्त होता है, यहाँ हिमाचल वंश में पार्वती के जन्म से लेकर उनके वन को प्रस्थान की और सप्तर्षियों द्वारा उनके प्रलोभन की कथा दी है।

पार्वती-चरित का प्रथम भाग

मानस में 'पार्वती-चरित' का प्रथम भाग ही अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण है—इसमें कालिदास का बहुत कम और शिवपुराण का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कालिदास ने, पार्वती के जन्म के दिन हिमाचल के सौन्दर्य का वर्णन केवल एक श्लोक में किया है—

---

[1] शिवपुराण, ३, पार्वती काण्ड (५५ अध्याय)।

"उसके जन्म दिन दिशाएं निर्मल हो गईं, वायु के साथ किंचित् भी धूल नहीं थी। केवल शंखों का शब्द सुनाई देता था, और निरन्तर पुष्पवर्षा हो रही थी, जिससे स्थावर जङ्गम सभी प्राणी सुखी हुए"।[1]

यह वर्णन शिवपुराण और मानस में एक समान भाषा में विस्तार से दिया गया है पर यहाँ तुलसी का आधार यही था इस विषय में निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं। क्योंकि पौराणिक साहित्य में किसी भी दिव्य शिशु के जन्म पर प्रकृति का आनन्दित होना साधारण सी बात है। इस आनन्द का वर्णन मर्यादित है और इसमें मन्द सुगन्धित पवन, वृक्षों का पुष्पित होना, पुष्पवर्षा, दिव्य गान इत्यादि विलक्षण हैं। मानस में राम की कथा के प्रसंगमें और भागवत पुराण में कृष्ण के जन्म पर भी इसी प्रकार का वर्णन दिया गया है।

कुमारसम्भव (१, ५०) में हिमाचल के दरबार में नारद मुनि के आगमन का उल्लेख संक्षेप में हुआ है। पर मानस में शिव पुराण से लीगई सामग्री की सहायता से इस घटना को विकसित किया गया है। इस प्रसङ्ग में तुलसी ने इस पुराण का बहुत ही समीप से अनुकरण किया है, यहाँ तक कि दोनों ग्रन्थों की भाषा भी एक समान हो गई है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

अ—नागराज हिमाचल नारद से अपनी पुत्री के विषय में भला बुरा सब कुछ कहने की प्रार्थना करता है—

शिवपुराण, ३, ८, ५—

मत्सुताजातकं ब्रूहि गुणदोषसमुद्भवम्।

रा. च. मा., १, ६६ दोहा—

कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदयँ बिचारि।

आ—नारद ने भविष्यवाणी की कि एक नंगा साधु, गुणहीन, उदासीन, मातापिता-विहीन लापरवाह और अमङ्गलवेष वाला व्यक्ति पार्वती का पति होगा, इसके हाथ में ऐसी ही रेखा है—

शिवपुराण, ३, ८, १०-११—

एका विलक्षणा रेखा तत्फलं शृणु तत्वतः।
योगी नग्नोऽगुणोऽकामी मातृतातविवर्जितः।
अमानोऽशिववेशश्च पतिरस्याः किलेदृशः॥

रा. च. मा. १, ६७, ४ दो०—

सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥
अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष॥
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥

---

[1] कुमारसम्भव, १, २३।

इ—इस पर हताश हिमाचल ने नारद से इसको दूर करने का एक उपाय पूछा!

शिवपुराण, ३, ८, १५—

किमुपायं मुने कुर्याम्।

रा. च. मा. १, ६८, ४—

कहहु नाथ का करिअ उपाऊ ॥

ई—नारद कहते हैं कि सूर्य अग्नि व गङ्गा जैसे प्रतापी को कभी कोई दोष नहीं लगता—

शिवपुराण, ३, ८, २०—

प्रभौ दोषो न दुःखाय दुःखदोऽत्यप्रभौ हि सः।
रविपावकगङ्गानां तत्र ज्ञेया निदर्शना ॥

रा. च. मा. १, ६९, ४—

समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं।

उ—मैना ने कहा कि उसने नारद मुनि के वचनों को नहीं समझा। पार्वती को उसके योग्य वर को ही देना होगा—

शिवपुराण, ३, ९, ५—

मुनिवाक्यं न बुद्धं मे सम्यङ्नारीस्वभावतः।
विवाहं कुरु कन्यायास्सुन्दरेण वरेण ह ॥

रा. च. मा. १, ७१, १-२—

नाथ न मैं समुझे मुनि बैना।
जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा ॥

मानस में उल्लेख है कि बाल्यकाल में पार्वती ने एक स्वप्न में देखा कि कोई ब्राह्मण उन्हें उपदेश कर रहा है। इस कथा को उन्होंने अपनी माँ को सुनाया। यह प्रसंग भी शिवपुराण (३, ९, १८) से लिया गया है। स्वप्न में पार्वती को दर्शन देने वाले यह ब्राह्मण शिव हैं जो इस पुराण में कई रूपों में प्रकट हुए हैं।

शिवपुराण में, जिस समय पार्वती वन में जाने के लिये अपने पिता के घर से प्रस्थान करने लगती हैं तो वेदज्ञ नाम का एक तपस्वी उनके माता-पिता के पास आकर पार्वती के भावी सुख की बात कह कर उन्हें सान्त्वना देता है।[1] मानस में यह कथा बहुत ही संक्षेप में वर्णित है (और इस तपस्वी का नाम वेदशिरा है)—

---

[1] शिवपुराण भाषा (३-३७), लखनऊ १९२७। मथुरा के संस्करण में तपस्वी का नाम नहीं दिया गया है।

बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ ॥[१]

पौराणिक कथा के समान, मानस में भी तपस्या के लिए अपने माता-पिता से विदा होते समय पार्वती एक कन्या ही हैं और उनको देखकर उनकी माता की आंखों में आंसू आजाते हैं (शिवपुराण ३, ९, १४ ; रा. च. मा. १, ७२, ३-४)। कुमारसम्भव में ऐसा नहीं है—शिव का प्रसाद पाने के लिए पार्वती ने जो तपस्या की वह कालिदास के लिए उस सुन्दरी तपस्विनी के वर्णन का विषय बन गया है और इस वर्णन की ध्वनि मानस में नहीं मिलती। तुलसी ने पार्वती की कठिन तपस्या का जो वर्णन किया है वह शिवपुराण की कथा से मिलता जुलता है—

अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सबु भोगू॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मनु लागा॥
संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥
कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा॥
बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना॥[२]

यहाँ पर देखने की बात यह है कि उपवास के बाद सूखे पत्तों को खाकर निर्वाह करना कुछ असंगत लगता है और कठिन तपस्या के उत्तरोत्तर क्रम को भंग भी करता है। कदाचित् यहाँ कुमारसम्भव के उस श्लोक की ध्वनि है जहाँ कहा गया है—

"पृथवी पर गिरे वृक्षों के पत्तों को खाकर निर्वाह करना तपस्या की पराकाष्ठा है परन्तु पार्वती ने इन पत्तों को भी त्याग दिया—और इसी कारण प्राचीन लेखकों ने उन प्रियम्वदा को अपर्णा नाम दिया है"।[३]

शिवपुराण में यही बात एक अन्य ढंग से कही गई है और बताया गया है कि इस तपस्या की अवधि लगभग तीन हज़ार वर्ष थी।

मानस में, ब्रह्मा ने पार्वती की तपस्या का अवसान कराया—

देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा॥

भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि॥[४]

---

[१] रा. च. मा. १, ७३ दोहा।
[२] वही, १, ७४।
[३] कुमारसम्भव, ५, २८।
[४] रा. च. मा. १, ७४, ४ दोहा।

पार्वती की चर्चा छोड़कर, तुलसी शिवचरित की बात करते हुए कहते हैं—

उमा चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥[1]

सती के देहत्याग के बाद से शिव के मन में वैराग्य होगया और वे राम का नाम जपने लगे। जिन बन्धनों से वे मुक्त हुए थे उन बन्धनों में पुनः पड़ने की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। मानस में न तो इन्द्र (जैसा कि कुमारसम्भव में है), न देवगण (जैसा कि शिवपुराण में है) वरन् स्वयं राम ही शिव से पार्वती की कठिन तपस्या का वर्णन करते हैं। स्वयं राम ने शिव से कहा कि यदि तुम्हें मुझसे स्नेह है तो पार्वती से विवाह कर लो। शिव तो अकेले ही सुखी हैं, पर विवाह की इच्छा न होने पर भी, अपने स्वामी राम की आज्ञा का पालन करते हैं—

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा ॥[2]

कुमारसम्भव व शिवपुराण में, पार्वती की तपस्या का वर्णन, काम द्वारा शिव के प्रलोभन और उसके विफल हो जाने के पश्चात् आता है। शिव को पाने के लिए यहाँ पार्वती, एक प्रकार से निराश होकर, और केवल अन्तिम प्रयास के रूप में, तपस्या का आश्रय लेती हैं—पहिले तो उन्हें अपने सौन्दर्य पर ही बहुत विश्वास था। इसके विपरीत, मानस में, शिव ने पार्वती को देखा तक नहीं था कि पार्वती ने उनको पाने के लिए तपस्या आरम्भ कर दी और शिव ने उनसे विवाह करना राम को केवल प्रसन्न करने के लिए स्वीकार किया—इस प्रकार उनका विवाह पूर्वनिश्चित प्रतीत होता है। फिर भी शिव ने पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए उनके पास सात ऋषि भेजे जिन्होंने वहाँ जाकर कई प्रकार की बातें बनाईं।

शिव द्वारा पार्वती के "प्रलोभन" की घटना शिवचरित का मर्यादागत कथानक है। कालिदास के महाकाव्य में शिव, पार्वती के समक्ष ब्राह्मण बटु के वेश में प्रकट होते हैं; किंतु शिवपुराण के समान, मानस में, शिव स्वयं पार्वती के समक्ष प्रकट नहीं होते वे सात ऋषियों को ही उनके पास भेजते हैं।

इन सात ऋषियों व पार्वती के बीच हुआ संवाद मानस और शिवपुराण में एक समान है। तपस्विनी पार्वती को देखकर सातों ऋषि मानो मूर्तिमती तपस्या को ही देखते हों (शिवपुराण ३, २५, १९; रा. च. मा. १, ७८, १); ऋषियों के पूछने पर पार्वती उत्तर देती हैं कि उन्हें बोलते हुए संकोच होता है क्योंकि वे लोग उनकी मूर्खता पर हंसेंगे (शिवपुराण ३, २५, २४; रा. च. मा. १, ७८, २); उनका लक्ष्य दुरूह है और वे जल पर दीवाल बनाने वाले के समान हैं (शि. पु. ३, २५, २५; रा. च. मा. १, ७८, ३) या उस पक्षी के समान हैं जो बिना पंख के उड़ना चाहे (शि. पु. ३, २५, २७; रा. च. मा. १, ७८, ३); पर नारद के वचनों के आधार पर ही वे शिव के संगम की कल्पना कर रही हैं।

---

[1] वही, १, ७५, ३।
[2] वही, १, ७७, १।

वे ऋषि शीघ्र ही नारद के दुष्कर्मों का वर्णन कर पार्वती के विश्वास को डगमगा देते हैं और कहते हैं कि नारद ने ही दक्ष के पुत्रों को उपदेश दिया जिससे उन्होंने फिर कभी अपने घरका मुंह भी नहीं देखा और वे भिखारी साधु बन गए (शि. पु. ३, २५, ३१-३७); उन्होंने ही अपने उल्टे उपदेशों से चित्रकेतु और हिरण्यकशिपु के वंश का नाश किया (शि. पु. ३, २५, ३८९-४०)। मानस में इन उपाख्यानों का वर्णन नहीं है संक्षेप में इनका उल्लेख ही है—

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवनु न देखा आई॥
चित्रकेतु कर घरु उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥
नारद सिख जे सुनहिं नर नरी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥[1]

नारद की निन्दा के बाद, वे सप्त ऋषि शिव की निन्दा करते हैं—वह अपवित्र है, बुरे वेषवाला है, सांपों को लपेटे और कपालों की माला पहिने वह भयंकर दीखता है, वह बिना घरबार का साधु है। शिव का यह अप्रिय यद्यपि मर्यादागत वर्णन दोनों ही ग्रन्थों में एक समान है (शि. पु. ३, २५, ४५-४६ ; रा. च. मा. १, ७९, ३)।

अन्त में, ये ऋषि विष्णु के चमत्कारपूर्ण गुणों का उल्लेख करते हैं—"वह सारे गुणों का भंडार, लक्ष्मी का स्वामी, और वैकुण्ठपुरी का ईश्वर है।" केवल वही पार्वती के अनुरूप पति हो सकता है (शि. पु. ३, २५, ५३ ; रा. च. मा. १, ८०, ३)। परन्तु पार्वती अपने व्रत से पीछे नहीं हटतीं और उन ऋषियों से कहती हैं कि "पर्वत से उत्पन्न" होने के कारण वे अपने व्रत पर अचला रहेंगी (शि. पु. ३, २५, ५७ ; रा. च. मा. १, ८०, ३)। उन्हें अपने गुरु के वचनों में सन्देह नहीं, "चाहे घर बसे या उजड़े", क्योंकि जिसका भी अपने गुरु में विश्वास नहीं उसे दुःख ही प्राप्त होता है (शि. पु. ३, २५, ५८-६१ ; रा. च. मा. १, ८०, ४)।

अतः हम देखते हैं कि इस प्रकरण में तुलसी ने शिवपुराण का अतिसमीप से अनुकरण किया है ; परन्तु उनकी कथा पौराणिक कथा की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त और प्रवाहात्मक है। उनकी कथा की शैली विशेषकर सजीव है और इसमें रोचक घटनाओं का भी अभाव नहीं ; मानस में, पार्वती द्वारा, प्रलोभक ऋषियों के प्रस्ताव की अस्वीकृति का बहुत ही सुन्दर उपसंहार है—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥
जौं तुम्हरे हठ हृदयँ बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किएँ बरेषी॥
तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥

[1] रा. च. मा. १, ७९, १-२।

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।।
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू ।।
मैं पा परउँ कहइ जगदंबा । तुम्ह गृह गवनहु भयउ बिलंबा।।[1]

और अपनी हार पर उन ऋषियों ने पार्वती की जय बोली। इस परीक्षा में सफल होने पर फिर तो शिव के साथ उनके समागम में कोई बाधा ही नहीं रह गई। और इसी सारी वार्ता को सुनकर शिव आनन्द विभोर होगए—पर विवाह अभी दूर है। पार्वती अपने माता पिता के घर जाती हैं और शिव राम का ध्यान करने लगते हैं।

पार्वती-चरित का दूसरा भाग

तपस्विनी पार्वती के अपने पिता के घर लौट आने के साथ एक प्रकार से इस नाटक का प्रथमाङ्क समाप्त होजाता है। पार्वती की कथा को यहीं छोड़ कर अब तुलसी कथा को एक दूसरी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। तारकासुर के अत्याचार, देवताओं की शिव से प्रार्थना, कामदेव द्वारा प्रलोभन, शिव का प्रतीकार, पार्वती के माता-पिता का अन्तिम संकोच, और शिव-पार्वती का विवाह, ये सब प्रसंग शिव-पुराण और कुमारसम्भव में भी मिलते हैं। और मानस की कथा में यत्रतत्र ऐसे स्थल हैं जिनमें इन दोनों ग्रन्थों में से एक का प्रभाव अभिव्यक्त होता है, परन्तु मानस के वर्णन की शिवपुराण के वर्णन से तुलना करना सम्भव नहीं। इतना सुस्पष्ट है कि 'पार्वती-चरित' के इस दूसरे भाग में हिन्दी कवि ने घटनाओं की व्यवस्था में परम्परा का अनुकरण न करके वास्तविक मौलिकता प्रदर्शित की है।

मानस में शिव के राम में ध्यानमग्न होने के तुरन्त पश्चात् और बिना संक्रमण के तारकासुर के अत्याचारों का वर्णन किया गया है—

मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना।।
तारकु असुर भयउ तेहि काला। . . . . ।।[2]

तारक के अत्याचार और देवों की ब्रह्मा के पास जाकर सहायता की याचना के विषय में मानस में कुछ ही अर्धालियां (१, ८२, ३-४) हैं। स्पष्ट है कि युद्ध में इस असुर की महाप्राणता से कवि को कोई विशेष प्रयोजन नहीं जब कि वह प्रत्येक घटना को संक्षेप से प्रस्तुत करना चाहता है। यह और इसके बाद में आनेवाली घटनाएँ, जैसे देवों की कामदेव से प्रार्थना, काम का प्रयत्न और उसकी निष्फलता, व शिव का प्रतीकार, ये सब उस पारम्परिक कथा के अनुकूल हैं जो कुमारसम्भव व शिवपुराण में है। परन्तु मानस में इन घटनाओं को जो स्थान दिया गया है वह आपाततः आश्चर्यजनक है—मानस में देवों की युक्ति तो निरर्थक प्रतीत होती है क्योंकि शिव पहिले ही राम की इच्छा को स्वीकार कर चुके हैं; और देवगणों को, यहाँ तक कि उन ब्रह्मा को भी इस बात का कोई आभास नहीं जिन्होंने स्वयं पार्वती को विश्वास दिलाया था कि उनकी मनोकामना सफल होगी। देवों को यह भी पता होना

---

[1] रा. च. मा. १, ८० दो०; ८१, १-४।
[2] वही १, ८२, २-३।

चाहिए था कि राम के भक्त होने के कारण शिव काम के प्रलोभन में नहीं फंसेंगे—और इस प्रकार कामदेव के प्रयास का निष्फल होना तो पहिले से ही अवश्यम्भावी है। यही बात कामदेव स्वयं समझ चुके हैं। मानस में कामदेव का वैसा चित्रण नहीं हुआ जैसा कि कुमारसम्भव या शिवपुराण में है; इन दोनों ग्रन्थों में उन्हें निर्लज्ज और प्रलापी चित्रित किया गया है; इसके विरुद्ध मानस में वे बुद्धिमान और उदार हैं—

> **सुरन्ह कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार।**
> **संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार॥**
> **तदपि करब मैं काजु तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा।**
> **पर हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥**[1]

कामदेव का सारे संसार को अपने वश में करना, शिव को अपने वश में लाने का प्रयास करना तथा शिव द्वारा उनकी दण्ड-प्राप्ति, ये स्थल कुमारसम्भव के सर्वाधिक श्लाघनीय वर्णन हैं। प्रथम सर्ग के अन्त में, समाधिस्थ शिव की अर्चना करते सुकेशी पार्वती का वर्णन है। उनके पिता हिमाचल ने पार्वती को शिव के पास भेजा और शिव ने पार्वती की शुश्रुषा को स्वीकार कर लिया। अपनी शक्ति में विश्वास करने वाले शिव के मन में स्त्री के समीप होते हुए भी कोई विकार नहीं आया (कु. स. १, ५८, ५९)। तारकासुर का नाश करने के लिए, कार्तिकेय के जन्म की इच्छा से देवों ने कामदेव से प्रार्थना की—कामदेव का कार्य यह है कि किसी प्रकार भी शिव इस सेविका पर आकृष्ट होजावें। उनका प्रयास सफल होने ही वाला था। अपने साथी वसन्त को लेकर कामदेव आत्मविश्वास लिये आगे बढ़े; शिवपर अपने बाण छोड़े; शिव की समाधि-भग्न हुई, उनकी दृष्टि पार्वती पर पड़ी और पार्वती के सौन्दर्य को देखकर उनके अन्तःस्थल में विह्वलता जाग्रत होगई पर वे सम्भले और वृक्ष पर आश्रित अपराधी को देखकर उन्होंने अपने नेत्र की अग्नि से उसे भस्मसात् कर दिया। इस पर निराश पार्वती अपने पिता के घर लौट आईं (कु. स. सर्ग ३)।

कालिदास के काव्य में और पौराणिक कथाओं में रूपरेखा की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। शिव की दिव्यता को रेखाङ्कित करने के कारण, शिवपुराण में कालिदास के काव्य की अपेक्षा श्रृङ्गारमय वर्णनों को कम स्थान मिला है; परन्तु कथा का प्रवाह और कामदेव का स्थान कुमारसम्भव तथा शिवपुराण दोनों में एक समान है। काम के आगमन पर पार्वती वहीं उपस्थित हैं। कामदेव का कार्य यह है कि वे शिव की दृष्टि पार्वती के सौन्दर्य पर आकृष्ट करावें। कामदेव की निष्फलता से पार्वती की आशाओं पर पानी फिर गया और नारद के उपदेशानुसार (जो हिमाचल के यहाँ दूसरी बार पधारे हैं—(शि. पु. ३, २१), पार्वती ने तपस्या करने का निर्णय किया। इस प्रकार, कुमारसम्भव के समान शिवपुराण में भी पार्वती की तपस्या कामदेव की निष्फलता का प्रत्यक्ष परिणाम है।

मानस में जैसे सीता के सौन्दर्य का वर्णन नहीं हुआ, उसी प्रकार पार्वती के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन भी नहीं किया गया। न ही पार्वती को शिव के पास उनकी सेवा के लिए अथवा

---

[1] रा. च. मा. १, ८३ दो०; ८४, १।

उनको अपनी मदभरी दृष्टि से आकर्षित करने के लिए पिता ने भेजा है। कामदेव के प्रयत्न के समय पार्वती अनुपस्थित हैं क्योंकि मानस में, पार्वती निजी सौन्दर्य अथवा कामदेव की छलना के सहारे नहीं वरन्तु अपनी भक्ति और अपने प्रेम की स्थिरता के भरोसे शिव के प्रसाद की आकांक्षा करती हैं।

कालिदास ने मधुमास और कामदेव के आगमन पर, समस्त प्रकृति के उल्लास का, वृक्षों और पुष्पों के, पक्षियों, मृगों और भ्रमरों के मद का, सुप्रसिद्ध चित्रण बहुत ही सुन्दर श्लोकों में किया है। इस समय में, तपस्वी भी अपनी आत्मा के विकारों पर बड़ी कठिनाई से विजय पा सके (कु. स. ३, २३-३९)। तुलसी ने भी संसार भर में कामदेव के प्रभाव के प्रसार का वर्णन बड़ी चतुराई से किया है (१, ८४, ३ दो० ; ८५); और प्रत्येक पद्य की चौथी चौपाई और दोहों के बीच, हरिगोतिका छन्द का प्रयोग करके इस खण्ड के काव्यात्मक चमत्कार को बढ़ा दिया है—

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा।
कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥
ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥

भागेउ बिबेकु सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सदग्रंथ पर्बत कंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा॥[1]

मानस में कामदेव की इस विजय का वर्णन कुमारसंभव से प्रेरित हुआ है—जैसे उन वृक्षों का उल्लेख जो "लताओं को देखत ही अपनी शाखाएं झुका लेते हैं," कालिदास की रचना का स्मरण कराता है—

"पुष्पस्तबक रूपी स्तनों वाली और प्रवालोंरूपी मनोहर ओठों से सुशोभित लतावधूओं का आलिङ्गन करने के लिए तरूओं ने शाखारूपी भुजाओं को झुका लिया।"[2]

पर मानस का वर्णन अधिक गम्भीर और विशेषताओं की मृदुता की ओर कम आकृष्ट है। सबके हृदय में काम के प्रभाव का और संसार में उसके साम्राज्य से बुद्धि और भावना के लिए हुए अनिष्ट का वर्णन करना तुलसी ने अधिक महत्वपूर्ण समझा है। कामदेवकी शक्ति के सामने तपस्या तक निरर्थक है, केवल राम ही एकमात्र आश्रय हैं—

धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ॥[3]

---

[1] रा. च. मा. १, ८४, ३-४, छन्द।
[2] कु. स. ३, ३९।
[3] रा. च. मा. १, ८५, दो०।

समस्त चराचर जगत में कामदेव के प्रभाव का वर्णन तुलसीदास को अत्यन्त प्रिय है और उन्होंने कई बार विस्तारपूर्वक और बहुत कुशलता से इसका निर्वाह किया है।

मानस के ८७ वें पद्य की कुछ अन्तिम चौपइयों में, शिव द्वारा कामदेव के भस्मसात् होने से विश्व में हुई विविध प्रतिक्रियाओं का वर्णन है—कामदेव की पत्नी रति के दुःख और प्रलाप का चित्रण जो कुमारसंभव के यथार्थतः प्रसिद्ध श्लोकों (चतुर्थ सर्ग, श्लोक ५-६) में किया गया है वह तुलसी ने इस ही पद्य के एक छन्द में दे दिया है। शिव को रति पर दया आई और उन्होंने वचन दिया कि उनका पति कृष्ण के पुत्र (प्रद्युम्न) के रूप में उत्पन्न होगा—विष्णु के कृष्णावतार का उल्लेख मानस में बहुत कम हुआ है पर यह एकमात्र ऐसा सन्दर्भ है जहाँ पर कृष्ण का उल्लेख उनका नाम लेकर हुआ है।

और यहाँ पर कथा का सूत्र अकस्मात् त्रुटित हो जाता है—

रति गवनी सुनि संकर बानी। कथा अपर अब कहउँ बखानी॥[1]

इस "कथा अपर" का विषय ब्रह्मा विष्णु और सब देवों का शिव के पास जाकर कामदेव के ऊपर विजय के उपलक्ष में उनको बधाई देना और पार्वती से विवाह करके इनकी तपस्या को सफल कराना है। ब्रह्मा इत्यादि की प्रार्थना को सुनकर शिव ने प्रसन्नता पूर्वक "ऐसा ही हो" कहा।[2] इसमें सन्देह नहीं कि देवों को कामदेव के बाणों की शक्ति में विश्वास था और कामदेव के प्रसंग के बाद शिव की अनुमति से उनके विश्वास की पुष्टि होती है। परन्तु हमें एक दूसरे सन्दर्भ से (१, ७७, ४) ज्ञात है कि राम के आदेशानुसार शिव विवाह के लिये अपनी स्वीकृति पहिले ही दे चुके थे—ऐसा प्रतीत होता है कि देवगणों का यह सब कार्य निरर्थक था। यही बात पार्वती के तथा सप्तर्षियों के दूसरे वार्तालाप से स्पष्ट होती है।

यह वार्तालाप तुलसीदास की मौलिक देन प्रतीत होती है—यह माना कि शिवपुराण में पार्वती की परीक्षा दो बार होने का उल्लेख है—ऋषियों के प्रस्थान के पश्चात् ब्राह्मण के वेष में शिव स्वयं वन में राजकुमारी पार्वती के समक्ष उपस्थित होते हैं और ऋषियों के समान वार्तालाप करते हैं (३, २६)। परन्तु यहाँ पर आवृत्ति है विकास नहीं। मानस में, काम की पराजय के पश्चात् जब पार्वती अपने पिता के यहाँ हैं तो ऋषि फिर पार्वती के पास आते हैं और कामदेव के साथ हुई सारी दुर्घटना उनको कह सुनाते हैं। स्पष्ट है कि वे उनकी तपस्या को भंग करने के लिए ऐसा करते हैं। परन्तु यह समाचार पार्वती को तनिक भी क्षुब्ध नहीं करता और वे मुस्कराकर उत्तर देती हैं—

उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरें जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जौं मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥

---

[1] रा. च. मा. १, ८८, २।
[2] वही, १, ८९, ३।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा॥
तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस की नाई॥[1]

इस प्रकार रामचरितमानस में शिवपार्वती की कथा की दो विभिन्न धाराएँ हैं—एक दिव्य, जहाँ पर राम, शिव और पार्वती के प्रिय गुरु हैं, और दूसरी, उससे नीची, जिसको यदि विषय अमर्त्यों से संबन्धित न होता तो मानवीय कहा जा सकता है। वास्तव में कथावस्तु दिव्य धारा के अन्तर्गत प्रवाहित है क्योंकि देवगण अपने स्वार्थ से अधिक परे देखने में असमर्थ हैं और अपने सीमित क्षेत्र में क्षुद्र युक्तियों का प्रयोग कर निरर्थक कार्य में निरत हैं।

पारम्परिक घटनाओं में तुलसीदास ने जो क्रम-व्यतिक्रम किया है उससे कथा थोड़ी बहुत विकृत भी हो गई है और कई अनावश्यक बातों को भी स्थान मिल गया है। तारकासुर के अत्याचार और उसके बाद की घटनाएँ वास्तव में कथा के सूत्र में नहीं लगतीं और कुछ विदेशी सी प्रतीत होती हैं; और इसी से कथा के संक्रमण स्थलों में अनौचित्य हो गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की सुग्राह्यता को हानि पहुँचाये बिना इन घटनाओं के विवरण को हटाया जा सकता है। यद्यपि इन योजनाओं का सम्मिश्रण कथा की स्पष्टता के लिये बाधक है तथापि इस प्रकार कवि के मनोनीत उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है। कामदेव ने समस्त संसार को अपने वश में कर लिया, केवल इस प्रसंग से तुलसीदास को मानव हृदय में वासना के दुष्परिणामों की काव्यात्मक तेजस्विता के साथ निन्दा करने का अवसर प्राप्त हुआ। कामदेव की निष्फलता के प्रसंग से उन्हें पार्वती की दूसरी परीक्षा और पार्वती के वचनों द्वारा (अमर्त्य और) मर्त्य जनसाधारण की अवितथ धारणा का सबल खण्डन करने का अवसर मिला, क्योंकि शिव तो कभी भी कामाभिभूत नहीं हुए और न पार्वती को कामदेव की पराजय से कोई क्षोभ हुआ। धिक्कार है उस व्यक्ति को जो यह विचारने का दुस्साहस करे कि अजन्मा शिव कामदेव से कभी स्पृष्ट भी हुए। मानस में देवताओं का यह निकृष्ट प्रताप, अपेक्षाकृत अधिक दिव्य, शिव और पार्वती की महिमा को कुमारसम्भव और शिव पुराण की अपेक्षा अधिक बढ़ाता है।

पार्वती के स्थिर प्रेम से सन्तुष्ट सप्तर्षि हिमालय के पास जाते हैं, शीघ्र ही विवाह की तिथि निश्चित होती है और उसकी तैयारी होती है। तुलसी ने शिव के विवाह, वेष और उनकी बरात के आगमन का मनोरंजक वर्णन किया है। शिवपुराण में शिव की वेष भूषा को वर्णनातीत कहा गया है (३, ३९, ४२) पर तुलसीदास को वह निश्चय ही अप्रिय और विकराल प्रतीत होती हैं। तुलसी कहते हैं—

गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥[2]

शिव का वेष देखकर साथ के बरातियों को मुस्कान छूटी और प्रेक्षकों को भय हुआ। शिव-पुराण (३, ४०) के अनुसार बरात में सबसे आगे शिव फिर उनके गण और अन्त में देवता आते हैं।

---

[1] रा. च. मा. १, ९०, १-४।

[2] रा. च. मा. १, ९२, २।

नगर के द्वार पर पहुंचने पर पार्वती की माता मैना बहुत घबड़ाई हुई है और अपने भावी दामाद को देखने के लिए वह एक ऊँची अट्टालिका पर चढ़ती है। पर अविश्वास और गर्व के लिए उसे दण्ड देने को शिव एक युक्ति ढूँढ निकालते हैं—वे विष्णु ब्रह्मा और अन्य देवताओं से बरात में सबसे आगे चलने को कहते हैं और स्वयं अन्त में चलते हैं (शि. पु. ३, ४३)। सब देवों के भव्य आगमन पर मैना बहुत प्रसन्न होती है पर शिव को देखते ही जल भुन जाती है। उसको छलने के लिए शिव अकस्मात् ही "एक विचित्र रूप" धारण करते हैं (शि. पु. ३, ४३, ४५) और उनके पीछे चलने वाले असुर रानी को डरा देते हैं।

तुलसी ने शिव के इस रूपपरिवर्तन का वर्णन नहीं किया, और ठीक ही समझा कि शिव का कपालों तथा सर्पों से युक्त विकराल रूप मैना को भयभीत करने में पर्याप्त है। स्वयं शिव भी अपनी इस वेषभूषा से सन्तुष्ट हैं पर प्रेक्षकों पर उसका क्या प्रभाव है इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। बरातियों के क्रम में परिवर्तन करने का और शिव के गणों द्वारा शिव का अनुकरण कराकर[1] उनके प्रताप को द्विगुणित कराने का विचार चतुर विष्णु को आया क्योंकि वे संस्कारपण्डित थे। सीधे-सादे शिव को यह मनोविनोद पसंद आया, विष्णु की इच्छा के अनुसार शिव ने अपने गणों को तुरन्त बुला लिया ...... और उनको देखकर वे बहुत हंसे। शिव के विचित्र और विकराल गणों का, उनके नाचने गाने, और इंगित इत्यादि का वर्णन तुलसीदास ने एक छन्द और एक सोरठे में किया है—

जस दूलहु तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता॥[2]

मानस में यह सारी कथा एक मनोरंजन वार्ता के रूप में वर्णित है। परन्तु बाद में उसका विषय कुछ उच्चकोटि का हो गया है। ९४ वें पद्य से पार्वतीचरित के अन्त तक, प्रत्येक पद्य को अन्तिम चौपाई और अन्तिम दोहे के बीच एक हरिगीतिका छन्द है। जैसे पहिले कामदेव के विजय-प्रस्थान के अवसर पर वैसे ही यहाँ पर ये छन्द शिव पार्वती के विवाह के वर्णन की रम्यता और विषय की उत्कृष्टता को बढ़ा देते हैं।

मानस में शिवपुरण की कथा को कहीं २ संक्षिप्त और अधिक रोचक बनाया गया है। शिव और उनके गणों के आगमन से सारे नगर में भय छा जाता है। अपने भावी दामाद के दर्शन से मैना निराश हो जाती है, वह अपनी पुत्री के साथ अपनी हत्या करने की बात करती है व नारद को कोसती है, केवल बुद्धिमती पार्वती ही अडिग रहती हैं।

शिवपुराण में, इस स्थल पर सब को आश्वासन देने के लिए वशिष्ठ (या नारद) उपस्थित होते हैं। वे घोषणा करते हैं कि शिव ब्रह्म हैं और पार्वती प्रकृति हैं, और इन्होंने पहिले दक्ष के घर में

---

[1] बरातियों के क्रम में परिवर्तन का उल्लेख मानस में इतना स्पष्ट नहीं है जितना कि शिवपुराण में। परन्तु कथा को देखने से प्रतीत होता है कि शिव बरातियों में सबसे पीछे हो गए थे।

[2] रा. च. मा. १, ९४, १। मानस में (९३, ३-४ व छन्द) शिव के गणों का वर्णन शिवपुराण ३, ४३, ५२-५५ के अनुसार है।

और फिर हिमाचल राजा के यहाँ अपने सनातन पति से संयोग प्राप्त करने के कारण जन्म लिया,[१] इसी प्रकार मानस में जब पार्वती की मां और अन्य प्रेक्षक उसके भयंकर वर को देखकर निराश होगए तो नारद ने ही सबकी चिन्ता को यह कहकर दूर किया कि—

मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥
जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥
तहँहुँ सती संकरहि बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं॥
एक बार आवत सिव संगा। देखेउ रघुकुल कमल पतंगा॥
भयउ मोहु सिव कहा न कीन्हा। भ्रम बस बेषु सीय कर लीन्हा॥

सिय बेषु सतीं जो कीन्ह तेहिं अपराध संकर परिहरीं।
हर बिरहँ जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरीं॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकर प्रिया॥[२]

यहाँ यह बताना उचित होगा कि तुलसीदास ने शिव को ब्रह्मा नहीं कहा है, परन्तु इसका अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि पार्वती को उनकी शक्ति और "जगत की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली" कहा गया है। यहाँ नारद की उपस्थिति और उनके वचनों से पार्वती के माता पिता के भय का सर्वथा अन्त हो जाता है और कथा के सुखमय अन्त में भी सन्देह नहीं रह जाता। नारद के इस कथन से पार्वती के जीवन पर भी एक नया प्रकाश पड़ता है क्योंकि उनके दुर्भाग्य का कारण उनका अपराध था, जबकि उन्होंने राम को धोखा देने के लिए सीता का रूप धारण किया था। इसी कारण पूर्वभूत-पार्वती सती पर इतनी विपत्ति आई। इस लम्बी परीक्षा से शुद्ध होने पर शिव की सनातन अर्धांगिनी को पुनः अपना अधिकार प्राप्त हो गया।

विवाह के संस्कार व अन्य उत्सवों को शिवपुराण में बहुत ही विस्तार से दिया है पर तुलसी ने उनको संक्षिप्त कर दिया है और यत्रतत्र उसमें मौलिकता भी ला दी है। विष्णु ब्रह्मा और सर्वदेवता उपस्थित हैं और सब के बैठ जाने पर जब शिव बैठते हैं तो वे हृदय में अपने "प्रभु रघुपति" का स्मरण करते हैं[3]। तब पार्वती को लाया जाता है। पर तुलसी ने उनके सौन्दर्य को यहाँ भी संक्षेप में वर्णित किया है—

[१] शि. पु. ३, ३२, २९-४३ (मथुरा का संस्करण), शि. पु. भाषा ३, ३२ में इन वचनों को वशिष्ठ ने नहीं पर रा. च. मा. के समान नारद ने कहा है।

[२] रा. च. मा. १, ९८, १-४ व छन्द।

[3] रा. च. मा. १, १००, २।

कोटिहुँ बदन नहिं बनै बरनत जग जननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा ॥[१]

ब्राह्मणों ने "वेदों के अनुसार" विवाह की सभी रीतियां करवाई और पर्वतराज हिमाचल ने दहेज़ में बहुत कुछ दिया पर फिर भी इतना थोड़ा देने के लिए क्षमा मांगी। और मैना ने प्रेमपूर्ण हृदय से अपनी पुत्री को विदा करते हुए कहा—

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा ॥

.... परन्तु यह कहते २ मैना के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गए और अपनी पुत्री को हृदय से लगाकर उसने कहा—

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं ॥[२]

कुमारसम्भव के ८ वें सर्ग की शिव-पार्वती की विलास-लीला ने मानस में स्थान नहीं पाया; और न ही इस कथा के उपसंहार अर्थात् कार्तिकेय के जन्म और तारकासुर पर उसकी विजय की कथा ने। यह कथा अति प्रसिद्ध है कह कर तुलसी ने इस संक्षेपीकरण के लिए क्षमा मांगी है—

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी ॥
करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥
हर गिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ ॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारकु असुरु समर जेहिं मारा ॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षन्मुख जन्मु सकल जग जाना ॥

जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं बृषकेतु सुत कर चरित संछेपहिं कहा ॥[३]

स्पष्ट है कि कार्तिकेय के जन्म व उसके प्रताप से तुलसीदास को कोई प्रयोजन नहीं। उन्होंने केवल शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन किया है। और मानस के बालकाण्ड में विवाह के इस प्रसंग से शिवचरित की अन्तिम फलस्तुति का संबन्ध है—

यह उमा संभु बिबाहु जे नर नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं ॥

"शिव पार्वती के विवाह की इस कथा को जो भी नरनारी कहेगा या गाएगा, वह कल्याण के कार्य और विवाह आदि मंगलों में सदा सुख पाएगा"।[४]

---

[१] वही १, १००, छन्द।
[२] वही १, १०२, २-३।
[३] वही १, १०३, २-४ व छन्द।
[४] रा. च. मा १, १०३ छन्द।

इस कथा का उपयोग कैसे हो, यह इस फलस्तुति से स्पष्ट हो जाता है। विवाहों तथा अन्य उत्सवों पर इसका गान होना चाहिए। अतः मानस का पार्वतीचरित एक "मंगल" है।

मानस का "पार्वती-चरित" और "पार्वती-मंगल"

मानस के बालकाण्ड में वर्णित शिव और पार्वती का विवाह तुलसीदास की एक लघुकृति—"पार्वती मंगल" का विषय भी है। यह १६० पादों का एक छोटा सा काव्य है। इस के पद्यों में सामन्यतया[१] आठ अरुण छन्द[२] हैं और उसके बाद एक हरिगीतिका छन्द[३] आता है।

मानस के 'पार्वती-चरित' की तुलना में 'पार्वती मंगल' छोटा ग्रन्थ है परन्तु इनमें कई मिलते जुलते तथा सदृश स्थल हैं। इन दोनों की कथा में समानताएँ इतनी अधिक हैं कि कई समालोचकों (कम से कम वे जो 'पार्वतीमंगल' को तुलसी की रचना ही मानते हैं)[४] का विचार है कि इनमें से कोई एक ग्रन्थ दूसरे के आधार पर रचा गया है।[५]

मानस के समान, 'पार्वती-मंगल' का रचनाकाल भी ज्ञात है। पहिले पद्य के पाँचवें छन्द में कहा गया है कि इस कविता को जय सम्वत् में, फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में आश्विन नक्षत्र के योग में बुधवार को रचना आरम्भ किया गया। पण्डित सुधाकर द्विवेदी की गणना के अनुसार जय संवत् विक्रम सम्वत् १६४३ में पड़ता है। इस बात को ग्रियर्सन और सभी आधुनिक समालोचकों ने स्वीकार किया है[६]। इसके अनुसार यह मानना होगा कि 'पार्वती-मंगल' मानस के १२ वर्ष बाद रचा गया क्योंकि मानस का रचनाकाल सम्वत् १६३१ बतलाया गया है। अतः लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पार्वती मंगल' मानस के 'पार्वती-चरित' का एक संक्षिप्त तथा संशोधित संस्करण है।

तुलसी ने इस 'सारांश' अथवा 'संक्षिप्त संस्करण' की पृथक् रचना क्यों की, इसका कारण स्पष्टतया ज्ञात नहीं। एक समालोचक के अनुसार इस की रचना करके तुलसी ने शैवों को रामधर्म के

---

[१] कुछ पद्यों मे १० अरुण छन्द भी हैं।

[२] केलोग तथा कोलब्रुक ने इस छन्द का वर्णन नहीं किया। पर ग्रियर्सन ने (इ. एँ १८९३, पृ. २०२) कहा है—"इसके दो चरणों में से प्रत्येक में २० मात्रा होती हैं, अन्तिम दो अक्षर लघु होते हैं।"

[३] दे०, भूमिका।

[४] किसी माननीय तर्क के बिना मिश्रबन्धुओं ने इसको तुलसी की रचना नहीं माना है। (हिन्दी नवरत्न २, पृ० ३२)।

[५] इन समानताओं की सूची के लिए दे० रा. न. त्रिपाठी, १, पृ० ४०७; सद्गुरुशरण अवस्थी, तुलसी के चार दल, भाग १ पृ० १९४ इत्यादि; इन्होंने भाग एक पृ० १७६ पर पार्वती-मंगल का कथासार भी दिया है।

[६] इं एँ. १८९३, पृ० ८९-९४; मा. प्र. गुप्त, तुलसीदास, पृ० २३२-३३।

प्रति आकृष्ट किया है।[१] कदाचित् रा. न. त्रिपाठी[२] का मत अधिक माननीय है कि इस 'पार्वती-मंगल' की रचना एक विशेष प्रयोजन से हुई थी, अर्थात् हिन्दू विवाहों के समय कल्याणकारी गान के निमित्त। इस काव्य के अन्तिम पादों से भी इसी प्रयोजन की पुष्टि होती है—

कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-शंकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥

"जो लोग इसे मंगलकार्य, विवाह आदि उत्सवों के अवसर पर गावेंगे उनको, तुलसीदास कहते हैं कि शिवपार्वती की कृपा से प्रसन्नता और मन चाही वस्तुएँ मिलेंगी।"[३]

परन्तु 'पार्वती-चरित' के अन्त में भी यही कथन लगभग इन्हीं शब्दों में मिलता है और 'पार्वती-चरित' का भी यही प्रयोजन रहा होगा।[४] फिर भी यह समझना कठिन है कि तुलसीदास ने इस दूसरे संस्करण को लिखने की आवश्यकता क्यों समझी।

वास्तव में 'पार्वती-मंगल' 'पार्वती-चरित' का साधारण संक्षिप्त संस्करण नहीं है, इन दोनों में कुछ भेद है। पार्वती-मंगल में—

१—नारद की भविष्यवाणी के पश्चात् पार्वती के माता पिता इन्हें शिव की सेवा और प्रसाद पाने के लिए भेजते हैं। शिव के उदासीन रहने पर, देवगण कामदेव से विनती करते हैं। और कामदेव द्वारा शिव के प्रलोभन के समय पार्वती उपस्थित रहती हैं।
२—"बटु" के रूप में स्वयं शिव ने पार्वती का प्रलोभन किया।
३—पार्वती की स्थिरता से सन्तुष्ट, शिव स्वयं ही उन्हें अपना सच्चा रूप दर्शाते हैं।
४—नगर में बरात के आने पर शिव के भयंकर रूप से भयभीत मैना के संमुख शिव अपनी मनोहर छवि को प्रगट करते हैं।

इन बातों के कारण 'पार्वती-मंगल', कुमारसम्भव व शिवपुराण अर्थात् पारम्परिक कथा के अधिक समीप है। मानस में दी कथा की अपेक्षा 'पार्वती-मंगल' की कथा कम विस्तृत और मौलिक है। इसमें राम का कोई कार्य नहीं और न भक्ति के प्रोत्साहन का लेशमात्र संकेत मिलता है—यह एक सुन्दर कविता है और लेखक का ध्येय किसी सिद्धान्त की विवेचना करना नहीं है। यदि तुलसीदास ने 'पार्वती-मंगल' की रचना वास्तव में मानस के बाद की तो यह निष्कर्ष निकलता है कि वे यहाँ प्रगति-विमुख रहे और अपनी पूर्ववर्ती मौलिकता को त्याग दिया। परन्तु वस्तुतः यह कहना चाहिए कि मानस का 'पार्वती-चरित', 'पार्वती-मंगल' का परिवर्धित और संशोधित संस्करण है।

---

[१] सद्गुरुशरण अवस्थी, वही, भाग १, पृ० १६८ इत्यादि।
[२] तुलसीदास और उनकी कविता, भाग १, पृ० ४०६।
[३] पार्वती-मंगल, १६४, हरिगीतिका।
[४] दे० ऊपर पृ० ५२।

दूसरी ओर 'पार्वती-मंगल' तुलसीदास की अन्य लघुकृति 'जानकी-मंगल' के समीप है। यद्यपि 'जानकी-मंगल' में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है तथापि डा. मा. प्र. गुप्त के अनुसार यह कवि की युवाकाल की रचना है और मानस से कदाचित् चार वर्ष पूर्व और 'पार्वती मंगल' से १६ वर्ष पूर्व [1] संवत् १६२७ में संपन्न हुई। 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' में न केवल विषय और प्रेरणा के आधार की समानता है परन्तु शैली, भाषा और छन्द की दृष्टि से भी वे एकसमान हैं—दोनों ही तुलसीदास के सर्वप्रथम ग्रन्थों में से एक अन्य मंगल काव्य "रामलल्लानहछू" [2] के समान पूर्वी (अर्थात शुद्ध) अवधी में लिखी गई हैं। पर 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' के बीच इतना काल-व्यवधान स्वीकार करना कठिन है। अतः पार्वती-मंगल का रचनाकाल और मानस के 'पार्वती-चरित' से उसका संबन्ध एक समस्या ही है। हमारे विचार में, मानस के बालकाण्ड में 'पार्वतीचरित' के समावेश को समझने के लिए 'पार्वती-मंगल' को पूर्ववर्ती मानना आवश्यक है।

४—रामचरित मानस में शिव-चरित का स्थान—

मानस के इस प्रकरण का प्रमुख आधार शिवपुराण है, इसमें शिव को ब्रह्मा, विष्णु और अन्य सभी देवों से ऊँचा माना गया है तथा उन्हें उपनिषद् के परब्रह्म से अभिन्न और सती पार्वती को उनकी "शक्ति", "मूल प्रकृति" और "जगजननी" कहा गया है।

पर शिव के स्थान पर राम की प्रधानता और शिव को राम के समक्ष गौण बताना, मानस के 'शिवचरित' का विशेष लक्षण है—मानस में शिव नहीं अपितु हरि-राम को निरन्तर परब्रह्म मानकर पूजित किया गया है; स्वयं शिव ने ही राम को "सच्चिदानन्द" कहा है। शिवपुराण में जहाँ भी "शिव की माया" के प्रभाव का वर्णन है, मानस में वहाँ उसे "हरि की माया" का फल बताया है। शिव नहीं अपितु राम ही सबके हृदय के रहस्य को जानते हैं और सब के संकल्पों के प्रेरक हैं—"जो कुछ राम ने रच रक्खा है वही होगा, तर्क करके कौन विस्तार बढ़ावे है"[3]।

मानस के इस भाग में, राम 'हरि' का पर्याय है और इस शब्द का अभिप्राय 'परब्रह्म' से है। दण्डकारण्य में शिव और सती के सामने ही राम, दशरथ के पुत्र के रूप में, अल्पकाल के लिए उपस्थित हुए हैं। परन्तु, परब्रह्म के रूप में वे वास्तव में इस नाटक के सूत्रधार हैं—राम की दिव्यता में सन्देह करने से सती ने आदर और जीवन दोनों खोए; पर राम की कृपा से उन्हें ये दोनों पुनः प्राप्त हो गए। राम की भक्ति के कारण शिव ने स्वयं अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया और राम के आदेशानुसार उसको पुनः स्वीकार करने की अनुमति दी। राम ने ही इन दिव्य दम्पती में विरह और उन्हीं ने इन दोनों का पुनः समागम कराया—वे ही परम प्रतापी हैं।

यदि परब्रह्म-स्वरूप राम का यह स्थान है तो विष्णु के अवतार राम और स्वयं विष्णु का क्या महत्व है? शिव-चरित में विष्णु उपस्थित होते हैं पर उनका स्थान एक सहयोगी का है, शिवपुराण में भी ऐसा ही है; परन्तु इस पुराण में राम व विष्णु को अभिन्न माना गया है। मानस में यह एकता

[1] मा. प्र. गुप्त, तुलसीदास, पृ० २५४; दे. आगे अध्याय ६, पृ० १२४-१२५।
[2] मा. प्र. गुप्त (वही पृ० २५४) के अनुसार इसका रचना काल १६११ विक्रमी संवत् है।
[3] रा. च. मा. १, ५२, ४।

संभव नहीं; क्योंकि यहाँ राम का गौण स्थान नहीं हो सकता। यदि कहीं २ कवि ने राम को विष्णु के तुल्य बताया भी है तो उन्हीं परिस्थितियों में जहाँ राम की प्रधानता बनी रहे जैसे आगे वर्णन किये जाने वाले[१] नारदमोह के कथानक में। प्रस्तुत प्रसंग में, शिव के मुख्य पात्र होने के कारण, विष्णु, और ब्रह्म के अवतार राम दोनों ही की पृथक् सत्ता है। यह सत्य है कि इस कथन का एक अपवाद है—सीता की खोज में राम को विह्वल देखकर सती ने कहा है—

विष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥[२]

यह स्थल शिवपुराण से लिया गया है जहाँ पर विष्णु और उनके अवतार राम को एक माना गया है। इस स्थल को छोड़कर मानस के 'शिव-चरित' में अन्यत्र ब्रह्मा और शिव तथा विष्णु सब को ही राम के समक्ष गौण माना गया है। पार्वती के स्वप्न में, शिव और ब्रह्मा के साथ विष्णु को भी राम की पूजा करते बताया गया है।

शिवपुराण में सती का चरित्रचित्रण वही है जो अन्य पुराणों में, अर्थात् वे पूर्णतया शिव की भक्त हैं, उन्हें प्रसन्न रखने को चिन्तित हैं और उनका प्रसाद पाने के लिए सब कुछ करने को तय्यार हैं; स्वयं जगज्जननी होने के कारण जगदीश्वर शिव के समागम का उत्कट प्रयास करती हैं। अत: राम से हीन होने पर भी, रामचरितमानस की कथा में शिव की प्राचीन विभूति अवशिष्ट रह गई है और उसके शैव मूलाधार के कुछ चिह्न सुरक्षित रहे हैं। कई स्थलों में शिव और पार्वती को "जगत्पिता और जगज्जननी" कहा गया है। और ऋषि भी पार्वती की प्रशंसा करते समय कहते हैं—

तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।[३]

आगे चलकर नारद मैना से कहते हैं कि उसकी पुत्री वस्तुत: "अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि सदा संभु अरधंग निवासिनि" है। इस प्रकार के कथनों का मानस के रामप्रधान प्रसंगों से समन्वय करना कठिन है। मानस में सती-पार्वती यह तो नहीं कहतीं कि शिव परब्रह्म हैं पर वे वास्तव में शिव की ही भक्त रहती हैं।

पुराणों की अपेक्षा मानस में सती-पार्वती की शिवभक्ति अधिक व्यक्त है। अपने दिव्य पति के प्रति देवी की अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध और निष्काम स्थिरता मानस में भक्ति की महिमा की पोषक है। यह शिवभक्ति यद्यपि सती में, मात्रा में कम और कम सुदृढ़ है तथापि पार्वती में अधिक सुधरे और पवित्र रूप में प्रगट होती है क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि राम परब्रह्म और शिव के

---

[१] दे. अध्याय ४।

[२] रा. च. मा. १, ५१, १। रा. च. मा. में जब विष्णु को परब्रह्म माना गया है तो "हरि" कहकर ही उनका उल्लेख किया गया है।

[३] रा. च. मा. १, ८१, दोहा।

प्रिय गुरु हैं। सती का उदाहरण और उसकी विपदा की कथा से उन सब शैवभक्तों को चेतावनी मिल जाती है जो कि अपनी अन्ध और संकुचित भक्ति के कारण राम की प्रधानता को मानना स्वीकार नहीं करते जब कि स्वयं शिव ने उन्हें अपने हृदय में बिठाया हुआ है।

पार्वती शिव की भक्त हैं और शिव राम के महाभक्त हैं। सीता का रूप धारण कर लेने पर शिव ने यदि सती का परित्याग किया तो वे राम की भक्ति के कारण ही; दक्ष के यज्ञ में सती का देहत्याग, यद्यपि उसके अपराध ही के कारण हुआ, तथापि शिव के लिए एक प्रकार से कल्याणकारी रहा क्योंकि फिर शिव राम की भक्ति में सम्पूर्णतया लीन हो सके। स्वयं राम ने ही बीच में पड़कर शिव को अकेलेपन के सुखों को छोड़ने की प्रेरणा दी। शिव ने स्पष्ट कहा है कि विवाह की अनुमति का कारण विवाहित जीवन का सुख नहीं परन्तु गुरु की आज्ञा है। अत: मानस के इस भाग में शिव "महा भक्त" और भक्ति के नेता के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

शिव को रामभक्त के रूप में प्रस्तुत करके तुलसीदास भागवत और विशेष कर नाभा जी की भक्तमाला से सहमत हैं क्योंकि इस अन्तिम कृति में १२ महाभक्तों में शिव की संख्या तीसरी है।[1] व्याख्याकार प्रियादास ने राम के प्रति शिव की भक्ति की अत्यधिक प्रशंसा की है और इसके प्रमाणस्वरूप सती के परित्याग की कथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह कथा "प्राय: सुविदित नहीं है"। सम्भवत: प्रियादास ने यह कथा रामचरितमानस से ली हो; इस व्याख्याकार ने कहा है कि उसे यह अत्यधिक प्रिय है और इसका वर्णन करते उसे विशेष आनन्द होता है।[2] "शिव चरित" का यह रामाश्रयी संस्करण स्पष्टतया तुलसीदास की मौलिक देन है, वस्तुत: यह उनकी शक्तिशाली प्रतिभा का परिचायक है, और सभी भागवतों को माननीय और प्रशंसनीय है क्योंकि शैवमत और असाम्प्रदायिक हिन्दू धर्म की तुलना में, इससे भागवतों की धारणाएँ पुष्ट होती हैं।

मानस के इस भाग में तुलसी पर पौराणिक मूलाधार का प्रभाव बहुत ही घनिष्ट है। विशेषकर "सतीचरित" में मानस ने शिवपुराण का अधिक अनुकरण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुकरण कवि की सुनिर्धारित कल्पना के अनुकूल है, उनकी प्रतिभा की न्यूनता के कारण नहीं—क्योंकि वे शैवकथानकों को रामचरित में समाविष्ट करना चाहते थे। एक प्रकार से तुलसी ने उन्हें जैसा का तैसा ग्रहण किया है और उनमें कम से कम परिवर्तन किए हैं। इसीलिए इस कथा में उपरिनिर्दिष्ट कई विरोध आ उपस्थित हुए हैं यद्यपि उनका शैवाधार स्पष्टतया अनुभूत किया जा सकता है।

राम के सच्चे भक्त को, राम के प्रिय शिव के प्रति अत्यधिक आदर नहीं दिखाना चाहिए था। पर अपने उपसंहार-भाषण में, याज्ञवल्क्य मुनि ने, जो सिद्धांतत: "शिवचरित"[3] के प्रस्तुत-कर्ता हैं, शिव की भक्ति को कर्तव्य बताया है—

अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा॥
सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥

---

[1] ग्रियर्सन - ग्लीनिङ्गस् . . . . . ज. रा. ए. सो., १९०९ पृ० ६३७ तथा १९१० पृ० ९७।

[2] ग्रियर्सन - ग्लीनिङ्गस्, ज. रा. ए. सो., १९०९ पृ. ६४१।

[3] दे० ऊपर पृ० ३२।

बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू ।।
सिव सम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी ।।
पनु करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई ।।

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार ।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार ।।

मैं जाना तुम्हार गुन सीला। कहउँ सुनहु अब रघुपति लीला ।। [१]

[१] रा. च. मा. १, १०४, २-दो., १०५, १ ।

अध्याय—३

रामचरितमानस का बालकाण्ड—शिवपार्वती संवाद

(१, १०९–१२०)

मानस की कथा शिव-पार्वती संवाद द्वारा प्रस्तुत की गई है। बालकाण्ड के ४७ वें पद्य में याज्ञवल्क्य इस संवाद का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि शिव ने पार्वती को रामकथा सुनाई। १०५वें पद्य में यही मुनि, भरद्वाज को इस संवाद की पृष्ठभूमि बताते हैं कि राम की दिव्यता के संबन्ध में पार्वती के सन्देहात्मक प्रश्नों के उत्तर में शिव ने उन्हें यह कथा बताई थी।

वैष्णव संप्रदायों ने इस शिवपार्वती संवाद की कथा को तांत्रिक साहित्य से लिया। यह कथा कई पुराणों में, विशेषकर पद्मपुराण में मिलती है—इस पुराण के दो अन्तिम (पाताल और उत्तर) काण्डों में, जो भागवतपुराण के परवर्ती हैं, विष्णु और अधिक विशिष्टतया राम की प्रधानता का प्रतिपादन हुआ है।[1] राम-संप्रदाय के साहित्य में और विशेषकर अध्यात्म रामायण में भी इसका प्रयोग हुआ है।

इस संवाद की पृष्ठभूमि क्या है और इसका अवसर क्या था, इस विषय में अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस में समानता है; दोनों ग्रन्थों में—

१—इस संवाद का स्थल कैलाश पर्वत है।
२—पार्वती सर्वप्रथम शिव की महिमा गाती हैं।
३—यद्यपि स्त्री होने के कारण वे राम-रहस्य को जानने की अधिकारिणी नहीं हैं पर शिव के प्रति प्रेम का सहारा लेकर पार्वती उनसे उपदेश करने का आग्रह करती हैं।
४—सीता के विरह में राम की विह्वलता से पार्वती को विशेष आश्चर्य होता है।
५—शिव, पार्वती को धन्य कहकर इस विचार को अभिव्यक्त करते हैं कि पार्वती के मन में कोई "भ्रम" नहीं है पर इस कथा के सुनने का आग्रह एक पावन व्याज है।

---

[1] पद्मपुराण के पाताल-काण्ड में राम की कथा वर्णित है पर वर्णनसंबन्धी कई बातें प्राय: भागवतपुराण से लीगई हैं। सूत ऋषि को पुराणों पर आश्रित शिव-पार्वती संवाद सुनाता है; उत्तर-काण्ड (२६–७२) में वशिष्ठ कैलास पर हुए शिव-पार्वती संवाद को दोहराते हैं, जिसमें शिवने विष्णु के अवतारों का वर्णन किया है। दे० विल्सन, वर्क्स ३, पृ० २१ इत्यादि।

पर इस समानता से यह सुनिश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि संवाद का यह विचार तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण से लिया, क्योंकि यह परिपाटी केवल अध्यात्मरामायण की ही नहीं है अपितु एक साहित्यिक परम्परा से संबन्धित है। इसके अतिरिक्त, अध्यात्मरामायण में इस संवाद का उपसंहार मानस के 'शिवपार्वती' संवाद के समान नहीं है—अपनी कठिनाइयों को बताने के पश्चात् पार्वती उन सब बातों की ठीक २ परिगणना करती हैं जिनके विषय में सुनने को वे उत्सुक हैं—

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥
कहहु जथा जानकी बिबाहीं। राज तजा सो दूषन काहीं॥
बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥

बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहिं बिग्यान मगन मुनि ग्यानी॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥
औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥
तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥[1]

अध्यात्मरामायण में पार्वती के प्रश्नों का संबन्ध "राम की वास्तविक प्रकृति" और सामान्यतया रामकथा से है; शिव ने उत्तर में रामकथा का वर्णन किया है; और यह कथा प्रमुखतया वाल्मीकि की कथा के समान है। इसके विरुद्ध मानस में, पार्वती के प्रश्न एक योजना के रूप में हैं और यह वाल्मीकि से विलक्षण है—"राम-अवतार के कारण" और राम की "बाल लीला" के विषय में वाल्मीकि ने तो कुछ नहीं कहा, पर ये दो विषय मानस के बालकाण्ड में विस्तार से वर्णित हैं;[2] उत्तर-काण्ड के "भुशुण्डि चरित" में भी इन विषयों का विवरण है क्योंकि भुशुण्डि "बाल-राम के महान् भक्त" हैं (उत्तरकाण्ड, ७५–७७)। मानस के बालकाण्ड के संपूर्ण अन्तिम भाग में, राम और सीता के विवाह की पृष्ठभूमि है, जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा बहुत विस्तृत और भिन्न है। इसके अतिरिक्त, पार्वती ने राम की "लीलाओं" अर्थात् सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् राम के (मायावी) कार्यों के विषय में शिव से पूछा है; मानस के उत्तर काण्ड में भी राम के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् उनकी यात्राओं और अयोध्या की जनता तथा मित्रों के समक्ष दिए उपदेशों का उल्लेख है,

---

[1] रा. च. मा. १, ११०, २, दोहा; १११, १–३।

[2] दे. अध्याय ४, "अवतार के कारण", व अध्याय ५, "राम का जन्म तथा बाल्पन"।

प्रत्येक कथानक के पश्चात् प्रवचनकर्ता और श्रोता अपने घर वापस लौट आते हैं[१]—निश्चय ही पार्वती के प्रश्नों का संबन्ध उत्तरकाण्ड के इस भाग से है।

पार्वती की अन्तिम विनती का विषय "भक्ति और ज्ञान" के लक्षणों की जिज्ञासा है। वस्तुत: मानस के उत्तरकाण्ड के अन्तिम भाग में भी इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है, परन्तु वहाँ वक्ता शिव नहीं भुशुण्डि हैं। भुशुण्डि ने "भक्ति" और "ज्ञान" के विषय में गरुड़ को एक विस्तृत व्याख्यान दिया है (उत्तरकाण्ड, ११२ इत्यादि)। इस प्रकार शिवपार्वती संवाद की विशेषताओं को मानस के बालकाण्ड के प्रथम भाग और उत्तर काण्ड की सहायता से समझा जा सकता है—मानस के इन भागों में वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण का कोई भी प्रभाव नहीं अथवा लगभग नहीं के बराबर प्रभाव है।

शिव का व्याख्यान—

अध्यात्मरामायण के समान, रामचरितमानस में पार्वती के प्रश्नों के उत्तर में शिव एक लम्बा दार्शनिक व्याख्यान देते हैं।[२] शिव उन लोगों को धिक्कार कहते हैं जो अपने अज्ञान के कारण परब्रह्म राम की दिव्यता में अश्रद्धा रखे हैं। अध्यात्मरामायण में यह व्याख्यान वस्तुत: अद्वैत-दर्शन-विषयक उपदेश का रूप लेता है। मानस में शिव सर्वप्रथम बाल-राम के प्रसाद की विनती करते हैं—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥[३]

इससे ज्ञात होता है कि जैसे उत्तरकाण्ड में काग भुशुण्डि, वैसे ही यहाँ शिव बाल-राम के भक्त हैं। इसके पश्चात् शिव उन सबको धिक्कारते हैं जो हरि-राम के भक्त नहीं। वे राम की कथा की महिमा का वर्णन करते हैं और कामधेनु तथा "सन्देह रूपी पक्षियों को उड़ा देने वाली हाथ की ताली"[४] से इसकी तुलना करते हैं। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि यह कथा "राम के नाम, उनके गुण, उनके जन्म और उनके पराक्रमों"[५] के समान अनन्त है—

तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥[६]

---

[१] दे० अध्याय १२, पृ० २७४ इत्यादि, "धार्मिक परिशिष्ट"।

[२] अध्यात्मरामायण १, १, १६ इत्यादि।

[३] रा. च. मा. १, ११२, १-२।

[४] रा. च. मा. १, ११४, १।

[५] वही, १, ११४, २।

[६] वही १, ११४, ३।

परन्तु आमुख के अनुसार (बालकाण्ड ३०, २), स्वयं शिव ही इस कथा के रचयिता हैं।[1] यहाँ प्रतीत होता है कि उन्होंने रामकथा किसी दूसरे से सुनी। यही बात (केवल) उत्तरकाण्ड में है जहाँ कहा गया है कि शिव ने रामचरितमानस भुशुण्डि से सुना।

मानस में, शिव के व्याख्यान का द्वितीयार्ध अध्यात्मरामायण का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। पार्वती को माया या अविद्या का रहस्य बताने के लिए शिव ने केवल उपमाएँ ही नहीं बल्कि वेदान्त की शब्दावली भी ली है और कहा है कि अविद्या के कारण ही जीव इतना आच्छादित हो जाता है कि वह अपने दिव्य स्वभाव को पहिचान नहीं पाता और परब्रह्म पर मायावी गुणों का आरोप करने लगता है—

सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम ॥
सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना ॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ ॥

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ ॥
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥
बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥

[1] दे० अध्याय १, पृ० १९।

जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ।।
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ।।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ।।[1]

रामचरितमानस की कथाओं में आनेवाली सभी गीताओं में यह "महादेव गीता" सब से लम्बी और परिष्कृत है। दार्शनिक शब्दावली का सबोध प्रयोग और वेदान्त से लिए रूपक इसकी विशेषता हैं। फलस्वरूप शैली भी कुछ शास्त्रीय हो गई है यद्यपि कवि की सामान्य शैली ऐसी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्म-रामायण की 'महादेव गीता' के अनुरूप तुलसीदास भी रामकथा का कोई दार्शनिक आमुख लिखना चाहते थे।

अध्यात्म-रामायण में, अपने उपदेश को मानो अधिक बल देने के लिए शिव ने राम, सीता और भक्त हनुमान को भी प्रस्तुत किया है। सीता हनुमान से कहती हैं कि मैं ही मूलप्रकृति हूँ जिससे संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है।[2] समस्त कर्मों का वास्तविक कारण मैं ही हूँ क्योंकि ब्रह्म-स्वरूप राम स्वत: स्थिर और कर्महीन हैं पर बुद्धिहीन लोग समस्त कर्मों को राम पर आरोपित करते हैं। "यह राम तो न चलते हैं न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्यागते हैं और न कोई अन्य क्रिया करते हैं।"[3]

अध्यात्म-रामायण में राम ने जो उपदेश हनुमान को दिया है उसे "रामहृदय" का नाम दिया गया है और वह वास्तव में वेदान्त का "सार संग्रह"[4] है। यहाँ राम का ध्येय "आत्मा, अनात्मा और परमात्मा तत्व" की अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता के वेदान्तिक सिद्धान्त की व्याख्या करना है। इस सिद्धान्त को सूत्र रूप में "तत्वमसि" मे व्यक्त किया जाता है, "मेरा भक्त इस उपर्युक्त तत्व को समझ लेने के बाद मेरे स्वरूप को प्राप्त होने का पात्र हो जाता है।"[5]

अध्यात्म-रामायण में राम, सीता और हनुमान का यह वार्तालाप "महादेव गीता" का पूरक है, परन्तु मानस में उसकी छाया प्राप्त नहीं। यद्यपि मानस में महादेव ने कोई सैद्धान्तिक परिभाषा नहीं की तथापि इस रहस्यात्मक अविद्या या माया के विषय में और परब्रह्मस्वरूप राम से इनके संबन्ध के विषय में उनकी धारणा भिन्न प्रतीत होती है—

[1] रा. च. मा. १, ११५, सोरठा, ११६-११८।
[2] अ. रा. १, १, ३४।
[3] वही, १, १, ४३।
[4] वही १, १, ५४ "सर्ववेदान्तसंग्रहम्"।
[5] वही, १, १, ५१।

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू ।।
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ।।[१]

यहाँ पर सीता को मूलप्रकृति या ब्रह्म की शक्ति से एकरूप नहीं बताया गया है। इससे भो अधिक प्रमुख भेद यह है कि उन्हें उन समस्त क्रियाओं का उत्तरदायी नहीं बनाया गया जिनको अज्ञानी लोग राम पर आरोपित करते हैं। इस प्रकार, मानस के लेखक ने अद्वैत के आनुयायियों के "माया" के सिद्धान्त को मानने में कुछ संकोच प्रदर्शित किया है और उधर, अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने उन शाक्त तत्वों को भो स्वीकार नहीं किया जो अध्यात्म-रामायण में अद्वैत से सम्मिश्रित हैं।

शिव के इस व्याख्यान से, पार्वती बहुत प्रसन्न हैं क्योंकि इससे उनकी सब कठिनाइयाँ दूर हो गईं—

ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ।।
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ ।।[२]

राम-अवतार के "कारण" के विषय में शिव से पूछे एक पहिले प्रश्न को (१, ११०, ७) पार्वती फिर से पूछती हैं (१, १२०, ३-४) और अगले पद्य में (१, १२१, १) शिव का उत्तर आरम्भ हो जाता है—

सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए।

परन्तु १२० वें पद्य के दोहे और १२१ वें पद्य की पहिली चौपाई के बीच तीन सोरठे हैं—

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़ ।।
सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ ।।
हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।।
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु ।।

इन तीन सोरठों के बीच में आ जाने से इस सन्दर्भ की छन्दोरचना की नियमितता और भावों की तार्किक श्रृंखला त्रुटित हो जाती है। इसके अतिरिक्त इनका विषय भी अप्रासंगिक है।

पहिले सोरठे में, शिव भुशुण्डि का रामकथा के प्रस्तुतकर्ता के रूप में उल्लेख करते हैं मानो वे उनसे पहिले हुए हों। परन्तु अभी तक केवल एक बार, ३० वें पद्य में ही भुशुण्डि का प्रस्तुतकर्ता होना बताया गया है और इस पद्य में कहा गया है कि जो कथा भुशुण्डि ने कही है वह उन्होंने

---

[१] रा. च. मा. १, ११७, ४।
[२] रा. च. मा. १, १२०, १।

शिव से ग्रहण की। इन दोनों प्रस्तुतकर्ताओं का संबन्ध उत्तरकाण्ड में अन्त:परिवर्तित हो गया है जो उपर्युक्त १२० वें पद्य के पहिले सोरठे के अनुकूल है।[1]

भुशुण्डि ने जो कथा गरुड़ को सुनाई उसका नाम रामचरितमानस है। इस सोरठे में पहिली बार भुशुण्डि का संबन्ध कविता के इस शीर्षक से बताया गया है, और उत्तरकाण्ड में यह संबन्ध बहुत ही स्पष्ट है।[2]

उपर्युक्त दूसरे सोरठे में शिव पार्वती से कहते हैं कि भुशुण्डि-गरुड़ संवाद की पृष्ठभूमि को वे "आगे"[3] चलकर बताएंगे।

जो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब।

परन्तु पार्वती ने इस संबन्ध में कुछ भी तो नहीं पूछा था! उन्हें यह भी पता नहीं कि ऐसा संवाद कभी हुआ भी था या नहीं, क्योंकि शिव ने उनसे कुछ भी नहीं कहा। यहाँ "आगें कहब" का अभिप्राय उत्तरकाण्ड के भुशुण्डि-गरुड़ संवाद से समझ में आ जाता है, वहाँ पर पार्वती[4] के एक नये प्रश्न के उत्तर में शिव ने इस संवाद को प्रस्तुत किया है, अत: १२०वें पद्य के दूसरे सोरठे से उत्तरकाण्ड की आकांक्षा बनी रहती हैं।

उपर्युक्त तीसरे सोरठे में शिव एक बार फिर रामकथा के अनन्त होने की चर्चा करते हैं—यह भाव मानस के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में एक समान है। परन्तु पहिले के व्याख्यान (१. ११४, २) के विषय को देखते हुए यहाँ पर शिव की यह घोषणा पुनरुक्ति है।

बालकाण्ड के १२०वें पद्य के अन्त में इन तीनों सोरठों की स्थिति को समझने के लिए यही परिकल्पना करनी होगी कि यह उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध की रचना के बाद जोड़े गए। इनको यहाँ जोड़ने का ध्येय यह रहा होगा कि उत्तरकाण्ड के भुशुण्डि-गरुड़ संवाद की घोषणा की जा सके और उस संवाद का उपयुक्त वातावरण बन सके। बालकाण्ड में यह एक प्रकार का कृत्रिम प्रथम चरण है, क्योंकि यह सोरठे बाद में जोड़े गए और अप्रासंगिक भी हैं। इस स्थल में इन तीन सोरठों का होना विशेष महत्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि तुलसीदास को उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध और अवशिष्ट कविता के विरोध की चेतना थी और उन्होंने या तो इस प्रकार उस विरोध के परिहार करने की अथवा उसको छुपाने की चेष्टा की है। परन्तु स्वयं इन सोरठों और उनके प्रसंग के असम्बन्ध से मानस की रचना के विषय में एक अमूल्य तथ्य प्राप्त होता है, कम से कम आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जिस

---

[1] दे० अध्याय १२ पृ० २७८ इत्यादि।

[2] दे० अध्याय १३ पृ० २८२।

[3] ग्राउज़ ने अनुवाद किया है, "फर्स्ट, आइ विल रिलेट ......", यह अनुवाद अशुद्ध है। दे० १, १४, ३—"भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें। अर्थात् जो हो चुके हैं जो हैं और भविष्य में होंगे।" ग्राउज़ की अशुद्धि का कारण यह है कि उन्होंने उत्तरकाण्ड के भुशुण्डि-गरुड़ संवाद की ओर ध्यान नहीं दिया और "आगें" का अर्थ वे ठीक नहीं कर सके।

[4] दे० अध्याय १३ पृ. २८२ इत्यादि।

समय कवि बालकाण्ड के इस भाग की रचना कर रहे थे तो भुशुण्डि को रामकथा का प्रस्तुतकर्ता बताने का उनका विचार नहीं था।

रामचरितमानस में शिव-पार्वती संवाद—

अध्यात्मरामायण में संपूर्ण रामकथा का वर्णन शिव-पार्वती संवाद के अन्तर्गत हुआ है। वस्तुतः यह ग्रंथ किसी अज्ञात लेखक की कृति है और उसको श्रुति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके विरुद्ध, हिन्दी रामायण अज्ञात लेखक की रचना नहीं; यद्यापि कुछ भागों में यह ऐसा धर्मग्रन्थ प्रतीत होता है जिसके अनुमानित रचयिता शिव हैं, किन्तु कथा का प्रमुख भाग किसी कल्पित पात्र को बीच में लाए बिना कवि ने स्वयं वर्णित किया है। वास्तव में बालकाण्ड के प्रथम भाग में, १०४वें पद्य से लेकर १८८ वें पद्य अथवा २०५ वें पद्य तक ही[1], कथा के प्रस्तुतकर्ता शिव हैं और कई बार उनके स्थान पर याज्ञवल्क्य बोलने लगते हैं; अरण्यकाण्ड के प्रारम्भिक पद्यों में शिव पुनः उपस्थित होते हैं और लंकाकाण्ड तक बल्कि उत्तरकाण्ड के पूर्वार्ध तक भुशुण्डि के साथ २ कथा के प्रमुख प्रस्तुतकर्ता रहते हैं। उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध में भुशुण्डि पुनः उनका स्थान ले लेते हैं और शिव कविता के बिल्कुल अन्तिम पद्यों में फिर उपस्थित होते हैं: कविता के उपसंहार से प्रतीत होता है कि तुलसी इस ग्रन्थ का संबन्ध शिव से जोड़ना चाहते थे।[2] पर इससे यह मानने में कोई बाधा नहीं कि मानस का शिवपार्वती संवाद कुछ बाद में जोड़ा गया। सम्पूर्ण कथावर्णन के लिए यह संवाद कुछ अनुचित सी स्थली है और वस्तुतः केवल आधे ही ग्रन्थ को सीमाबद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त, यह भी निश्चित नहीं कि यह संवाद, जिस रूप में बालकाण्ड के इस भाग में प्रस्तुत है, अध्यात्मरामयण से ही प्रत्यक्ष लिया गया हो जैसा कि डा० मा० प्र० गुप्त[3] का विचार है। अधिक संम्भव यह है कि तुलसीदास ने इसे उसी मूलाधार से ग्रहण किया है जिससे उन्होंने उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध के लिखने की प्रेरणा पाई। नहीं तो यह कैसे हो सकता है कि बालकाण्ड के इस भाग में कहे पार्वती के प्रश्नों का उत्तर उत्तरकाण्ड में मिले जब कि उसमें अध्यात्म-रामायण से कुछ भी नहीं लिया गया। पर, इसके विरुद्ध, मानस की अधिकतर गीताओं के समान, बालकाण्ड की "महादेव गीता", अध्यात्म-रामायण से ही लीगई प्रतीत होती है।

---

[1] दे० अध्याय ७, पृ० १७१-१७२।

[2] दे० अध्याय १३, पृ० २९९।

[3] गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २५७।

अध्याय—४

रामचरितमानस का बालकाण्ड—अवतार के कारण

(१, १२१-१८४)

ईश्वर के अवतारों के विभिन्न "कारणों" का विवरण मानस के बालकाण्ड में ६३ पद्यों में दिया है, या कहना चाहिए इस विवरण ने बालकाण्ड का पांचवां भाग ले लिया है। यह विस्तृत खण्ड बहुत ही रोचक है और वाल्मीकिरामायण व अध्यात्मरामायण का इसमें कोई प्रभाव नहीं है। "शिव-चरित" के समान इसमें भी, बहुत ही कम पद्यों को छोड़कर, अधिकतर पद्य नियमित हैं। यहाँ पर विभिन्न स्रोतों से लिए कथानक एकत्र हैं और इनके प्रस्तुतकर्ता कभी याज्ञवल्क्य तो कभी शिव हैं, और प्रस्तुकर्ता के रूप में भुशुण्डि कहीं भी उपस्थित नहीं होते।

पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए सब से पहले शिव सामान्यतया उन कारणों की व्याख्या करते हैं जिनसे हरि के अवतार हुए, होते हैं और होते रहेंगे—

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि सन्त मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥
जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥
राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥
जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी॥[१]

---

[१] रा. च. मा. बालकाण्ड १२१-१२२, १-२।

यहाँ पर शिव की वाणी भागवतों के समान है। वेदान्त के परब्रह्म से अभिन्न विष्णु-हरि के अनेक अवतारों में विश्वास भागवत धर्म के प्रधान सिद्धान्तों में से एक है। भगवद्गीता के प्रसिद्ध श्लोकों में इसकी अभिव्यक्ति हुई है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"[1]

सम्पूर्ण पौराणिक परम्परा और गीता के अनुसार, धर्म की स्थापना व राक्षसों के अत्याचारों से देवताओं, ब्राह्मणों और गौओं की रक्षा करना केवल राम-अवतार का ही नहीं परन्तु विष्णु के अवतारों का प्रयोजन है। इसी प्रकार मानस के इस स्थल में हरि के "बिबिध शरीरों" का संबन्ध देवताओं, ब्राह्मणों और गौओं की रक्षा से है; यहाँ पर "बिबिध" से तात्पर्य विष्णु के पारम्परिक (नृसिंह, वराह इत्यादि) विभिन्न अवतारों से है। स्पष्ट है कि यहाँ पर हिन्दी के कवि ने गीता और पुराणों के विचारों की प्रतिध्वनि की है। परन्तु इसके पश्चात् शिव ने अवतार का एक दूसरा कारण भी दिया है अर्थात्, भक्तों का हित—अपने सेवकों के कल्याण के लिए भी भगवान अवतार लेते हैं। संपूर्ण कविता से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि तुलसीदास के अनुसार भगवान के अवतार का यही वास्तविक कारण है। और इस बात में मानस, भागवत पुराण से मिलता जुलता है क्योंकि भागवत के अनुसार कृष्ण के अवतार का प्रयोजन प्राणियों की और विशेषकर भक्तों की रक्षा और उनका सुख ही है।

अत: तुलसीदास के लिए भगवान राम दया से आप्लावित होकर अवतार लेते हैं और ऐसे मानवीय कार्य करते हैं जिनका पाठ और श्रवण भक्तों की मुक्ति का साधन और भवसागर के पार होने के लिए नौका है। परिणामस्वरूप राम के अवतार का प्रधान कारण, राम के चरित का प्रचार करना है क्यों कि वह जीवों की मुक्ति का साधन है। परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में "हेतु" शब्द को दो भिन्न अर्थों में लिया गया है—"अन्तिम कारण" और "दूसरा कारण" अथवा "अवसर"। अन्तिम कारण तो एक ही है पर अवसर असंख्य हैं—जैसे अवसरानुसार रामावतार। अत: शिव रामावतार के इन "अवसरों" में से कुछ का वर्णन करने को ही तत्पर हैं।

शिव के वर्णन में पांच उपाख्यान हैं; इनका आकार तथा आधार विभिन्न है, इनमें से प्रत्येक का अभिप्राय विष्णु-हरि के एक रामावतार की व्याख्या करना है—

१—जय-विजय उपाख्यान,

२—जलन्धर उपाख्यान,

३—नारद-मोह,

४—मनु-सतरूपा-चरित,

५—प्रतापभानु-चरित, और इसी से शृंखलाबद्ध,

६—रावणोपाख्यान।

---

[1] भगवद्गीता ४, ७-८।

इन उपाख्यानों के प्रस्तुतकर्ता कभी शिव और कभी याज्ञवल्क्य हैं परन्तु एक कथा में एक ही प्रस्तुतकर्ता रहता है। कुछ अपवादों को छोड़कर, इन उपाख्यानों के पद्य नियमित हैं; इनमें अनियमितता प्रस्तुतकर्ता के बदलने पर होती है और प्रतीत होता है कि प्रस्तुतकर्ता आधार के अनुसार बदलते हैं।

१—जय-विजय उपाख्यान (१. १२२, २ दोहा; १२३, १-२)—

शिव द्वारा वर्णित पहला उपाख्यान संक्षिप्त है—विष्णु के द्वारपाल दो भाई जय और विजय इसके पात्र हैं। किसी ब्राह्मण के शाप के कारण ये दोनों भाई पहिले हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नामक राक्षस और फिर रावण और कुम्भकर्ण हुए और इस प्रकार राम के एक अवतार का कारण बने।

यही उपाख्यान भागवत पुराण में (३, १५, १६) विस्तार से वर्णित है। भागवत में यह उपाख्यान विष्णु के वराह और नृसिंह अवतार की कथा को प्रस्तुत करता है—

"जब ब्रह्मा के (सनक आदि) चार पुत्र वैकुण्ठ में विष्णु के पास गए, तो दो अत्यधिक कर्तव्यपरायण भाई जय और विजय नामक द्वारपालों ने उनका मार्ग रोक दिया। इस निरादर का प्रतीकार करने के लिए ब्राह्मणों ने दोनों भाइयों को भविष्य में असुर होने का शाप दे दिया। इस पर विष्णु प्रकट हुये और अपने दोनों द्वारपालों को जो दण्ड मिला था उसका अनुमोदन करके यह वचन दिया कि उन के पाप से मुक्त होने पर, वे उन्हें पुनः अपनी सेवा में ले लेंगे। इस प्रकार जय और विजय वैकुण्ठ से पतित होकर असुरों की माँ, कश्यप-पत्नी दिति के गर्भ में आए और हिरण्याक्ष व हिरण्यकशिपु के रूप में उत्पन्न हुए। विष्णु के अवतार लेने पर उनका नाश हुआ।"

परन्तु भागवत पुराण में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रावण और कुम्भकर्ण के रूप में पुनः उत्पन्न होने की चर्चा नहीं है। मानस में शिव ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना॥[1]

भागवत में केवल इतना कहा है कि "विष्णु के सेवकों ने जन्म जन्मान्तरों के पश्चात् अपना स्थान पुनः प्राप्त किया" (३, १९, २९)। मानस में इस नवीनता का आविष्कार आपाततः इसलिए किया गया होगा कि रावण और कुम्भकर्ण तथा हरि के दोनों भक्त द्वारपालों जय और विजय[2] की अभिन्नता बताई जा सके, और राम के दो राक्षस शत्रुओं का किसी प्रकार से उद्धार किया जा सके। दुर्भाग्य से पीड़ित, इन दो भक्तों की मुक्ति के लिए—, "एक कल्प में" राम ने मानव शरीर धारण किया—

---

[1] रा. च. मा. १, १२३, १: "तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना।" अर्थात् दो बार पुनः जन्म लेना।

[2] भागवत पुराण (१०, ४१, १२ और १७ श्लोकों के अनुसार, जय और विजय कृष्ण के पुत्र हैं और भक्तमाला में इनकी गणना हरि के १६ पार्षदों में की गई है। ग्रियर्सन, ग्लीनिङ्गस् . . . ., १९१०, पृ. १०८ पर पार्षद का अंग्रेजी अनुवाद 'आरचेंजिल्स' दिया गया है।

एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥
कस्यप अदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा ॥[१]

इस उपाख्यान में, जीवों के स्वामी राम को विष्णु से अभिन्न बताया है उन्होंने विष्णु के ही पहले अवतार लिए। वस्तुत: जीवों की मुक्ति के लिए केवल राम-अवतार में ही परम सामर्थ्य है, और "भक्तवत्सल" भगवान की कृपा से ही मुक्ति होती है। यहाँ विष्णु के अवतारों के परम्परागत प्रधान कारण, अर्थात् देवताओं ब्राह्मणों और गौवों की रक्षा, को एक ओर छोड़ दिया गया है। रावण और कुम्भकर्ण के अत्याचारों से पीड़ित लोगों पर हरि-राम को दया नहीं आई बल्कि केवल दो भक्त-भाइयों को अपने तेजस्वी गुणों के कारण ही इष्टदेव के हाथों दो बार गति प्राप्त करने का अद्वितीय प्रसाद मिला।

२—जलन्धर उपाख्यान (१. १२३, ३-दो०; १२४, १-२)—

शिव द्वारा वर्णित दूसरे उपाख्यान का मुख्य पात्र जलन्धर नामक बलवान राक्षस है। इसने शिव से मुकाबला करने का दुस्साहस किया। मानस में यह कथा बहुत ही संक्षेप में केवल ८ अर्धालियों में दी है—

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा । दनुज महाबल मरइ न मारा ॥
परम सती असुराधिप नारी । तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥
छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥
तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना ॥
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ ॥
एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा ॥[२]

यह उपाख्यान इतना संक्षिप्त है कि यदि इसके पौराणिक आधार—पद्मपुराण का ज्ञान न हो तो कदाचित् इसका अर्थ भी समझ में न आए। पद्मपुराण के उत्तरकाण्ड[3] में जलन्धर की कथा विस्तार से वर्णित है—

---

[१] रा. च. मा. १, १२३, १-२।

[२] वही १, १२३, ३ दो०; १२४, १-२।

[3] दे० विलसन, अनैलिसिस औफ दि पद्मपुराण (वर्क्स ३, पृ० ७१ इत्यादि) जलन्धर की कथा के अंग्रेजी अनुवाद के लिए दे० वन्स केनेडी, "रिसर्चेज़ इनटु दि नेचर एण्ड एफिनिटि औफ़ एनस्येण्ट इण्डियन् माइथौलौजी (लन्दन, १८३१) एपैन्दिक्स डी, पृ० ४५६ इत्यादि।

"इन्द्र के अहङ्कार का प्रतीकार करने के लिए, शिवने एक भयंकर राक्षस का जन्म करवाया। यह जलन्धर था। अपने पिता से इसे राज्य प्राप्त हुआ और विवाह में सुन्दरी अप्सरा वृन्दा। शीघ्र ही इस भयङ्कर जलन्धर ने देवताओं को चेतावनी दी और इन्द्र की राजधानी का नाश कर दिया। देवों और दैत्यों में युद्ध छिड़ गया। विष्णु देवताओं की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुए पर अपने सम्बंधी जलन्धर के स्नेह के कारण उन्होंने अपनी सारी शक्ति का उपयोग नहीं किया। जलन्धर ने इन्द्र का सिंहासन छीन लिया और उनकी राजधानी अमरावती पर अधिकार कर लिया।

पराजित देवतागण शिव के पास शरण के लिए गये और उन्होंने प्रतीकार की प्रार्थना की। उनके क्रोध से ही 'सुदर्शन' चक्र बना। परन्तु जलन्धर ने पार्वती के सौन्दर्य की कामना की, शिव से युद्ध करने की चेतावनी देने के लिए राहु को कैलाश भेजा। विष्णु की तटस्थता का आश्वासन उसे पहिले से ही मिल चुका था।

अब जलन्धर और शिव की सेनाओं में युद्ध होने लगता है। एक युक्ति का प्रयोग कर जलन्धर गुप्त रूप से युद्ध क्षेत्र से चला जाता है और शिव का रूप धारण कर पार्वती के संमुख उपस्थित होता है। युद्ध में काम आये उनके पुत्र स्कन्द और गणेश के सिर उन्हें दिखाता है और इस दुःख से मुक्ति पाने के लिए अपने साथ भोग विलास का आनन्द लेने की बात कहता है। पार्वती संकोच करती हैं।

जलन्धर के इस अपराधी छल का ज्ञान पाकर, विष्णु उसकी सुन्दरी और पतिव्रता स्त्री वृन्दा को मुग्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे एक साधु का वेष धारण करके, छलपूर्वक उसे वन में लाकर अपने आश्रम में ले जाते हैं। वहाँ पर वे जलन्धर का रूप धारण कर वृन्दा से कहते हैं कि युद्ध में शिव द्वारा आहत होने पर मैंने पुनः जीवन धारण किया है और तुम्हारे पास शीघ्रातिशीघ्र आने का प्रयत्न किया। वृन्दा उनका विश्वास करती है और इन कल्पित पति को सर्वस्व समर्पित कर देती है। पर शीघ्र ही वह उनके छल को जान जाती है और उन्हें शाप देती है कि उनकी अपनी पत्नी का भी इसी प्रकार की युक्ति द्वारा अपहरण हो। फिर धर्म-निरत वृन्दा एक कठिन उपवास करती है और योग की अग्नि से भस्मसात् होकर मुक्ति प्राप्त करती है।

उधर पार्वती कृत्रिम शिव के मधुर प्रलोभन के वश में होते समय, एक युक्ति द्वारा उसके सच्चे रूप (जलन्धर) का आश्वासन पाने पर उस राक्षस से बच कर छुप जाती हैं।

दूत आकर जलन्धर को उसकी पत्नी के साथ हुई दुर्घटना की सूचना देते हैं। क्रुद्ध होकर अपना वास्तविक रूप धारण करके वह युद्ध क्षेत्र में लौट जाता है और सर्वप्रथम शिव पर विजय का और फिर विष्णु से प्रतीकार का संकल्प करता है।

इस कथा का अन्त शिव और जलन्धर के द्वन्द्व युद्ध से होता है जिसमें शिव की विजय होती है। यद्यपि शिव उसे मारते तो नहीं पर वह स्वयं ही युद्धक्षेत्र में आत्महत्या कर लेता है और शिव की कृपा से परमगति को पाता है। तब शिव पार्वती से जाकर मिल जाते हैं।"

यद्यपि यह उपाख्यान पद्मपुराण के स्पष्टतया वैष्णव और साम्प्रदायिक भाग में विद्यमान है तथापि इसका आधार शैव प्रतीत होता है। यहाँ पर विष्णु नहीं बल्कि शिव को देवताओं का गुरु और उनका आश्रय माना गया है। शिव ने ही इन्द्र के अहंकार के प्रतीकारार्थ जलन्धर को जन्म दिलवाया और अन्त में उन्होंने ही युद्धक्षेत्र में उसका उद्धार किया। यह जलन्धर भीषण और निश्शंक योधा है, उसे विष्णु कामी और कपटी प्रतीत होते हैं।

मानस की संक्षिप्त कथा पौराणिक कथा का सारमात्र नहीं है। जलन्धर की उत्पत्ति के विषय में तुलसी ने कुछ भी नहीं कहा। उनका अनुमान है कि उसका इतना अद्वितीय पराक्रम उसकी पतिव्रता पत्नी के तेज के कारण है। विष्णु की छल युक्ति अस्पष्टतया बताई गई है—कहा गया है कि उनका ध्येय पवित्र और कृपापूर्ण था। जलन्धर की आसक्ति और उसके अपावन प्रयास का तो मानस में उल्लेख तक नहीं। अन्त में, वीर जलन्धर को, यहाँ रावण के रूप में पुन: उत्पन्न होकर, रामके हाथों मरने का प्रसाद प्राप्त हुआ जिससे उसकी परमपदप्राप्ति निश्चित है। मानस के अनुसार इस कथा का कोई भी पात्र दोषी नहीं। देवताओं का शत्रु होने पर भी जलन्धर निरपराध है, विष्णु लोभ से प्रेरित नहीं परन्तु देवताओं के कल्याण के लिए आते हैं, कृपालु होने के कारण और अपने भक्त जलन्धर की मुक्ति की सिद्धि के हित उन्हें वृन्दा का शाप स्वीकार्य है। पद्मपुराण के विरुद्ध, मानस में, शिव ने नहीं, पर विष्णु-राम ने जलन्धर की परम गति को सुप्राप्य बनाया। यहाँ पर हमें शैव उपाख्यान का वैष्णव संस्करण मिलता है।

पिछले उपाख्यान के समान, इस उपाख्यान में भी, राम ही परब्रह्म विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत हुये हैं। संभव है कि तुलसी ने इस उपाख्यान को प्रत्यक्ष पौराणिक आधार से नहीं लिया अपितु अपने समय में राम-संप्रदाय के साहित्य में ही इस परिवर्तित रूप में इसे पाया। राम के अवतार की "व्याख्या" करने वाला यह उपाख्यान राम-धर्म के अनुयायियों को पहले से ही ज्ञात रहा होगा। कदाचित् इस पूर्वपरिचय के कारण ही जलन्धर के उपाख्यान का मानस में यह संक्षिप्त और अपूर्ण रूप रहा। इसके अतिरिक्त, इस उपाख्यान का छलप्रधान लक्षण भी तुलसीदास को पसन्द नहीं रहा होगा और अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि वे जलन्धर को हरिभक्त न मानते तो कदाचित् इस उपाख्यान का वर्णन ही न करते।

३. नारद-मोह (१. १२४-१४०)—

जलन्धर-उपाख्यान के पश्चात्, कथा थोड़ी देर तक स्थगित रहती है। १२४ वें पद्य में इस उपाख्यान और नारद-मोह के बीच में कुछ संक्रामक विषय आता है। पार्वती को संबोधित कर शिव कहते हैं—

> **प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥**[1]
> **नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥**
> **गिरिजा चकित भई सुनि बानी। नारद बिष्नुभगत पुनि ग्यानी॥**
> **कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥**
> **यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी॥**
> **बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।**
> **जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥**[2]

---

[1] र. भट्ट. के अनुसार, "अनेकों कथाएँ कवियों ने कही हैं और उन्होंने वे कथाएँ ऋषियों से ग्रहण कीं।" मानसाङ्क में पाठान्तर है जिसका अर्थ—"हे भरद्वाज मुनि, सुनो", है।

[2] रा. च. मा. १, १२४, २ दो०।

यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य अकस्मात् एक सोरठे में बोलना आरम्भ कर देते हैं। यह सोरठा १२४ वें पद्य के अन्तिम दोहे के साथ जुड़ा है (और इसी कारण यह पद्य अनियमित होगया है)। इसी सोरठे में कवि के नाम का भी उल्लेख है—

कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु ।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद ॥

रामचरितमानस में इस उपाख्यान का सारांश—

हिमालय की एक कुटी में हरि के नाम का जप करते २ नारद की समाधि लग गई। नारद के तपोमय पराक्रम को देखकर देवराज इन्द्र डर गया, उसे डर था कि कहीं उसका राज्य न छिन जाय। नारद की समाधि भंग करने के लिए इन्द्र ने कामदेव की सहायता की बिनती की। वसन्त के साथ कामदेव नारद की कुटी में प्रविष्ट हुए पर उनका प्रयास निष्फल रहा। काम और वसन्त को पराजय स्वीकार करनी पड़ी और हरिभक्त के चरणों में पड़कर उन्होंने नारद से क्षमा मांगी। नारद ने उन्हें क्षमा कर दिया और दोनों ने इन्द्र के पास जाकर अपनी पराजय की कथा कह सुनाई।

अपनी विजय से गर्वयुक्त नारद ने यह कथा शिव को बताई। शिव ने उनसे मैत्रीभाव से कहा कि हरि के संमुख इस विजय की डींग न मार। परन्तु नारद को यह उपदेश नहीं भाया। ब्रह्मा के पास जाकर नारद क्षीरसमुद्र पहुँचे जहाँ उनके गुरु विष्णु ने सत्कार पूर्वक उनका स्वागत किया। शिव के उपदेश को अनसुना करके नारद ने कामदेव पर अपनी विजय का उल्लेख किया। विष्णु ने अपने भक्त के हृदय में अहंकार को देखा और उनके अहंकार को दूर करने के लिए एक उपाय सोच निकालने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

तब विष्णु ने नारद के पथ में एक विशाल और चमत्कारपूर्ण मायावी नगर की रचना की। इस नगर के प्रतापी राजा शीलनिधि के एक अनुपम सुन्दरी पुत्री हुई। इस कन्या का स्वयंवर होने वाला था और सभी राजा वहाँ जाने की तैयारियाँ कर रहे थे। इस सूचना को सुनकर नारद राजमहल में पहुंचे और वहाँ पर राजा ने अपनी पुत्री का उनसे परिचय कराते हुए उसके भविष्य के विषय में पूछताछ की। नारद उसके सौन्दर्य पर आकृष्ट होगए और उसके भावी पति के गुणों को अनायास ही जान गए पर कुछ बोले नहीं। एक महत्वहीन भविष्यवाणी करके उन्होंने राजा से विदा ली और उस राजकुमारी से विवाह करने की युक्तियाँ सोचने लगे।

उसको निश्चय ही अपनाने के लिए नारदने विष्णु से उनका सा सुन्दर रूप प्राप्त करने की प्रार्थना की। अपनी माया का प्रभाव देखते हुये विष्णु इस पर हंसे और उनसे बचन दिया कि विष्णु नारद के परमहितानुकूल कार्य करेंगे। पर नारद ने विष्णु के अस्पष्ट वचनों का अर्थ नहीं समझा। अपने को अनुपम सौन्दर्ययुक्त समझ कर प्रसन्नतापूर्वक वह स्वयंवर के स्थान के लिए चल दिए। उन्हें विश्वास होगया था कि उनकी मनोकामना सफल होगी। परन्तु अपने भक्त के कल्याण के चिन्तक विष्णु ने उन्हें इतना कुरूप बना दिया कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मणरूप धारण किए और प्रेक्षकों की भीड़ में मिले हुए शिव के दो गणों को छोड़कर, नारद के इस परिवर्तन का रहस्य किसी भी प्रेक्षक को ज्ञात न था। ब्राह्मण वेषधारी ये दोनों गण नारद के

समीप आकर बैठ गए। इन्होंने उनका उपहास करने के लिए आपस में उनके सौन्दर्य का वर्णन किया पर नारद उनके व्यंग्य को समझ नहीं पाये।

नारद के इस रूप-परिवर्तन का रहस्य राजकुमारी से भी छुपा न रहा। उनके कुरूप शरीर और बन्दर के से सिर को देखकर ग्लानि के साथ राजकुमारी उनसे दूर चली गई और उनकी ओर दृष्टिपात भी न करना चाहा। इससे नारद को बहुत निराशा हुई पर दोनों गणों का अत्यधिक मनोरंजन हुआ। अन्त में एक राजा के वेष में स्वयं विष्णु प्रकट हुए और उन्होंने राजकुमारी के करकमलों से जयमाला ग्रहण की और राजकुमारी को अपने साथ ले गये। इस पर शिवके गणों ने नारद के पास जाकर उनसे अपना मुख दर्पण में देखने को कहा और वे स्वयं वहाँ से शीघ्र भाग गए।

ज्यों ही नारद ने जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो वह बहुत क्रुद्ध हुए और उन ब्राह्मण वेषधारियों को उन्होंने राक्षस के रूप में जन्म लेने का शाप दिया। पुन: देखने पर उन्हें अपना सामान्यरूप दिखाई दिया इस प्रकार उपहसित होने पर वे शीघ्र ही विष्णु के समीप गये। अपनी आसक्ति की पात्र उस राजकुमारी और लक्ष्मी के साथ, विष्णु नारद को मार्ग में ही प्रगट हुये। इस पर और भी हताश होकर नारद ने विष्णु पर क्रोध किया, उनके किए हुये सब दुष्कर्मों के लिए उन्हें उपालम्भ देते हुए शाप दिया कि उन्हें मानवशरीर प्राप्त हो, वानर उनके सखा हों और उनकी पत्नी का अपहरण हो जिससे वे क्षुब्ध रहें।

विष्णु ने यह शाप सहर्ष स्वीकार कर लिया क्योंकि इस प्रकार वे देवताओं की सहायता कर सकते थे। तदुपरान्त उन्होंने नारद को अपनी माया के प्रभाव से मुक्त कर दिया। शीघ्र ही लक्ष्मी और राजकुमारी धुंये में अन्तर्धान कर गईं। नारद मुनि को अपने पर लज्जा आई और पश्चात्ताप हुआ; अपने गुरु के चरणों पर गिरकर उन्होंने प्रार्थना की कि उनका शाप प्रभावहीन हो जाय। पर विष्णु ने कहा कि वे इस शाप को चाहते थे। अपने भक्त के सुधार के लिये उन्होंने नारद से शिव के सौ नाम का जाप करने को कहा क्योंकि शिव उन्हें अतिप्रिय हैं।

फिर विष्णु अन्तर्धान होगए और नारद राम की स्तुति का गान करते हुये ब्रह्मलोक को लौटे। नारद के क्रोध के पात्र शिवके दोनों गण उनके चरणों पर आकर गिर गए और उन्होंने नारद से शाप वापस लेलेने की प्रार्थना की। परन्तु मुनि ने उत्तर दिया कि मेरा वचन सत्य होकर रहेगा, वे दोनों पुन: बलवान राक्षसों के रूप में जन्म लेंगे और विष्णु के अवतार के हाथों द्वारा युद्धक्षेत्र में मरेंगे जिससे उन्हें परमपद प्राप्त होगा।

नारद-मोह और शिवपुराण—

ऐसा प्रतीत होता है कि नारद-मोह उपाख्यान का आधार महाभारत है जहाँ नारद व उनके भानजे पर्वत के झगड़े का दो स्थानों पर उल्लेख है (७, ५५ तथा १२, ३०, १०४६ इत्यादि)। इस कलह का कारण सृञ्जय की मोहनी पुत्री है, और दोनों ही मुनि उस पर मुग्ध हैं। एक दूसरे से क्रुद्ध, वे परस्पर शाप देते हैं—पर्वत नारद को बन्दर का शरीर धारण करने का शाप देता है।

अद्भुतरामायण में इस उपाख्यान का मानस से बहुत मिलता जुलता संस्करण है। अद्भुत-रामायण के द्वितीय सर्ग में, वाल्मीकि ऋषि भरद्वाज मुनि से राम और सीता के अवतार के कारण बताने का वचन देते हैं। राम-अवतार को समझाने के लिए वाल्मीकि भरद्वाज को राजा अम्बरीष की कथा

सुनाते हैं, जो दूसरे और तीसरे सर्ग में दी है। इस राजा की एक सुन्दरी पुत्री "श्रीमती" है। नारद और पर्वत दोनों ही इस पर एक साथ मुग्ध हैं। वे दोनों ही विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि दूसरा व्यक्ति वानर का रूप धारण करले और विष्णु उन दोनों की प्रार्थना को संपूर्ण कर देते हैं। परिणाम-स्वरूप श्रीमती के स्वयंवर के अवसर पर दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियों को भारी असफलता मिलती है। राजकुमारी एक सुन्दर नवयुवक को वर लेती है और यह नवयुवक स्वयं विष्णु ही हैं। इस असत्कार से वे दोनों क्रुद्ध होकर वैकुण्ठ जाते हैं और जैसे मानस में ठीक वैसे ही,[1] विष्णु को शाप देते हैं।

पर यहाँ पर अद्भुतरामायण नहीं अपितु शिवपुराण तुलसीदास का प्रत्यक्ष आधार है, क्योंकि इस पुराण में और मानस में यह उपाख्यान लगभग एकसमान विधि से वर्णित हुआ है। विशेपताओं में भी इतनी अनेक समानताएँ हैं कि इन दोनों के निकट संबन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं।

अ—हिमालय में एक सुन्दर गुहा के समीप मन्दाकिनी बहती है, उसके तट पर एक अति पावन आश्रम है और नारद वहाँ जाते हैं—

शि. पु. २, २, २-३—

हिमशैलगुहा काचिदेका परमशोभना।
यत्समीपे सुरनदी सदा वहति वेगतः॥
तत्राश्रमो महादिव्यो नानाशोभासमन्वितः।
तपोऽर्थं स ययौ तत्र नारदो दिव्यदर्शनः॥

रा. च. मा. १, १२५, १—

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥

आ—शिव नारद को उपदेश देते हैं कि हरि के पूछने पर भी उन्हें अपनी कथा नहीं बतानी चाहिए—

शि. पु. २, २, ३२-३३—

वाच्यमेवं न कुत्रापि हरेरग्रे विशेषतः।
पृच्छमानोऽपि न ब्रूयाः स्ववृत्तं मे यदुक्तवान्॥

रा. च. मा. १, १२७, ४—

बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥

---

[1] ग्रियर्सन, "औन दि अद्भुतरामायण", बु. स्कू. ओ. स्ट. ४, पृ० ११-२७।

हिन्दी में " चलेहुँ प्रसंग " संस्कृत के " पृच्छमानोऽपि " की छाया है।

इ—विष्णु के बधाई देने पर नारद कृत्रिम विनय से कहते हैं कि विष्णु की कृपा से ही उनकी विजय हुई—

शि. पु. २, २, ५४—

किं प्रभावः स्मरः स्वामिन् कृपा यद्यस्ति ते मयि।

रा. च. मा. १, १२९, २—

कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥

ई—नारद में शिव की माया का (शि. पु. के अनुसार) या अपनी माया का (रा. च. मा. के अनुसार) प्रभाव देखकर विष्णु मुस्कराकर नारद से कहते हैं कि जिस प्रकार भिषगाचार्य रोगी के हित के लिए उपचार करता है उसी प्रकार वे भी उनके कल्याण का कार्य करेंगे—

शि. पु. २, ३, ३०-३१—

वचः श्रुत्वा मुनेरित्थं विहस्य मधुसूदनः।
शङ्करीं प्रभुतां बुध्वा प्रत्युवाच दयापरः॥
स्वेष्टदेशं मुने गच्छ करिष्यामि हितं तव।
भिषग्वरो यथार्तस्य यतः प्रियतरोऽसि मे॥

रा. च. मा. १, १३२, ४, दोहा; १३३, १—

निज माया बल देखि बिसाला। हियँ हँसि बोले दीनदयाला।
जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥
कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ . . . .॥

मूल के अन्तिम तीन पादों में संस्कृत के श्लोकों के अन्तर्निहित अर्थ को सुव्यक्त कर दिया गया है।

पौराणिक कथा की तुलना में मानस में यह उपाख्यान बहुत ही संक्षिप्त है। इस संक्षेप की प्रवृत्ति से कभी २ अर्थों में अनिवार्यरूप से अस्पष्टता आ जाती है। उदाहरणतः मानस में नारद के ब्रह्मा के पास जाने का प्रयोजन नहीं बताया गया, पर शिवपुराण को देखने से वह स्पष्ट हो जाता है; वस्तुतः मानस में, शिव के पास जाने के पश्चात्, नारद हरि के गुणों की चर्चा करने के लिए ब्रह्मलोक में जाते हैं; पर ऐसा करने का कोई कारण नहीं दिया गया। और शिवपुराण से हमें ज्ञात होता है कि

नारद अपने पिता ब्रह्मा के पास उन्हें पवित्र स्तुति सुनाने के लिये नहीं अपितु कामदेव पर अपनी विजय की कथा बताने के लिए गए थे; शिव के समान ब्रह्मा ने भी नारद के दम्भ की निन्दा की और उन जैसा ही उपदेश दिया; वस्तुत: पौराणिक कथा में, ब्रह्मा और नारद की भेंट का दृश्य पूर्ववर्ती शिव और नारद की भेंट की आवृत्ति ही है। प्रतीत होता है कि तुलसीदास इस प्रसंग को बिना कठिनाई के छोड़ सकते थे पर उन्होंने इसे आपातत: ज्यों का त्यों देने की चिन्ता से वैसा ही सुरक्षित रखा है।

'शिवचरित' की अपेक्षा, 'नारदमोह' में पौराणिक आधार अर्थात् शिवपुराण की कथा को बिना परिवर्तन सुरक्षित रखने की मानस के लेखक की चिन्ता और भी अधिक है। इस प्रसंग में तुलसीदास ने कोई भी नया कथानक नहीं जोड़ा, केवल कुछ रोचक बातें बढ़ाई हैं जिससे उपाख्यान के रसास्वाद में वृद्धि हो सके। यहाँ नारद जैसे तपस्वी और श्रद्धेय पात्र को हम भोग-विलास का दास होते देखते हैं, वह अपने को कामदेव पर विजयी समझता है यद्यपि अन्ततोगत्वा अत्यधिक लज्जाजनक प्रकार से अपने आत्मगौरव को खो बैठता है। तुलसीदास ने ऐसे उपहासात्मक उपाख्यान का अत्यन्त सुन्दर ढंग से निर्वाह किया है।

नारद-मोह में शिव और विष्णु—

शिवपुराण में इस उपाख्यान का वर्णन होने से शिव की प्रधानता प्रदर्शित होती है; वहाँ विष्णु शिव के एक साथी और सहायक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। केवल शिव ही परब्रह्म हैं, जगत्पिता हैं; वे ही अपनी माया के प्रभाव से नारद में मोह उत्पन्न करते हैं और वे ही उनका उद्धार करते हैं। शिव ने नारद की रक्षा इसलिए की कि वे विष्णु के भक्त हैं और विष्णु के भक्त भी उनके सेवक हैं। विष्णु ने स्वयं विस्तार से शिव की स्तुति की है और इस स्तुति में उन्होंने शिव को एक साथ सगुण और निर्गुण ब्रह्म माना है। (शि. पु. २, ४)

विष्णु-हरि को प्रधानता देने के लिए तुलसीदास को इस उपाख्यान की कथा को अधिक परिवर्तित नहीं करना पड़ा। इस उपाख्यान का वैष्णावाधार शिवपुराण तक में लक्षित है, वस्तुत: पौराणिक कथा में कहीं कहीं विरोध है—विष्णु के भक्त नारद की कामदेव के प्रभाव से रक्षा शिव की कृपा से होती है; शिव की माया के कारण उन्हें अहंकार होता है; वह शिव के सामने अपनी विजय की घोषणा करने जाते हैं पर शिव नारद में अपनी माया के प्रभाव को जानकर इस कथा को विष्णु से बताने के लिए नारद को रोकते हैं; परन्तु फिर शिव की इच्छा से ही नारद उनके उपदेश को अनसुना करदेते हैं और विष्णु ही शिव की माया से पीड़ित नारद का उपचार करते हैं।

इसके विरुद्ध मानस में इस उपाख्यान ने अपने वास्तविक प्रवाह का अनुकरण किया है। शिव, विष्णु के एक अनावश्यक साथी के रूप में उपस्थित होते हैं। वस्तुत: विष्णु ही सूत्रधार हैं और सब पात्रों को कठपुतलियों की तरह नचाते हैं। अत: यह विचित्र सी बात है कि तुलसी ने अपनी कथा में शिवपुराण के उस सन्दर्भ की छाया दी जहाँ विष्णु, पश्चात्ताप करने को उद्यत नारद से शिव के सौ नामों का जाप करने को कहते हैं—

> **जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदयँ तुरत बिश्रामा॥**
> **कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥**

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया निअराई ॥[1]

शिवपुराण में यह उपदेश सरलता से समझ में आता है क्योंकि यहाँ पर नारद को शिव की माया के कारण मोह हुआ था। पर मानस में यह समझ में नहीं आता क्योंकि यहाँ पर नारद विष्णु की माया से प्रभावित हैं; तथ्य यह है कि नारद इन उपदेशों की अधिक परवाह नहीं करते और जब वह ब्रह्मलोक में लौटते हैं तो राम का नाम जपते होते हैं।

यदि शिवपुराण को साथ में न देखा जाय तो यह सन्दर्भ बोधगम्य नहीं है। दूसरी ओर यह भी प्रतीत होता है कि कवि इस सन्दर्भ को बड़ी आसानी से या तो बिल्कुल ही छोड़ सकता था या इसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर सकता था और ऐसा करने से मुख्य कथा में कोई अन्तर भी नहीं पड़ता, विशेषकर जब कि तुलसीदास ने शिव की प्रधानता और सर्वशक्तिशालिता के विषय की विशेषताओं को कहीं कहीं छोड़ा भी है और उनमें परिवर्तन भी किया है। यदि उन्होंने इस सन्दर्भ को सुरक्षित रखा है तो आपाततः बोधपूर्वक; यही नहीं, उन्होंने इसके बाद एक सारगर्भित व्याख्या भी दी है जिसमें उनका एक अतिप्रियभाव अभिव्यक्त हुआ है, वह है शिवभक्ति का महत्व, क्योंकि वही राम की सच्ची भक्ति की आवश्यक शर्त और पक्की गारंटी है।

निजी लक्षण और उपाधियों से युक्त (विशेषकर हास्य प्रेमी) होने के अतिरिक्त, विष्णु इस उपाख्यान में परब्रह्म, और माया के स्वामी हैं। पर, परब्रह्म के रूप में विष्णु और राम में कोई अन्तर नहीं, इसी कारण इस उपाख्यान में कई स्थानों पर राम का उल्लेख हुआ है और इसी कारण राम-अवतार का विशदीकरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रस्तुत उपाख्यान रामावतार-उपाख्यान से पहले आया है।

'सती-चरित' के समान बालकाण्ड का 'नारदमोह' भी शिवपुराण से लिये गए एक उपाख्यान का वैष्णव शब्दावली में रूपान्तरमात्र है—अव्यवहारिक दृष्टि से याज्ञवल्क्य ही दोनों उपाख्यानों के प्रस्तुतकर्ता हैं; प्रस्तुतकर्ता की एकता से स्रोत तथा प्रेरणा की एकता स्पष्ट होती है। सती के समान नारद भी भगवान राम की माया के प्रभाव से ही मोह को प्राप्त और उससे मुक्त हुए। शिव का उपसंहारभाषण इस उपाख्यान के धार्मिक महत्व को रेखाङ्कित करता है—

यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमायाँ मोहहिं मुनि ग्यानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी। सेवत सुलभ सकल दुख हारी ॥[2]

अतः इस उपाख्यान का वर्णन करने से कवि का प्रयोजन असंख्य राम-अवतारों के कारण बताना इतना नहीं जितना अपनी आस्था के दो महान सत्यों का दृष्टान्त देना है, १—किसी को भी अपने गुणों में विश्वास और उनके विषय में अहंभाव करने का अधिकार नहीं है क्योंकि सब कुछ

[1] रा. च. मा. १, १३८, ३-४।
[2] रा. च. मा. १, १४०, ४।

भगवान की इच्छा पर निर्भर है, २—राम कृपालु हैं और अपने भक्तों का कल्याण करने के लिए ही अपनी माया का उपयोग करते हैं। इन्ही दोनों सत्यों का प्रचार और दृष्टान्त उत्तरकाण्ड के उत्तरार्द्ध में विस्तार से प्रस्तुत है।[1]

४. मनुसनरूपाचरित---(१. १४१–१५२)---

नारद-मोह के अन्त में शिव रामकथा की अनन्तता का पुनः उल्लेख करते हैं—

> एहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥
> कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥
> तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥
> बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने॥
> हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥[2]

वही शिव एक नये उपाख्यान की घोषणा करते हैं और इसे राम-अवतार का दूसरा कारण (अपर हेतु) बताते हैं। साथ ही वे राम की कथा भी कहते हैं—

> जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी॥
> अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम रुज हारी॥
> लीला कीन्हि जो तेहिं अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा॥[3]

यहाँ पर शिव-पार्वती और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज दोनों संवाद परस्पर परिवेष्टित हैं और यह कहना कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्ष प्रस्तुतकर्ता कौन हैं।

> भरद्वाज सुनि संकर बानी। सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी॥
> लगे बहुरि बरनै बृषकेतू। सो अवतार भयउ जेहि हेतू॥
>
> सो मैं तुम्ह सन कहउँ सबु सुनु मुनीस मन लाइ।
> राम कथा कलि मल हरनि मंगल करनि सुहाइ॥[4]

वास्तव में उपाख्यान के वर्णन में शिव और याज्ञवल्क्य, दोनों में से कोई भी प्रस्तुतकर्ता के रूप में उपस्थित नहीं होता; बल्कि शिव का उल्लेख अन्य पुरुष में हुआ है। यह भी कहा गया है

---

[1] दे० अध्याय १३—"भुशुण्डि-चरित"।
[2] रा. च. मा. १, १४०, १-३।
[3] वही, १, १४१, २-३।
[4] वही, १, १४१, ४ दोहा।

कि यहाँ पर एक भिन्न अवतार का प्रश्न है और उसकी कथा बाद में बतलाई जायेगी। इस उपाख्यान का प्रयोजन राम के केवल लौकिक जन्मदाता कौसल्या व दशरथ के जन्म की कथा समझाना है; रावण व कुम्भकर्ण की कथा बाद में आने वाले प्रतापभानुचरित में बताई जाएगी जो वास्तव में रामकथा से शृंखलाबद्ध है।

रामचरितमानस में मनुसतरूपाचरित का सारांश—

ब्रह्मा के पुत्र और मानव जाति के स्रष्टा मनु, चिरकालीन सुखी राज्य के पश्चात् यह सोचकर बहुत दुखी हुए कि उनका जीवन हरि की सच्ची भक्ति किये बिना ही व्यतीत हो गया। अत: राज्यभार अपने सबसे बड़े पुत्र को सौंपकर अपनी पत्नी सतरूपा के साथ वे नौमिषारण्य में गये। गोमती नदी के किनारे पहुँचकर वह दम्पती भी उन हरिभक्तों के साथ जा मिला जो इस पावन स्थान में निवास करते थे। हरि-राम से साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए उन्होंने तपस्या करना आरम्भ कर दिया।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव मनु के पास आये और उनकी परीक्षा लेने के लिए उनकी उग्र तपस्या का फल प्रदान करने का प्रस्ताव किया, परन्तु मनु ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब आकाश से हरि की वाणी सुनाई दी, "वर माँगो"। तब मनु ने हरि का प्रसाद माँगा जिससे वे उनके उस रूप को देख सकें "जिस रूप में आप शिव के हृदय में विद्यमान हैं।" तब मुकुट, पीला वस्त्र, व वनमाला से युक्त, हाथ में धनुष और बाण, और हृदय पर श्रीवत्स लिए, प्रभु ने मनु के सामने अपना भगवत् स्वरूप प्रगट किया। उनके साथ आदिशक्ति जानकी सुशोभित थी।

हरि ने उस (रूपमुग्ध) दम्पती को उठाया और उनकी किसी भी मनोकामना को पूर्ण करने का वचन दिया। तब मनु ने हरि के सदृश एक पुत्र माँगा। हरि ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। पर क्योंकि वे स्वयं अनुपम थे, उन्होंने अपने को ही मनु को अर्पित करने का वचन दिया। फिर मनु और सतरूपा ने यह वर माँगा कि उन दोनों की भगवान में अनन्त भक्ति रहे। यह वर भी स्वीकृत हो गया। इसके उपरान्त, मनु और सतरूपा अमरावती गए। इन्होंने ही बाद में ब्रह्म-अवतार राम के जन्मदाता अयोध्या के राजा दशरथ और रानी कौसल्या के रूप में पुन: जन्म लिया।

अपने वचनों को दोहरा कर भगवान अन्तर्धान हो गये। कुछ समय के पश्चात् ये दम्पती सुख से पंचत्व को प्राप्त हुआ और स्वर्ग में पहुँचा।

पुराणों व मानस में मनुकथा—

यहाँ पर प्रथम मनु अथवा स्वायम्भुव मनु की कथा है—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥
नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू॥
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥

आदिदेव प्रभु दीनदयाला । जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला ।।
सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना । तत्त्व बिचार निपुन भगवाना ।।[१]

सम्पूर्ण मानस में इस प्रकार की वंशावली ढूँढने पर भी कहीं नहीं मिलेगी। इस स्थल का पौराणिक स्वरूप इसकी विलक्षणता है। अत: यहाँ पर चौदह मनुओं में से ब्रह्मा के पुत्र सर्वप्रथम मनु का प्रश्न है, उनके प्रतियोगी विवस्वत के पुत्र, सातवें वैवस्वत मनु का नहीं जो भारतीय परम्परा के नोह हैं और जिनका नाम जलप्लावन की कथा और विष्णु के मत्स्य-अवतार से संबन्धित है।

परम्परा के अनुसार ये आदिमनु पवित्रता के आदर्श हैं। शतपथ ब्राह्मण (१, ५.८, २) के अनुसार इनकी तपस्या का प्रयोजन पुत्रप्राप्ति था, बल्कि देवताओं के कल्याण के लिए वे अपनी पत्नी की बलि देने को भी तत्पर थे। परन्तु पुराणों में कठोर तपस्या का अभ्यास तथा पार्थिव वैभव का त्याग वैवस्वत कहलानेवाले सातवें मनु से सम्बन्धित है। उनके विषय में मत्स्यपुराण में निम्न लिखित वर्णन मिलता है—

"प्राचीन काल में सूर्य के धैर्यवान पुत्र, और पराक्रमी व गुणी राजा, मनु ने राज्यभार अपने पुत्र को सौंप दिया और स्वयं एक ऐसे स्थान में चले गए जहाँ पर सुख व दुख से उदासीन उन्होंने एक लाख वर्ष तक घोर तपस्या की . . . . . .। अन्त में उन्हें ब्रह्मा ने दर्शन दिया और कहा—'अपनी इच्छानुसार कोई भी वर मांगो'। ब्रह्मा की वन्दना करके मनु ने उत्तर दिया—'मैं आपसे एक अत्युत्तम वर की प्रार्थना करता हूँ, मैं चाहता हूँ कि जब प्रलय हो तो मैं उस सर्वनाश से सुरक्षित रहूँ जिसमें चराचर सब वस्तुएँ समाप्त हो जाएँगी।'"[२]

यहाँ पर मनु के त्याग और तपस्या का संबन्ध ब्रह्मा की कृपा और जलप्लावन की कथा से है और विष्णु के मत्स्यावतार का वर्णन करने वाले सभी ग्रन्थों[3] और महाभारत में भी यही बात मिलती है।

पर गरुड़पुराण के अनुसार इस प्रकार की घोर तपस्या केवल मनु वैवस्वत की ही नहीं प्रत्युत स्वायम्भुव मनु से लेकर सारे ही मनुओं की विलक्षणता है—

"सूत कहता है—स्वायम्भुव और सभी मनु तपस्या के और पूजा इत्यादि के नियमों का पालन करते हैं, हरि के पावन मंत्रका जाप करते हैं और उनके सनातन स्वरूप पर विचार करते हैं"।[४]

भागवत पुराण में स्वायम्भुव मनु की हरि के प्रति श्रद्धा का विशेष उल्लेख है। अष्टम स्कन्ध के प्रथम अध्याय में परीक्षित शुकदेव से पिछले मन्वन्तरों में हुये हरि-चरित्र को सुनने की

---

[१] रा. च. मा. १, १४२, १-४। भागवत पुराण के अनुसार मनु और सतरूपा के तीन कन्याएँ थी—आहूति जिसका विवाह प्रजापति रुचि से हुआ; देवहूति जिसके पति का नाम कर्दम था और प्रसूति जिसके पति दक्ष हुये।

[२] मत्स्यपुराण, १, १२, १३, अंग्रेज़ी अनुवाद, वन्स केनेडी, रिसर्चेज़ . . . . . पृ० २३५, २३६; म्यूर, ओरिजनल संस्कृत टैक्स्ट्स्, भाग १।

[3] मत्स्यावतार की कथा सभी पुराणों में उल्लिखित है पर केवल मत्स्यपुराण, अग्निपुराण और भागवतपुराण में वर्णित है।

[४] गरुड़पुराण, अध्याय ९१।

6

विनती करते हैं और शुकदेव मनु स्वायम्भुव की घोर तपस्या का वर्णन करता है। तपस्या के साथ साथ मनु स्वायम्भुव परब्रह्म भगवान की स्तुति भी करते हैं। अत: भागवत जन मनु को हरि का महान भक्त मानते हैं। भक्तमाला के बारह महाभक्तों में मनु का छटा स्थान है।[1]

मानस में, ब्रह्मा विष्णु और शिवका मनु के पास आना, मत्स्यपुराण में वैवस्वत मनु को ब्रह्मा का दर्शन होने का स्मरण दिलाता है। परन्तु मानस में तीनों देवों की उपस्थिति का प्रयोजन हरि के प्रति मनु की भक्ति को प्रमाणित करना है; अन्त में हरि, मनु और सतरूपा की इच्छा को पूर्ण कर देते हैं और स्वयं उनके पुत्र के रूप में उत्पन्न होने का वचन देकर उनकी तपस्या को सफल करते हैं।

भागवत पुराण में मनु और सतरूपा को दिए हरि के वचन और इन दोनों के दशरथ और कौसल्या के रूप में पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं है। पर दशम स्कन्ध में (३, ३२-४५) बाल-कृष्ण ने अपने पार्थिव माता पिता वसुदेव और देवकी को बताया कि वे दो बार पूर्वजन्म में उनके पुत्र थे—पहली बार स्वायम्भुव के समय में, प्रजापति सुतप: और उनकी पत्नी पृश्नि ने हज़ारो वर्ष तक कठोर तपस्या की थी, इसके फलस्वरूप उन्हें विष्णु-हरि के दिव्य स्वरूप का दर्शन हुआ जिससे उनकी सभी कामनाओं की पूर्ति होनी थी। उस दम्पती ने हरि के समान पुत्र पाने की इच्छा प्रगट की थी और कृष्ण के रूप में स्वयं उनका पुत्र बन कर हरि ने उनकी इच्छा को पूर्ण किया था। मानस की कथा में सुतप: और पृश्नि का स्थान मनु और सतरूपा ने ले लिया है और कृष्ण का राम ने। परन्तु कथा वही है। निश्चय ही यहाँ पर भागवत पुराण ही रामचरितमानस का, कम से कम अप्रत्यक्ष, आधार है।

मानस के 'मनु-सतरूपा-चरित' में मनु को वासुदेव (कृष्ण) के उपासक के रूप में प्रस्तुत किया है और वे द्वादशाक्षर के मंत्र का प्रेम सहित जाप करते हैं। मानस में वासुदेव का नाम केवल दो बार आया है—इस 'मनु-सतरूपा-चरित' में और तत्पश्चात् 'प्रतापभानु-चरित' में। यह द्वादशाक्षरी मंत्र प्राचीन भागवतों का मंत्र है "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"। अत: मनु की उपासना कृष्ण वासुदेव के उपासक भागवत की सी है, रामानन्दी की नहीं।[2]

जैसे आगे चलकर कौसल्या[3] के समक्ष, वैसे ही यहाँ पर मनु स्वायम्भुव के समक्ष भगवान, श्रीवत्स मणि से सुशोभित, कण्ठ में वनमाला और पीताम्बर धारण किए विष्णु के रूप में प्रगट होते हैं (१, १४६, ४ दो०; १४७; १४८)। परन्तु इस उपाख्यान में, परब्रह्म या भगवान के रूप में हरि-राम, विष्णु से स्पष्टतया भिन्न हैं; वैसे ब्रह्मा और शिव के साथ विष्णु मनु की परीक्षा के लिए उपस्थित हुए थे। उधर सीता संसार की सृष्टि करने वाली आदिशक्ति और माया से अभिन्न कही गई हैं। सतीचरित के समान इस उपाख्यान में भी जब मनु के समक्ष भगवान प्रगट होते हैं तो हरि-राम के बाईं ओर सीता भी होती हैं और देव तथा देवी का रूप "अनुरूप"[4] है। इस बात में तुलसीदास की कथा भागवत

---

[1] तुलना करो-ग्रियर्सन-'ग्लीनिंग्स् . . . . .', ज. रा. ए. सो. १९१०, पृ० ९७ व १०१।

[2] फर्कुहर के अनुसार (ज. रा. ए. सो. १९२०, पृ० १८५) रामानन्दी मंत्र "ॐ रामाय नम:" है; पर सीताराम के अनुसार (ज. रा. ए. सो. १९२१, पृ. २३९) वह "रान् रामाय नम:" है।

[3] दे० अध्याय ५, पृ० ८७।

[4] रा. च. मा. १, १४८, १।

"बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥" यहाँ पर व्याख्याकारों ने

पुराण से भिन्न है क्योंकि भागवत में विष्णु और भगवान में कोई भेद नहीं माना गया और वहाँ पर परब्रह्म की "शक्ति" का भी प्रश्न नहीं है। यह सुविदित है कि इस प्रकार के शाक्त विचार राम-भक्ति साहित्य में, विशेषकर अध्यात्मरामायण और उससे भी अधिक, अद्भुत रामायण में प्रवेश पा गए हैं जिससे सीता को उसी प्रकार राम की शक्ति बताया जाता है जैसे निम्बार्कदर्शन में राधा को कृष्ण की शक्ति कहा गया है। इस प्रसंग का प्रत्यक्ष आधार कोई ऐसी साम्प्रदायिक रामायण होगी जो भागवत पुराण से प्रभावित और शाक्त विचारों से अनुप्राणित रही हो।

५—प्रतापभानुचरित (१. १५३-१७६)

मानस में 'मनुसतरूपाचरित' के समान 'प्रतापभानुचरित' भी याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और शिव-पार्वती संवादों के परस्पर परिवेष्टन के द्वारा प्रस्तुत हुआ है—

> **यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही बृषकेतु।**
> **भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु॥**
> **सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥**[१]

मनुसतरूपाचरित के समान इस कथा में भी तुलसीदास के सिवा अन्य कोई प्रस्तुतकर्ता कथा में उपस्थित नहीं होता। तुलसीदास का नाम दो स्थानों (१. १५९, दोहा २; तथा १६१, सोरठा) पर आता है। डा० मा. प्र. गुप्त[२] ने इन दोनों स्थलों को तुलसीदास के प्रत्यक्ष प्रस्तुतकर्ता होने का प्रमाण माना है। परन्तु इन दोनों स्थानों में वर्णन से असंबद्ध सामान्य नीतिप्रधान कथन हैं[3] और ये १५९ वें और १६१ वें पद्यों में जोड़े गए हैं जिससे इन दोनों पद्यों में १० के स्थान पर १२ अर्धालियाँ हो गई हैं। इसमें सन्देह कम है कि तुलसीदास ने इस कथा का प्रस्तुतकर्ता याज्ञवल्क्य को माना हो जो उपसंहार में फिर से प्रस्तुत होते हैं।

"अनुकूला" के कई और प्रायः अशुद्ध अर्थ किए हैं। इसका अर्थ बालकाण्ड के ५४ वें पद्य के दोहे की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है। दे० अध्याय २, पृ० ३७ पादटिप्पणी १।

[१] रा. च. मा. १, १५२, दो०; १५३, १।

[२] गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २५८।

[3] रा. च. मा. १. १५९ दो० २—"तुलसी कहते हैं, जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही सहायता मिल जाती है या तो वह आप ही उसके पास जाती है या उसको वहाँ ले जाती है।" रा. च. मा. १. १६१ सोरठा—"तुलसी कहते हैं, सुन्दर वेश देखकर मूढ़ नहीं चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं। सुन्दर मोर को देखो उसका वचन तो अमृत के समान है और आहार साँप का" है। (भारतीयों के लिए मोर का केकारव यद्यपि कर्कश है तब भी प्रिय होता है क्योंकि उससे वर्षा का आगमन सूचित होता है)।

केकय देश का प्रतापभानु नामक राजा "इस पवित्र और प्राचीन" कथा का नायक है। किसी ब्राह्मण के शाप के कारण ही वह रावण के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ। इस प्रकार प्रतापभानुचरित राम के अवतार का "अपर हेतु" है।

रामचरितमानस में प्रतापभानुचरित का सारांश—

केकय देश में सत्यकेतु नाम का शुद्धात्मा राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे, बड़े का नाम प्रतापभानु और छोटे का नाम अरिमर्दन था। इन दोनों भाइयों में परस्पर बहुत स्नेह था। शीघ्र ही राजा ने राज्यभार बड़े लड़के को सौंप दिया और स्वयं वन में चला गया।

अपने बुद्धिमान और चतुर अमात्य धर्मरुचि की सहायता से प्रतापभानु ने अपने शस्त्रबल से सारे जगत पर विजय पा ली और फिर अपनी राजधानी में लौटा और राजतंत्र तथा धर्म के कार्यों में लग गया। वह सभी राजकीय गुणों का आदर्श था और प्रजा उससे बहुत सुखी थी।

एक दिन राजा विन्ध्यवन में वराह का पीछा करते करते अपने साथियों से अलग बहुत दूर निकल गया। वन में प्यास बुझाने के लिए एक जलप्रवाह की खोज में उसने एक आश्रम देखा जहाँ तपस्वी के वेश में एक ऐसा सम्राट् रहता था जिस पर उसने विजय पाई थी और जिसे सिंहासन से हटाया था। इस कृत्रिम तपस्वी ने अपने शत्रु को शीघ्र ही पहिचान लिया पर राजा ने उसे नहीं पहिचाना और उसके आतिथ्य को स्वीकार कर लिया। राजा और आश्रम निवासी, इन दोनों ही ने अत्यधिक विनय दिखाई और परिचय देते हुए राजा ने अपने को प्रतापभानु का अमात्य बताया और आश्रम निवासी ने अपने को एक सामान्य भिखारी। छलपूर्ण भाषण से राजा को विश्वास दिला कर उस कृत्रिम तपस्वी ने कहा कि उसका "सच्चा" नाम एकतनु है, क्योंकि घोर तपस्या के कारण उसने अपना शरीर कभी नहीं बदला। इस तपस्वी की झूठी पवित्रता के पूर्णतया वशीभूत प्रतापभानु अपनी वास्तविक स्थिति को बताने के लिए तत्पर होगया। पर आश्रम निवासी ने तो पहिले ही अनुमान लगा लिया था और राजा के गुणों और प्रवीणता की प्रशंसा करके उसने राजा से कहा—अब मैं तुम्हारी सब मनोकामनाओं की पूर्ति करने को सन्नद्ध हूँ। तब प्रतापभानु ने उससे वृद्धावस्था में और बिना दुख के मरने की, अपने शत्रुओं पर सदा विजयी होने की और अपने साम्राज्य के सौ कल्पों तक बने रहने की याचना की।

इस तपस्वी ने राजा को विश्वास दिलाया कि उसकी सब इच्छाएँ तब पूरी होंगी जब कि एक तो वह किसी को भी इस वार्तालाप के विषय में न बताए और दूसरे, कि वह किसी भी ब्राह्मण के शाप का पात्र न हो। तब राजा ने पूछा कि इस अनिष्ट से किस प्रकार रक्षा हो सकती है तो उस कपटी ऋषि ने बहुत ही सावधानी से अपनी योजना बताई। इसके अनुसार राजा को पूरे साल तक एक लाख नये २ ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन खिलाने का व्रत लेना था। उसने स्वयं रसोइया बनने का प्रस्ताव किया कि वही सब अतिथियों को भोजन करायेगा—इस प्रकार जो भी उसका भोजन खायेगा वही प्रतापभानु के वश में हो जाएगा। वे लोग उसके नाम में यज्ञ करेंगे और देवताओं को प्रसन्न कर लेंगे। इसके बाद उस कपटी ने कहा कि अब से तीन दिन पश्चात् वह प्रतापभानु के महल में पहुँचकर उसका पुरोहित बन जायगा और सब व्यवस्था कर लेगा।

इस कृत्रिम तपस्वी के वचनों का विश्वास करके राजा सो गया। जो वराह उसे इतनी दूर ले आया था वही उस सोते सोते राजा को महल में ले गया। यह वराह ही कालकेतु नामक राक्षस और इस आश्रमी का सहयोगी था जिसे प्रतापभानु ने युद्ध में मारा था। इस प्रकार राक्षस ने प्रतापभानु को उसकी शय्या पर ला डाला, उसके पुरोहित को हर लिया, और उस पुरोहित को एक पर्वतीय गुहा में बन्द करके स्वयं उसका स्थान ले लिया।

प्रात:काल होते ही जब राजा उठा तो अपने को शय्या में देख कर बहुत चकित हुआ। उसने अपना घोड़ा सम्भाला और जब तक किसी ने उसको देखा भी नहीं था कि वह बाहर निकल आया; थोड़ी देर बाद जब उसने राजमहल में प्रवेश किया तो उसे आखेट से लौटा जानकर सब लोग बहुत सुखी हुए। तीन दिन के बाद उसके गुरु ने उसे अलग बुलाया और अपना पूरा विवरण बताया जिससे राजा उसे पहिचान गया। इससे हर्षित होकर राजा ने तुरन्त ही ब्राह्मणों को बुलाया। इस बीच उस बनावटी गुरु ने पकवान की तय्यारी करवाई और उसमें ब्राह्मणों का माँस मिलवा दिया। स्वयं उसने राजा के अतिथियों का बहुत नम्रतापूर्वक स्वागत किया और यथोचित स्थानों पर आसीन कराया। उन अतिथियों ने खाने को हाथ भी नहीं लगाया था कि आकाशवाणी हुई जिसने उन्हें बताया कि इस खाने का स्पर्श नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें ब्राह्मण का माँस मिला है। राजा अवाक् रह गया। क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों ने उसे शाप दिया कि वह और उसका सारा कुटुम्ब पुन: राक्षस कुल में उत्पन्न होगा, कि केवल चार दिन के भीतर उसका सर्वनाश हो जाएगा, और उसके पितरों को पिण्ड देने तक के लिए कोई नहीं बचेगा।

एक बार फिर आकाशवाणी हुई और उसने क्रुद्ध ब्राह्मणों को बताया कि राजा अपराधी नहीं है। जब राजा रसोईघर में गया तो न वहाँ पर खाना था और न रसोइया। तब उसने ब्राह्मणों को सारी कथा सुनाई और उनके पैरों पर गिर गया परन्तु वे उसे वहीं छोड़कर चले गए क्यों कि ब्राह्मणों के शाप को कोई भी बदल नहीं सकता।

पर राक्षस, राजा के पुरोहित को राजमहल में ले आया। और उसने उस कपटी तपस्वी को जाकर सारी कथा सुनाई। इसने प्रतापभानु के सभी शत्रु राजाओं को बुलाया। वे सब के सब आये। उन्होंने नगर को घेर लिया। इस प्रकार प्रतापभानु के सारे सेनानी, वह स्वयं तथा उसका सारा कुटुम्ब नष्ट हो गया।

मानस में प्रतापभानुचरित —

यह कथा पौराणिक कथाओं के समान आरम्भ होती है—सबसे पहले राजा का वंश, उसके विजययुद्ध और उसके राज्य के सुख का वर्णन होता है। पर महाभारत[१] और पुराणों[२] में यह नायक

[१] महाभारत में प्रताप नामक सौवीर राजकुमार का वर्णन है—द्रौपदीहरण में वह जयद्रथ का एक अनुयायी है (महाभारत ३, २६५, १५५९८)।

[२] भागवत पुराण (९, १७, ८) में सत्यकेतु, पुरुरवस के पुत्र 'आय' का वंशज कहा गया है। धर्मकेतु के पुत्र सत्यकेतु के धृष्टकेतु नाम का पुत्र था और वह केकेय प्रदेश का राजा था। यह हमारे प्रतापभानु के सदृश है।

अज्ञात है यद्यपि केकय प्रदेश का, जहाँ पर प्रतापभानु को राज्य करते बताया गया है, उल्लेख महाभारत और वाल्मीकि रामायण दोनों में है। केकय अथवा कैकय लोग महाभारत के युद्ध में भाग लेते हैं और उनका राजा, कृष्ण का सम्बन्धी है; रामायण (२, ५३) के अनुसार केकय प्रदेश विपासा नदो के पूर्व में स्थित है।

प्रतापभानु का वन में गमन और वहाँ पर कृत्रिम तपस्वी से उसकी भेंट कदाचित् लौकिक कथासाहित्य से प्रेरित हो क्योंकि प्रतापभानु की कथा कई भारतीय लोककथाओं के सदृश है—पर क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी या सोमदेवकृत कथासरित्सागर में किसी प्रतापभानु का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतापभानु की कथा "अगस्त्य" तथा "मञ्जुल"[१] नामक साम्प्रादायिक रामायणों में मिलती है। हो सकता है कि तुलसी ने इनमें से किसी एक रामायण से या किसी अन्य वैष्णवाधार से यह कथा ली हो। जैसे इससे पूर्व की कथा में मनु, वैसे ही यहाँ प्रतापभानु को वासुदेव का भक्त बताया गया है—

हृदयँ न कछु फल अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना॥
करइ जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥[२]

तुलसी ने प्रत्यक्ष किसी भो आधार का उपयोग किया हो, पर इस कथा के लौकिक आधार में कम सन्देह है—इससे वेतालपञ्चविंशति की कथाओं का स्मरण हो आता है। इसके वर्णन में लौकिक सुभाषित भरे पड़े हैं और यत्रतत्र नीति के नियम और आचार-व्यवहार के उपदेश दिए गये हैं। कपटी तपस्वी और राजा दोनों ही विनय प्रदर्शन करते हैं और ऐसे वाक्य कहते हैं जो नीतिशास्त्र के ग्रन्थों को भी मात कर दें—

सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव॥[3]

नाथ निगम असि नीति बखानी॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥[४]

यद्यपि इस कथा से आचार-व्यवहार के निमित्त बहुत से उपदेश ग्रहण किये जा सकते हैं तथापि स्वभाव से यह कथा उदात्त नहीं है; निरपराधी और सज्जन प्रतापभानु दुर्भाग्य के वश में आ जाता है। इस कथा का उपसंहार याज्ञवल्क्य करते हैं—

---

[१] रामदास गौड़ (हिन्दुत्व, बनारस, १९४०) ने कुछ रामायणों का उल्लेख किया है जिनमें "अगस्त्य रामायण" (१६००० श्लोक) और "मञ्जुल रामायण" भी हैं, और कहा है कि यहाँ प्रतापभानु और अरिमर्दन की कथा दी गई है (इस विषय में अधिक निर्देश नहीं है)।

[२] रा. च. मा. १, १५६, १।

[3] रा. च. मा. १, १६३ सोरठा।

[४] वही १, १६७, ३-४।

भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरुसम जनक जम ताहि ब्यालसम दाम ॥ [1]

वही याज्ञवल्क्य भरद्वाज को बताते हैं कि ब्राह्मणों का शाप किस तरह फलीभूत हुआ—

काल पाइ मुनि सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥
भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भयउ सो कुंभकरन बलधामा॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्यान निधाना॥
रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे॥
कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका॥
कृपा रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं बिस्व परितापी॥

उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर श्राप बस भए सकल अघरूप॥ [2]

मानस में इस कथा का प्रयोजन रावण को हरिभक्त बताकर प्रतिष्ठित करना है क्योंकि वह शत्रु की कुटिलता के और दुर्भाग्य के वशीभूत हुआ। वस्तुतः प्रतापभानु को जो दण्ड मिला वह देखने में अन्याय प्रतीत होता है यद्यपि वह उसके ही हित में है, क्योंकि उसका मरण हरि के अवतार के हाथों होगा, जिससे, भागवतों के अनुसार, उसकी मुक्ति निश्चित है।

६—रावण-चरित (१. १७७-१८४)

प्रतापभानुचरित के अन्त में ही याज्ञवल्क्य 'रावणचरित' को प्रस्तुत करते हैं, जो उस चरित का विस्तारमात्र है। वस्तुतः याज्ञवल्क्य को ही 'रावण चरित' का प्रमुख प्रस्तुतकर्ता समझना चाहिए, वे ही बार बार भरद्वाज को शिव-पार्वती संवाद भी सुनाते हैं। पर १७६ वें पद्य की पहली चौपाई के बाद न तो कभी याज्ञवल्क्य उपस्थित ही होते हैं और न बाद में उनका कोई उल्लेख ही होता है। डा० मा० प्र० गुप्त [3] शिव को रावणचरित का प्रस्तुतकर्ता मानते हैं। क्योंकि इस चरित के अन्त में शिव आ उपस्थित होते हैं (१, १८४, २)। परन्तु कथा के बीच में कोई प्रस्तुत-कर्ता नहीं आता और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि पूर्ववर्ती उपाख्यानों के समान इस का प्रस्तुतकर्ता भी याज्ञवल्क्य को बनाना चाहता था।

---

[1] रा. च. मा. १, १७५, दोहा।
[2] रा. च. मा. १, १७६, १ दोहा।
[3] गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५९।

इस उपाख्यान की छन्दोरचना पहिले पद्यों की अपेक्षा कुछ कम नियमित है—दो पद्यों में, एक दोहे के स्थान पर दो दोहे हैं; पद्यों में सामान्यतया चार चौपाइयाँ होती हैं पर १८२ वें पद्य में सात चौपाइयाँ हैं। इस दृष्टि से रावणचरित तत्पश्चात् आने वाले राम के 'बालचरित' के समान है।

वाल्मीकि रामायण में रावण के अत्याचारों को विष्णु के राम-अवतार का (अन्य कारणों को छोड़कर) नैमित्तिक कारण बताया गया है। पृथ्वी के भार को हल्का करने के लिये और राक्षसों द्वारा पीड़ित देवताओं की चिन्ता दूर करने के लिए विष्णु अवतार लेने की स्वीकृति देते हैं। परन्तु रावण कौन था और उसने कौन अत्याचार किए इस विषय में वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में कुछ चर्चा नहीं मिलती। विचित्रता यह है कि इस विषय की सूचना उत्तरकाण्ड में दी गई है जहाँ रावण तथा अन्य राक्षसों के कार्यों का विस्तृत विवरण दिया गया है (७. १-३४)। वाल्मीकि रामायण की कथा का अध्यात्मरामायण ने समीप से अनुकरण किया है और उसमें भी यही व्यवस्था सुरक्षित है—वहाँ 'रावण चरित' उत्तरकाण्ड के दूसरे और तीसरे सर्गों में वर्णित है।

इसके विरुद्ध, रामचरितमानस में देवों और पृथ्वी के ब्रह्मा के पास जाने से पूर्व ही रावण के अत्याचारों का वर्णन है। पर मुख्य रूपरेखा वाल्मीकि रामायण से मिलती जुलती है—पुलस्त्य के वंशज रावण और उसके भाइयों ने कठिन तपस्या करके ब्रह्मा का प्रसाद पाया और ब्रह्मा ने उन सब को वर दिए। रावण ने वर मांगा कि—मनुष्य और बन्दर को छोड़कर—वह किसी भी जीव द्वारा न मारा जाय। सरस्वती के मोह में आने से कुम्भकर्ण ने लगातार ६ मास तक सोते रहने का वर मांगा, और विभीषण ने विनती की कि भगवान में उसकी अनन्य भक्ति रहे। समुद्र के शिलाप्रधान द्वीप में लंका के चमत्कारपूर्ण नगर को बनाने वाले मय नामक राक्षस की पुत्री मन्दोदरी का विवाह रावण से हुआ। वहाँ पर रावण का सौतेला भाई धनपति कुबेर राज्य करता था। रावण और उसके राक्षसों ने नगर को घेर लिया और उसे लूट लिया। तब से अहंकारी रावण ने कुबेर और शिव के विरुद्ध कई युद्ध किये और वह कैलाश को कम्पाने में भी सफल हुआ। इन विजयों से उन्मत्त और अपने भाइयों और सैनिकों की शक्ति से आश्वस्त रावण ने देवताओं और ब्राह्मणों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया, आकाश और पृथ्वी की दुर्दशा की, कई राजकुमारियों का हरण करके उन्हें अपनी रानियां बना लिया, धर्म तथा नीति का विध्वंस किया और भूमण्डल में उपद्रव मचा दिया। अन्त में, पृथ्वी, सन्त और देव, सब पीड़ित होकर ब्रह्मा की शरण लेने पहुँचे।

इस "जीवनवृत्त" की विशेषता यह है कि इसमें राजकुमार अथवा क्षत्रिय रावण के प्रतिकूल पड़ने वाले प्रसंगों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। बलि की राजधानी में रावण का लज्जाजनक प्रवेश जहाँ पर वह बच्चों के खिलौने के समान बन गया और उसको मेले के दानव की तरह नचाया गया; बाली नाम के वानर से उसका दुर्भाग्यपूर्ण युद्ध जब कि बाली ने उसे दस महीने तक अपनी भुजाओं का बन्दी बनाये रक्खा; तथा अपने भाई की पत्नी का अपहरण करने का उसका गर्हणीय प्रयास, इन सब बातों की रावणचरित से हमें कोई सूचना नहीं मिलती। परन्तु रावण और बालीपुत्र अंगद के कलह में रावण की पराजय का उल्लेख लंकाकाण्ड[1] में हुआ है। सम्पूर्ण मानस के समान, बालकाण्ड के

[1] रा. च. मा. ६, २० इत्यादि। कुछ लिपिकारों ने इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप १८२ वें पद्य की नवीं और दसवीं अर्धाली के बीच एक दीर्घ प्रक्षिप्तांश है—

इस रावणचरित में रावण का चित्रणा गौरवहीन नहीं। वह परशुराम के समान साधारण और अशिष्ट वीर नहीं है परन्तु वह देवों का शत्रु, अधर्म का नेता और अपने दिव्य शत्रु राम का विरोधी है।

रावण के अत्याचारों का वर्णन १८३ वें पद्य के छन्द और सोरठे में है—

> बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
> हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

इसके आगेवाले पद्य में, जिसमें एक छन्द और एक सोरटा है, वर्णन पुनः आरम्भ होता है पर इस बार शिव इसे कहते हैं—

> बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
> मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
> जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥[1]

तत्पश्चात् शिव पार्वती को बताते हैं कि पृथ्वी, सन्त और देवगण किस प्रकार अपना दुःख सुनाने ब्रह्मा के पास गये जो विष्णु ने राम अवतार लेकर उन सब को सान्त्वना दी। यहाँ रामचरितमानस की कथा वाल्मीकीय कथा से मिलती है और कम से कम रूपरेखा की दृष्टि से उत्तरकाण्ड के पारम्भिक पद्यों तक एकसमान रहती है। कथा की प्रस्तावना से सम्बन्धित बालकाण्ड के प्रथम भाग, और राम के जन्म, शैशव और कुमारावस्था से सम्बन्धित द्वितीय भाग के बीच, रावणचरित एक प्रकार की कड़ी है।

रामचरितमानस में अवतार के कारण—

बालकाण्ड के इस भाग में, जहाँ पर राम-अवतार के कारणों का विवरण है, भागवत पुराण का प्रभाव विशेष द्रष्टव्य है। इस कथा को अनुप्राणित करनेवाला मुख्य भाव, भगवान की कृपा में श्रद्धा को उनके अवतारों का आवश्यक निमित्त मानना है। विष्णु के अवतार के परम्परागत कारण, अर्थात् पीड़ित देवताओं और पृथ्वी की सहायता करना, को यहाँ पर न माना हो ऐसा नहीं है परन्तु यह कारण उपर्युक्त निमित्त की अपेक्षा गौण है। चाहे भगवान किसी को दण्ड दें, मोह में डालें या मार दें, यह सब उनकी माया के बल से है और सदा उनकी कृपा से प्रेरित होता है—यही दृष्टिकोण भागवत पुराण का है। पर मानस में सारे ही उपाख्यानों का केन्द्र केवल राम-अवतार है। विष्णु के अन्य अवतारों का उल्लेख बहुत ही कम हुआ है। यद्यपि भागवत पुराण में विष्णु और भगवान एक ही हैं, मानस में राम और विष्णु की अभिन्नता का उल्लेख यदाकदा हुआ है और उनका संबन्ध अस्थिर सा है,

---

इसमें रावण का बलि के यहाँ जाने, बाली से उसके युद्ध और उर्वशी से उसकी भेंट का उल्लेख मिलता है। ग्राउज़ ने इस प्रक्षिप्तांश का भी अनुवाद किया है (इं. ट्रॉं. पृ० १०६ इत्यादि।)

[1] रा. च. मा. १, १८४, १-२।

उदाहरणत: भागवत पुराण में जय-विजय का उपाख्यान हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष की उत्पत्ति पर प्रकाश डालता है, पर मानस में वही उपाख्यान विस्तृत होकर रावण और कुम्भकर्ण के जन्म की व्याख्या करता है जिस के कारण राम-अवतार हुआ।

इस 'रावण चरित' की एक विशेषता यह है कि यहाँ रावण को महत्व मिला—तीन उपाख्यान (जय-विजय, जलन्धर और प्रतापभानु) उसकी उत्पत्ति और उसके अकारण दुर्भाग्य पर प्रकाश डालते हैं; अन्तिम (अर्थात् रावण चरित) उसके अनुकूल है और उसके विशिष्ट जीवन का सार प्रस्तुत करता है।

हमें ज्ञात है कि एक प्राचीन परम्परा के अनुसार रावण आदरणीय है; यह परम्परा हमें जैन रामायण[1] और बौद्धधर्मप्रेरित विभिन्न ग्रन्थों में सुरक्षित मिलती है। दिनेश चन्द्र सेन[2] के अनुसार रावण द्राविड़ कथाओं का नायक है। इसी कारण बंगाली रामायणों में इस पात्र को जो गौरव प्राप्त है वह समझ में आ सकता है क्योंकि यह तथ्य कथा की अवाल्मीकीय लौकिक परम्परा पर अधिक आश्रित है। इन रामायणों में यद्यपि (बौद्ध आधारों के समान) सीता बहिन नहीं तो रावण की संबन्धी अवश्य हैं। काश्मीरी रामायण में सीता रावण की पुत्री हैं। अद्भुत रामायण में वह मन्दोदरी की पुत्री हैं। प्राचीन लोकसाहित्य में सीता का संबन्ध प्राय: रावण की पत्नी से बताया गया है। परन्तु मानस में इन सब परम्पराओं का लवलेश चिह्न प्राप्त नहीं होता और न ही सीता की उत्पत्ति की विवेचना मिलती है।

मानस में, रावण का अपेक्षाकृत ऊँचा स्थान अवाल्मीकीय परम्परा के प्रभाव के कारण नहीं अपितु भागवत धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रतीत होता है—क्योंकि भागवतों में यह भाव प्रचलित है कि स्पष्ट विद्रोह से आराध्य देव का प्रसाद और उनकी सेवा का अवसर प्राप्त होता है—इष्टदेव का क्रोध उनके स्नेह को प्रदान करता है . . . . . जो भी व्यक्ति हरि के किसी अवतार के हाथों नष्ट होता है वह परम गति को निश्चय ही प्राप्त होता है! और इसी कारण यह भाव आया होगा कि इस प्रकार की मृत्यु किसी पूर्वजन्म की अनन्य भक्ति का फल है—इस सिद्धान्त के आन्तरिक तर्क के कारण राम के भक्तों ने रावण को भी एक सन्त के समान मानकर पूजा। यही भावना अध्यात्म रामायण में भी सुव्यक्त है और यह रामायण सभी मध्ययुगीन रामायणों के सदृश भागवत पुराण से प्रभावित है। प्रतापभानु की कथा, जिसे तुलसीदास ने संभवत: इन्हीं रामायणों में से किसी एक से लिया है, रावण को एक अभागे भक्त के रूप में प्रस्तुत करके उसे प्रतिष्ठित पद देने में सफल हुई है।

धार्मिक प्रेरणा ने इस अंश को एक सूत्र में बाँधा हुआ है, पर कवि को इन विभिन्न आधारों और लक्षणों के उपाख्यानों को सूत्रबद्ध करने में कठिनाई का अनुभव अवश्य हुआ होगा। इन में से अधिकतर उपाख्यानों में शिव का स्थान है पर प्रस्तुतकर्ता के रूप में शिव के स्थान पर कहीं २ याज्ञवल्क्य आगए हैं; ये 'नारद-मोह' और अन्य उपाख्यानों के आरम्भ में अकस्मात् उपस्थित हुए हैं पर 'रावण चरित' के आरम्भ के पश्चात् इन का कोई ज़िक्र नहीं होता। इनको प्रस्तुतकर्ता के रूप में चुनना किसी आधारविशेष के प्रति पक्षपात के कारण नहीं प्रतीत होता अपितु इस अंश के

---

[1] दे० याकोबी, पउमचरिऊ, ए जैन रामायण, मौडर्न रिव्यू १९१४, ५७४; व नरसिंहाचार, इ. हि. क्वा. १५, पृ० ५७४।

[2] "दि बैंगोली रामायणज़" पृ० २७ इत्यादि।

लक्षण के अनुकूल है; क्योंकि भागवतों में याज्ञवल्क्य का बहुत आदर है। विष्णु पुराण (३, ५ इत्यादि) व भागवत पुराण (१२, ६, ६७-७२) में इन्हें हरि का परम भक्त कहा गया है। "रामतापनीयोपनिषद्" नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थ में इन्हीं याज्ञवल्क्य ने राम की दिव्यता का निर्देश किया है।[1] मानस के आमुख में (१, ३०) इनको भी रामकथा का एक प्रस्तुतकर्ता बताया गया है;[2] वस्तुतः तुलसी ने विभिन्न आधारों से प्रेरित बालकाण्ड के प्रथम भाग में आए उपाख्यानों को रामकथा में सम्मिलित करने के लिए याज्ञवल्क्य के नाम का उपयोग किया है।

आमुख के ३०वें पद्य में मानस के प्रस्तुतकर्ताओं में भुशुण्डि की गणना है और 'मनुसतरूपाचरित' में (१, १४६, ३) उनके विषय में 'अन्य पुरुष' का प्रयोग हुआ है। अतः जिस समय कवि बालकाण्ड के इस भाग की रचना कर रहे थे तो भुशुण्डि को राम का परम भक्त और आदरणीय मानते थे, परन्तु आपाततः तब तक उन्हें भुशुण्डि को रामकथा का प्रस्तुतकर्ता बनाने का विचार नहीं था। पर बालकाण्ड के इस भाग में और उत्तरकाण्ड में परस्पर सम्बन्ध के कुछ संकेत हैं यद्यपि बालकाण्ड में याज्ञवल्क्य और उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि प्रस्तुतकर्ता हैं। दोनों ही स्थानों में, राम-अवतार और तत्सम्बन्धी कथा की अनन्तता का भाव एक समान अभिव्यक्त हुआ है, राम की मानव क्रियाओं को लीला कहा गया है, राम की माया की शक्तिशालिता और भक्तों की रक्षा करने के लिए उन्हें मोहित करने वाले भगवान की कृपा की स्तुति हुई है। इस प्रकार की समानता बालकाण्ड के इस भाग में और उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध में भागवत पुराण के विशेष उल्लेखनीय प्रभाव के कारण है।

---

[1] वेबर, हिस्ट्री औफ़ इण्डियन लिट्रेचर, पृ० १६८।

[2] दे० प्रथम अध्याय पृ० १९।

अध्याय—५

रामचरितमानस का बालकाण्ड—राम का जन्म तथा शैशव

(१, १८४-२०५)

देवताओं का ब्रह्मा के पास जाना, ब्रह्मा की हरि से प्रार्थना, हरि का अवतार लेना और राम का बाल्यकाल, यह सब कथा मानस के बालकाण्ड में कोई बीस पद्यों में वर्णित है। यह विषय वाल्मीकि रामायण (दक्षिणी संस्करण) के बालकाण्ड के १५वें से १८वें सर्ग में प्राप्त होता है। मानस के इस अंश में केवल शिव ही प्रस्तुतकर्ता हैं। छन्दोव्यवस्था की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं है, केवल हरि-राम के प्रति ब्रह्मा और कौसल्या की स्तुति में चौपाइयों के स्थान पर हरिगीतिका छन्द का प्रयोग किया गया है। इस अंश की कथा वाल्मीकि रामायण के अनुकूल है, कहीं २ पर भागवत पुराण और अध्यात्म रामायण से ली घटनाओं और विशेषताओं से उसको अधिक परिष्कृत कर दिया गया है, और यही दोनों ग्रंथ यहाँ मूल स्रोत हैं।

देव-सभा—

वाल्मीकि रामायण (१, १५) में ब्रह्मा के सभापतित्व में सब देवताओं की एक सभा होती है और रावण से छुटकारा पाने के लिए वे सब विष्णु की सहायता लेने का निर्णय करते हैं। तब स्वयं विष्णु प्रगट होते हैं और देवता उनसे अपनी विपदा कह सुनाते हैं। भागवत पुराण (१०, १) पर आश्रित अध्यात्म रामायण में इस प्रसंग का विवरण कुछ भिन्न है। गाय के रूप में पृथ्वी ब्रह्मा के पास जाती है—

"एक बार रावण इत्यादि राक्षसों के भार से व्यथित हो पृथ्वी गाय का रूप धारण करके देवताओं और मुनिजनों सहित ब्रह्मलोक में गई, वहाँ पहुँचकर उसने रोते हुए अपने सारे दुःख को ब्रह्मा से कहा"।[1]

यहाँ तुलसी ने अध्यात्मरामायण का अनुकरण किया है—

धेनु रूप धरि हृदयँ बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥
निज संताप सुनाएसि रोई। काहू तें कछु काज न होई॥[2]

---

[1] अध्यात्म रामायण, १, २, ६।

[2] रा. च. मा. १, १८८, ४।

वाल्मीकि रामायण (१, १५, १६ इत्यादि) के अनुसार विष्णु स्वयं ही देवताओं की सभा में प्रगट हुए। इसके विरुद्ध अध्यात्म रामायण में, सब देवताओं के साथ ब्रह्मा क्षीरसागर के तट पर विष्णु के पास गए और उनके दर्शन का प्रसाद पाया—

"तत्पश्चात् समस्त देवताओं के साथ, ब्रह्मा, पृथ्वी को लेकर क्षीरसागर के तट पर गये ; वहाँ अत्यन्त निर्मल आनन्दाश्रुओं से परिप्लुत हो ब्रह्मा ने लोकान्तर्यामी, अजर, व सर्वज्ञ भगवान हरि की स्तुति की।"

"तब सहस्रों देदीप्यमान सूर्यों के समान प्रभावशाली हरि (अपने तेज से) सब दिशाओं के अन्धकार को दूर करते हुए पूर्व दिशा से प्रगट हुए। अकृतात्माओं (पुण्यहीन पुरुषों) के लिये अत्यन्त दुर्दर्शनीय भगवान हरि को ब्रह्मा ने भी बड़ी कठिनाई से देखा।"[१]

स्पष्ट है कि अध्यात्म रामायण में परब्रह्मस्वरूप विष्णु-हरि का दर्शन स्वत: सिद्ध नहीं है। केवल योग्यपात्र ही उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। तुलसी ने अध्यात्म रामायण का अनुकरण किया है, और इस प्रसंग को वर्णित कर भागवत धर्म के प्रमुख सिद्धान्त को रेखाँकित भी किया है कि भगवान सर्वव्यापक हैं परन्तु केवल भक्तों के हृदय में ही विराजमान रहना उन्हें अधिक प्रिय है—

> बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
> पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
> जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥
> तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
> हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
> देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
> अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
> मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥[२]

अध्यात्म रामायण में, इस स्थान पर, विष्णु को परब्रह्म और जगत्पिता मानकर ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हैं—

"हे देव, कर्मपाश से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु जन अपने प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन से जिनका नित्य चिन्तन करते हैं आपके उन चरणारविन्दों को मैं नमस्कार करता हूँ। आप अपनी त्रिगुणमयी माया के कारण, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं। परन्तु ज्ञानानन्दस्वरूप आप इससे लिप्त नहीं होते। हे भगवन्, आपके विमल यश में सदा प्रेम रखनेवाले भक्तों का अन्त:करण जैसा शुद्ध होता है वैसी शुद्धि, मलिन अन्त:करणवाले पुरुष दान और अध्ययन आदि शुभकर्मों से नहीं प्राप्त कर सकते। अत: भक्त मुनिजन जिनका निरन्तर अपने हृदय में ध्यान करते हैं, ऐसे आपके चरणकमलों का आज मैंने अपने अन्त:करण के दोषों का तत्क्षण नाश करने के लिए दर्शन किया है। आपके इन

---

[१] अ. रा. १, २, ७-९।

[२] रा. च. मा. १, १८५, १-४।

चरणकमलों का हम ब्रह्मा आदि देवगण ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए पहिले भी सेवन किया है और ज्ञानी मुनिजनों ने अपरोक्षानुभव के लिए अपने हृदय में निरन्तर ध्यान किया है। हे प्रभो, लक्ष्मी आपके वक्ष:स्थल में स्थान पाकर भी आपकी चरण पूजा के समय चढ़ी हुई तुलसी की माला से डाह करती हैं . . . .। आपके चरणकमलों में प्रेम रखनेवाले भक्तों में आपका प्रेम लक्ष्मी से भी बढ़कर है। इस लिए अपके सारग्राही भक्तजन केवल आपकी भक्ति की इच्छा करते हैं। अतएव हे देव, आपके चरणकमलों में मेरी भक्ति रहे क्योंकि संसार-रोग के रोगियों के लिए आपकी भक्ति ही एकमात्र औषधि है।"[1]

मानस में भी इसी प्रसंग में ब्रह्मा हरि के गुणों का इसी प्रकार गान करते हैं—

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्‌भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥
जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगतमोह मुनिबृंदा।
निसि बासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥
जेहिं सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा॥
जो भव भय भंजन मुनि मन रंजन गंजन बिपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥
भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुन मंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा॥[2]

अध्यात्म रामायण की इस 'ब्रह्मा स्तुति' से ऐसी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है जिस का मानस में अभाव है। इस प्रकार की सभी "स्तुतियों" के समान, मानस की इस स्तुति में भी दार्शनिक शब्दावली प्रचुर है परन्तु वह भागवत पुराण से ली हुई शब्दावली से सम्मिश्रित है, हरि को "भगवान" "दीनबन्धु", "मुकुन्द" कहकर संबोधित किया गया है। शैली भी भागवत पुराण

[1] अ. रा. १. २, १४-२१।

[2] रा. च. मा. १. १८६, छंद, १-४।

की स्तुतियों की ही है। मानस में प्राधान्य धार्मिकता का है और प्रधान भाव भगवान की कृपा में असीम श्रद्धा का है।

वाल्मीकि रामायण में, अवतार लेने की अनुमति के पश्चात् विष्णु ने कश्यप और अदिति के अवतार, राजा दशरथ और कौसल्या के पुत्र के रूप में पुनः उत्पन्न होना स्वीकार किया (१, १६ व २९); इसी प्रकार अध्यात्म रामायण (१, २, २५-२६) में भी कश्यप और अदिति ने राम के पार्थिव जन्मदाता दशरथ और कौसल्या के रूप में जन्म लिया था। यही कथानक वैष्णव धर्म-ग्रन्थ भागवत पुराण (१०, ३, ३२-४५) में मिलता है—अपनी तपस्या के कारण अदिति और कश्यप हरि के दो विभिन्न अवतारों में—वामनावतार व कृष्णावतार[1] में—हरि के माता पिता बनने के योग्य हुए।

मानस के पूर्ववर्ती प्रसंग की दृष्टि से आकांक्षा यह थी कि विष्णु मनु और सतरूपा की तपस्या का और उनको दिये वचन का स्मरण करते। परन्तु अध्यात्म रामायण के समान, मानस में भी वे केवल कश्यप व अदिति का उल्लेख करते हैं—

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा॥[2]

वाल्मीकि रामायण (१, १७) के अनुसार, ब्रह्मा के आदेश पर देवतागण उन वानरों का अवतार लेते हैं जो राम के सहायक होंगे, मानस में इस बात का संक्षिप्त उल्लेख समान शब्दावली में हुआ है—

अ—वाल्मीकि रामायण (१, १७, २४)—

शिलाप्रहरणाः सर्वे पर्वतयोधिनः।
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे ....॥

वे सब शिलाओं और पर्वतों से युद्ध करते थे और उनके नाखून और दाढ़ें ही उनके शस्त्र थे।

रा. च. मा. (१, १८८, २)—

गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।
पर्वत, वृक्ष और नख ही उनके शस्त्र थे।

आ—वा. रा. (१, १७, ३०)—

नानाविधाञ्छैलान् काननानि च भेजिरे।
वे विभिन्न पर्वतों व वनों में गये।

---

[1] दे० अध्याय ४ पृ० ७०।
[2] रा. च. मा. १. १८७, २।

रा. च. मा. (१, १८८, ३)—

गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी।

वे (वानर) पर्वतों और जंगलों में जहाँ तहाँ (अपनी अपनी सुन्दर सेना बनाकर) भरपूर छा गए।

वाल्मीकि से प्रत्यक्ष परिग्रहण का मानस में यह प्रथम उदाहरण है।

विष्णु के अवतार के वर्णन में तुलसीदास ने वाल्मीकि की कथा का समीप से अनुकरण किया है—राजा दशरथ को पुत्रप्राप्ति की इच्छा, एतदर्थ संपन्न यज्ञ, अग्निदेव का प्रगट होकर दशरथ को पायस का दान, तथा उनकी पत्नियों में उसके विभाजन का आदेश, और तीनों रानियों के बीच उसका विभाजन, ये सब प्रसंग मानस में जैसे के तैसे हैं। अतएव वाल्मीकि रामायण के समान, मानस में भी इस विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न दशरथ के चारों पुत्र विष्णु के आँशिक अवतार हैं। पर वस्तुत: इस कथन का कोई महत्व नहीं। संपूर्ण कविता में, केवल राम को ही परब्रह्म का अवतार माना गया है, उनके तीनों भाई मानवपात्र हैं यद्यपि कभी २ लक्ष्मण को, अध्यात्म रामायण[1] के आधार पर, विष्णु के निवास शेषनाग से अभिन्न बताया है। यहाँ पर तुलसी अपने वाल्मीकीय आधार के अनुयायी रहे हैं, यह सुव्यक्त है।

राम-जन्म—

राम-अवतार संबन्धी प्रारम्भिक वर्णन में सिद्धान्तत: शिव ही प्रस्तुतकर्ता हैं। परन्तु रामजन्म का कथानक 'उत्तम पुरुष' में वर्णित है यद्यपि यह किस प्रस्तुतकर्ता की ओर संकेत करता है स्पष्ट नहीं—

यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा॥[2]

राम और उनके भाइयों के जन्म तथा शैशव की कथा, मानस के बालकाण्ड के १३ पद्यों में विस्तार से कही गई है और इसमें वाल्मीकि का तनिक प्रभाव भी विद्यमान नहीं, इन्होंने तो नायक के जन्म से संबन्धित अधिक विशेषताओं का वर्णन ही नहीं किया। वाल्मीकि की संक्षिप्त कथा को परिवर्धित करने के अतिरिक्त तुलसी ने प्रधानतया अध्यात्म रामायण और भागवत पुराण से कुछ बातें लेकर उसे परिष्कृत भी किया है।

मानस में इस अंश के महत्व को और इसके विवरण की शैली को देखने से वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव का अनुमान होता है क्योंकि इनमें आराध्य देव की बालक के रूप में उपासना का विशेष स्थान है। भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में विष्णु-हरि के दूसरे महान अवतार कृष्ण-वासुदेव के बाल्यकाल तथा कुमारावस्था से संबन्धित कई कथानक हैं। रामचरितमानस के बालकाण्ड में इन कथानकों की शुद्ध छाया प्राप्त होती है। यहाँ पर भागवत पुराण ही प्रधान आधार है परन्तु यह

[1] विशेषत: अध्यात्म रामायण के युद्धकाण्ड में; दे० अध्याय ११, पृ० २६५।

[2] रा. च. मा. १, १८८, ३।

निश्चित करना सदा ही सरल नहीं रहता कि तुलसी ने अमुक विशेषता प्रत्यक्षरूप से इस पुराण से ली है, क्योंकि जिस समय तुलसी ने इस कविता की रचना की तब आराध्य देव की बालक के रूप में उपासना की पद्धति कृष्णभक्ति संप्रदाय के बाहर भी फैल चुकी थी जिसमें इसका जन्म हुआ, और कृष्ण के बाल्यकालसंबन्धी कथानक सभी वैष्णवों की, विशेषकर राम के उपासकों की, सामान्य संपत्ति बन चुके थे। इसका प्रमाण हमें अध्यात्म रामायण में मिलता है—यद्यपि अध्यात्म रामायण विवरण की दृष्टि से सामान्यतया संक्षिप्त और रूपरेखात्मक है तथापि बाल-राम के चरित का वर्णन करने के लिये इसमें एक पूरा सर्ग दिया गया है जो स्वयं भागवत पुराण के दशम स्कन्ध पर आश्रित है।

वाल्मीकि (१, १८, ८-९) के समान, मानस (१, १९१) में भी राम का जन्म "अभिजित्" मुहूर्त में, "चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि" को हुआ था, और सारी प्रकृति इस घटना से आनन्द विभोर हो गई थी—उपवन पुष्पों से भर गए, नदियों में अमृत प्रवाहित होगया; इस अवसर पर सब देवता अयोध्या पहुँचे और गन्धर्वों ने गुणों का गान किया। यह वर्णन सर्वथा रूढ़िबद्ध है और भागवत पुराण (१०, ३, १-८) में कृष्ण जन्म के अवसर पर किए वर्णन के सदृश है। मानस में अयोध्या में देवताओं की यात्रा का निर्देश कुछ आश्चर्यजनक है क्योंकि वे वानरों का अवतार लेकर, "पर्वतों तथा वनों" में फैलकर, राम के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे थे . . .। परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं देवताओं का वानर रूप में अवतार वाल्मीकि रामायण की छाया है और उस कथन का कोई महत्व नहीं।

वाल्मीकि रामायण में, बाल-राम का वर्णन संक्षिप्त में इस प्रकार है—

"दिव्य लक्षणों से युक्त, जगत् पिता महाभाग राम को कौसल्या ने जन्म दिया। वे विष्णु का अर्धभाग, इक्ष्वाकु नन्दन, रक्तनेत्र, महाबाहु, रक्तोष्ठ और दुन्दुभि की ध्वनि के समान गम्भीर वाणी से युक्त थे। उन असीम तेजस्वी राम से कौसल्या सुशोभित हुई।"[1]

अध्यात्म रामायण में, भागवत पुराण के बाल-कृष्ण के वर्णन के आधार पर राम का वर्णन विस्तार से दिया है—

भागवत पुराण (१०, ३, ९-१०)

"वसुदेव ने उस तेजस्वी बालक को देखा, जो अद्भुत था, जिसके नयन कमल के समान थे, जिसकी चार भुजाएँ शंख, गदा, चक्र और शस्त्र से युक्त थीं, जिसके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स और कण्ठ में कौस्तुभ सुशोभित था, जिसने पीले वस्त्र धारण किए थे, जिसका वर्ण नीले मेघ के समान था, जिसके मुकुट में महामूल्यवान वैदूर्य मणि थी व कानों में कुण्डल थे, जिसकी ज्योति से केशसमूह देदीप्यमान हो रहा था, व जिसके कटिप्रदेश में करधनी और हाथों में चमकदार कंकण थे।

अध्यात्म रामायण (१, ३, १६-१८)

"(वे) नील कमल दल के समान श्यामवर्ण के हैं, पीताम्बर पहिने हुए हैं और चार भुजाएँ धारण किए हुए हैं; तथा इनके नेत्रों का भीतर का भाग अरुण कमल के समान शोभायमान है,

---

[1] वाल्मीकि रामायण १, १८, १०-११।

कानों में कान्तियुक्त कुण्डल सुशोभित हैं। उनका प्रकाश हज़ारों सूर्यों के समान है, उनके सिर पर प्रकाशमान मुकुट और घुंघराली अलकें हैं, हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म, तथा गले में वैजन्ती-माला विराजमान है। उनके मुखकमल पर हृदयस्थ अनुग्रहरूप चन्द्रमा की सूचना देने वाली मुस्कानरूपी चन्द्रिका छिटक रही है, उनके करुणारसपूर्ण नयन कमलदल के समान विशाल हैं तथा वे श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुरादि आभूषणों से सुशोभित हैं"।

मानस में, १९२ वें पद्य के पहले छन्द में भी इसी आदर्श के अनुरूप बाल-राम का वर्णन दिया गया है—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भागवत पुराण के बाल-कृष्ण के समान, अध्यात्म रामायण और मानस में भी बाल-राम को जन्म के समय चार भुजाओं से युक्त कहा गया है। यह विष्णु का विशेष लक्षण है और राम इन्हीं विष्णु का अवतार हैं। भागवत पुराण में, पहिले वसुदेव और फिर देवकी कृष्ण की स्तुति गाती हैं। परन्तु कंस के प्रतिकार के डर से, देवकी कृष्ण से अपने अलौकिक रूप को छोड़ने की विनती करती हैं और कृष्ण इसको स्वीकार कर लेते हैं। अपने माता पिता के समक्ष ही वे सामान्य शिशु बन जाते हैं (भा. पु. १०, ३, १३-४६)। एक ऐसा ही प्रसंग अध्यात्म रामायण में भी है—कौसल्या राम की स्तुति गाती हैं और उनसे बाल-रूप ग्रहण करने की प्रार्थना करके उसे समाप्त करती हैं—

"(कौसल्या कहती हैं) हे देवदेव, आपको नमस्कार है। हे शंख-चक्र-गदाधर, आप अच्युत और अनन्त परमात्मा हैं तथा सर्वथा पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। वेदवादी आपको मन और वाणी आदि के अविषय तथा इन्द्रियों से अतीत सत्तामात्र और एकमात्र ज्ञानस्वरूप बतलाते हैं। आप ही अपनी माया से सत्व, रज, और तम इन तीन गुणों से युक्त होकर इस विश्व की रचना, पालन और संहार करते हैं तथापि वास्तव में आप सदा निर्मल तुरीय पद में स्थित हैं। आप कर्ता नहीं हैं तथापि करते से प्रतीत होते हैं, चलते नहीं फिर भी चलते से प्रतीत होते हैं, न सुनते हुए भी सुनते से दिखाई देते हैं, और न देखकर भी देखते हुए से लगते हैं। श्रुति कहती है कि आप 'प्राण और मन से रहित तथा शुद्ध' हैं। आप समस्त प्राणियों में समान भाव से स्थित हैं। तथापि जिनका अन्तःकरण अज्ञानान्धकार से ढका हुआ है उन्हें आप दिखाई नहीं देते, आप का साक्षात्कार सुबुद्धि पुरुषों को ही होता है। हे भगवन्, आपके उदर में अनेकों ब्रह्माण्ड परमाणुओं के समान दिखाई देते हैं तथापि 'आपने मेरे पेट से जन्म लिया' ऐसा जो आप लोगों में प्रगट कर रहे हैं उससे मैंने आपकी भक्तवत्सलता देख ली। हे प्रभो, मैं आपकी माया से मोहित होकर संसारसागर में डूबी हुई पति, पुत्र और धन आदि के फेर में पड़ रही थी। आज परम सौभाग्यवश आपके चरणकमलों की शरण में आई हूँ। हे देव, आपकी यह मनोहर मूर्ति सदा मेरे हृदय में विराजमान रहे और आपकी विश्वमोहनी माया मुझे न व्यापे। हे विश्वात्मन्, अपने इस अलौकिक रूप का उपसंहार कीजिए, और

परम आनन्ददायक सुकोमल बाल-रूप धारण कीजिए जिसके अति सुखद आलिङ्गन और सम्भाषण आदि से मैं घोर अज्ञानन्धकार को पार कर जाऊँ"।

"(भगवान बोले) हे माता, आप जो जो चाहती हैं वही हो, उसके विरुद्ध कुछ भी न हो। पूर्वकाल में पृथ्वी का भार उतारने के लिए ब्रह्मा ने मुझ से प्रार्थना की थी। अत: रावणादि निशाचरों को मारने के लिए ही मैंने मनुष्यरूप से अवतार लिया। प्राचीन काल में दशरथ के सहित आपने भी मुझे पुत्र रूप से प्राप्त करने की इच्छा से तपस्या करते हुए मेरी आराधना की थी। उसी को मैंने इस समय प्रगट होकर पूर्ण किया है। आपने अपनी पूर्व तपस्या के फल से ही मेरा यह दिव्य रूप देखा है। मेरा दर्शन मोक्षपद देने वाला है, पुण्यहीन जनों के लिए मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। जो व्यक्ति हमारे इस संवाद को पढ़ेगा या सुनेगा वह मेरी समानरूपता प्राप्त करेगा और मरणकाल में उसे मेरी स्मृति बनी रहेगी"। माता से इस प्रकार कह भगवान बालरूप होकर रोने लगे।[1]

रामचरितमानस में, माँ और दिव्य बालक के संवाद को १९२ वें पद्य के अन्तिम ३ छन्दों में दिया गया है—

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥[2]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान बातों में मानस और अध्यात्म रामायण में सादृश्य है। इन दोनों ग्रन्थों में—

क—कौसल्या राम में (परब्रह्म रूप) विष्णु को देखती हैं,

ख—वे राम से अपने विचित्र रूप को छोड़कर सामान्य बालरूप ग्रहण करने की प्रार्थना करती हैं,

---

[1] अ. रा. १. ३, २०-३५।

[2] रा. च. मा. १, १९२, छंद २-४।

ग—राम अपनी माता की इच्छा को पूरा करते हैं और रोने लगते हैं,

घ—इस अंश के उपसंहार में फलस्तुति है जिसके अनुसार इस संवाद के श्रोता तथा पाठक हरि के पद को प्राप्त करते हैं।

परन्तु, मानस में यद्यपि कौसल्या बाल-राम में परब्रह्म के आकार को स्वीकार करती हैं तथापि उनके स्वभाव की उदासीनता या उनके मानवीय कार्यों की अवास्तविकता का उल्लेख नहीं करतीं। न ही वे प्रार्थना करती हैं कि राम का जो दिव्यरूप उन्होंने देखा वह उनके हृदय में अंकित हो जाय। राम कौसल्या को समझाते हैं कि जिस भक्ति की उन्हें अभिलाषा है वह "सुत प्रेम" है। उसी समय कौसल्या की बुद्धि बदल गई और वे उनसे बालरूप धारण करने की प्रार्थना करती हैं।

अध्यात्म रामायण की अपेक्षा मानस में यह संवाद वात्सल्य रस की स्थापना अधिक करता है और यह कृष्णाश्रयी धर्म का एक विलक्षण पक्ष है।

राम के जन्म पर अयोध्या में आनन्दोत्सव का वर्णन करते हुए शिव पार्वती से कहते हैं कि इस अवसर पर सूर्य इतना मुग्ध हो गया कि अस्त होना भी भूल गया। वाल्मीकि रामायण या अध्यात्म रामायण में ऐसा अद्भुत वर्णन नहीं मिलता, और न ही निम्नलिखित प्रसंग मिलता है—

> **औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥**
> **काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ॥**
> **परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥**
> **यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥**[१]

पार्वती को संबोधित पूर्ववर्ती प्रसंग की अपेक्षा, यह विचित्र अंश, बाल-राम के प्रति शिव की भक्ति को अधिक सुव्यक्त करता है। जहाँ तक भुशुण्डि का प्रश्न है उत्तरकाण्ड में उनका अधिक उल्लेख है, जहाँ वे बाल-राम के परम भक्त के रूप में उपस्थित होते हैं; वे प्रत्येक राम अवतार के समय अयोध्या जाते हैं और अपना काकशरीर धारण कर दिव्य बालक की लीलाओं में भाग लेते हैं।[२] अतः मानवरूप में भुशुण्डि को प्रस्तुत करने वाला बालकाण्ड का यह अंश उत्तरकाण्ड के अनुकूल नहीं है क्योंकि वहाँ पर इस पात्र का अन्य ही चित्रण हुआ है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि शिव ने यह वाणी कुछ गोपनीय ढंग से कही है—कोई भी न तो (राम भक्त) सूर्य के अद्भुत व्यवहार को और न ही शिव तथा भुशुण्डि की 'चोरी' को जान पाया। शिव यह रहस्य पार्वती को इसलिये बताते हैं कि राम में उनकी अनन्य भक्ति है। शिव पार्वती को विश्वास भी दिलाते हैं कि इस बात को राम की कृपा के बिना कोई नहीं जान सकता। यही रहस्य-भावना हम को उत्तरकाण्ड में मिलती है जहाँ पर भुशुण्डि मुख्य पात्र हैं।[३]

---

[१] रा. च. मा. १, १९६, २-३।

[२] रा. च. मा. ७, ७५।

[३] रा. च. मा. ७, १२८, १-४।

राम का शैशव—

वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण के समान मानस में भी वशिष्ठ मुनि चारों भाइयों का नामकरण करते हैं। इन ग्रन्थों में राम और लक्ष्मण के परस्पर विशेष स्नेह का उल्लेख है। चारों ही भाइयों से और विशेषकर राम से उनके मातापिता प्रसन्न हैं।

चारों राजकुमारों को नाम देने के पश्चात् अध्यात्म रामायण में बाल-राम के चरित, उनकी बाललीला और चेष्टाओं का वर्णन है, जो भागवत पुराण से प्रेरित है—

"जिसके ललाट पर मोतियों से सजाया हुआ देदीप्यमान सुवर्णमय अश्वत्थपत्र तथा गले में रत्न और मणि समूह के साथ बीच बीच में व्याघ्रनख सजा कर गुथी हुई लड़ियाँ सुशोभित थीं, कानों में अर्जुन वृक्ष के कच्चे फलों के समान रत्नजटित सुवर्ण के भूषण लटक रहे थे तथा जो झनकारते हुए मणिमय नूपुर, सुवर्ण मेखला और बाजूबन्द से विभूषित थे, उस इन्द्रनील मणि की सी आभा वाले तथा स्वल्प दांतों से युक्त मुस्कराते हुये मुखवाले बालक को राजभवन के आंगन में बछड़े के पीछे २ सब ओर बाल गति से दौड़ते देख महाराज दशरथ तथा माता कौसल्या अति आनन्दित होते थे।"[1]

मानस में बाल-राम का वर्णन पूरे १९९ वें पद्य में दिया है; इसमें चार के स्थान पर छः चौपाइयाँ (दस के स्थान पर चौदह अर्धालियाँ) हैं। ये अंग प्रत्यंग का सूक्ष्म ब्योरेवार नखसिख वर्णन है जो सम्पूर्ण मानस में बहुत ही कम हैं। यह वर्णन भी भागवत पुराण (१०, ३, ९-१०) में बालकृष्ण के वर्णन पर इतना आश्रित है कि इन दोनों दिव्य बालकों में भेद करना कठिन हो जाता है—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा।।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।।
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहिं देखा।।
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरि नख अति सोभा रूरी।।
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा।।
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई।।
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे।।
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।।
पीत झगुलिआ तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई।।
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा।।

सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत।।

[1] अ. रा. १, ३, ४४-४६।

बाल-राम का इससे मिलता जुलता दूसरा नखसिख वर्णन उत्तरकाण्ड (७६-७७) में भी मिलता है। पर वहाँ पर प्रस्तुतकर्ता शिव नहीं, भुशुण्डि हैं।

अगले (२०० वें) पद्य में, शिव पार्वती को उपदेश देते हैं—

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी॥
रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव बंधन छोरी॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥
भृकुटि बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिअ कहु काही॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥
एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगर बासिन्ह सुख दीन्हा॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालनें घालि झुलावै॥[1]

शिव इस कथा से व्यवहारनीति निकालते हैं। पर राम के शैशव की कथा तो अभी आरम्भ ही हुई है। २०० वें पद्य की अन्तिम चौपाई, "लै उछंग कबहुँक . . . .", १९८ वें पद्य की अन्तिम चौपाई की आवृत्ति है—

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥

स्वत: राम के अधीन माया की सार्वभौम शक्ति के विषय में शिव का यह कथन कि राम उसे अपने भौं के इशारों पर नचाते हैं अप्रासंगिक प्रतीत होता है। यह एक ऐसा विषय है जिसे उत्तरकाण्ड में पुन: उठाया गया है और विस्तार से वर्णित किया गया है।[2]

तत्पश्चात् परवर्ती दो पद्यों में (२०१-२०२) कौसल्या को प्रदर्शित राम के अद्भुत स्वरूप का वर्णन है। इस विवरण की पूर्वछाया अध्यात्मरामायण में नहीं मिलती। इस अद्भुत स्वरूप का अवसर कौसल्या द्वारा सम्पन्न अपने इष्टदेव की "पूजा" है।

एक बार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥[3]

---

[1] रा. च. मा. १. २००, १-४।

[2] दे० अध्याय १३, "गरुड़मोह" व "भुशुण्डिमोह"।

[3] रा. च. मा. १. २०१, १-४।

तब रामने अपनी माँ को सार्वभौम रूप दिखाया—

देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत पिता मैं सुत करि जाना॥
हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥

बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥[1]

भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में भी इस प्रकार के असाधारण चमत्कारों का उल्लेख है और एक अवसर पर, कृष्ण को आत्मज बनाने वाली गोपी यशोदा ही इस दृश्य को आश्चर्यचकित होकर देखती हैं—

"एक बार, स्नेह से आप्लावित सुन्दरी यशोदा ने उस बालक को लेकर अपने घुटनों पर बिठा कर उसे प्रस्नुत स्तनों से दूध पिलाया और जब वह दूध पी चुका तो उसके रुचिर और मुस्कराते मुँह को पुचकारने लगीं। जब बालक ने जम्भाई लेने के लिए अपना मुख खोला तो यशोदा ने उसमें सारा ब्रह्माण्ड देखा—अन्तरिक्ष, द्यावापृथिवी, अनेकों ज्योतियों का समूह, दिव्य दिशायें, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु तथा समुद्र, द्वीप, पर्वत और उनकी पुत्रियाँ नदियाँ, वन और सब चर तथा अचर प्राणी। इस प्रकार ब्रह्माण्ड को देख कर मृगशिशु के समान नेत्रवाली यशोदा के शरीर में अकस्मात् कम्पन हो गया और उन्होंने नेत्र बन्द कर लिए और वह सुविस्मृत रह गईं।"[2]

दूसरी बार जब बालकृष्ण पर मिट्टी खाने का आरोप लगा तो उन्होंने बड़ी तीव्रता से उसको अस्वीकार कर दिया। उनकी माँ ने उनसे मुँह खोलने को कहा और एक बार फिर उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा—

"उसकी माता ने उस में ब्रह्माण्ड को देखा, चराचर प्राणियों को, अन्तरिक्ष और दिशाओं को देखा . . . . .।"[3]

---

[1] रा. च. मा. १, २०१, ४ दोहा; २०२, १-दोहा।
[2] भागवत पुराण १०, ७, ३५-३८।
[3] भागवत पुराण १०, ८, ३७।

इस प्रकार के विवरण भागवत साहित्य में कोई नई बात नहीं। भगवद्गीता में कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष भी ऐसा ही रूप दर्शाया था—

"अर्जुन ने कहा—हे देव आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को कमल के आसन पर विराजमान ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ . . . . .। हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामी, आपको अनेक हाथ, पेट, मुँह और नेत्रों से युक्त, सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप, आपके अन्त को, मध्य को, और आदि को मै नहीं देखता। . . . . . ."[1]

बालकाण्ड में कौसल्या को दिये इस दर्शन के अनुरूप ही वर्णन उत्तरकाण्ड (८०-८१) में प्राप्त होता है। बाल-राम के मुख के द्वारा प्रवेश पाकर काक भुशुण्डि ने उनके पेट में "सारे लोक" देखे। माया की उस सार्वभौम शक्ति का उल्लेख, जिससे केवल राम के भक्त ही बचे हैं, तथा काल, कर्म, गुण व स्वभाव की विलक्षण परिगणना, उत्तरकाण्ड के 'भुशुण्डिमोह' और बालकाण्ड के इस अंश की समानता को और भी सुव्यक्त करते हैं। राम से कौसल्या की प्रार्थना कि "हे प्रभो, मुझे आपकी माया अब कभी न व्यापे," से यह ध्वनि निकलती है कि उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि के समान वे भी कुछ क्षणों के लिए मोह ग्रस्त हुई थीं और राम को सामान्य बालक समझ बैठी थीं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालकाण्ड के इन चार पद्यों (१९९-२०२) में और उत्तरकाण्ड के 'भुशुण्डिमोह' में समीप का सम्बन्ध है। कदाचित् इन दोनों अंशों का आधार एक ही रहा हो। बालकाण्ड में यह प्रसंग, उत्तरकाण्ड से कदाचित् ही पहिले रचा गया हो जिसके कारण यह प्रतीत हो सकता है कि उत्तरकाण्ड में उसकी आवृत्ति हुई है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इन चारों पद्यों को बाद में जोड़ा गया हो और बालकाण्ड की प्रथम रचना के समय, १९८ वें पद्य के तुरन्त पश्चात् २०३रा पद्य आया था। वस्तुत: इन चार पद्यों का विषय प्रसंग से असम्बन्धित है और अभिप्राय की बलि दिए बिना इन पद्यों को छोड़ा भी जा सकता है।

जब बालक कुछ बड़े हो गये तो वशिष्ठ ने उनके चूड़ाकर्म संस्कार की तय्यारी की। चारों राजकुमारों ने राजमहल के आंगन में खेलना आरम्भ कर दिया था। वर्णन के इस स्थल पर अध्यात्म-रामायण में बाल-राम के नटखट पन की कथा है—

"जिस समय महाराज दशरथ भोजन करने बैठते तो, "राम, आ" ऐसा कहकर उन्हें अति हर्ष और प्रेम से बुलाते। परन्तु खेल में लगे रहने के कारण जब वे न आते तो दशरथ कौसल्या से "इसे पकड़ ला" कह कर उन्हें लाने को कहते। किन्तु जो योगी जनों के चित्त के एकमात्र आश्रय हैं ऐसे पुत्र को कौसल्या हँस कर दौड़ती हुई भी न पकड़ पातीं। (उस समय माता को थकी देखकर) वे स्वयं ही कीच में सने हुए हाथों से हँसते २ वहाँ आ जाते और एक आध ग्रास खाकर ही फिर भाग जाते"।[3]

---

[1] भगवद्गीता ११, १५-१६।

[2] दे० अध्याय १३, पृ० २८८।

[3] अ. रा., १, ३, ४६-४९।

इस सुन्दर दृश्य को तुलसी ने बहुत ही कम छुआ है—

> भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
> कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
> निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥
> धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए॥
> भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
> भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥[1]

यह बाल्य चपलता का शुद्ध उदाहरण है। न घड़े फोड़े, न दूध बखेरा, न बच्चों को रुलाया। भागवत पुराण का अनुकरण करने पर भी अध्यात्म रामायण में वैसा सन्तुलन नहीं है। इसमें ऐसे राम का चित्रण किया है जो कृष्ण के समान भोजन के तथा क्रीड़ा के प्रेमी हैं। यदि वह जो चाहता है, उसे उसकी माँ तुरन्त नहीं देती तो वह क्रुद्ध हो जाता है, दूध के बर्तन फोड़ देता है और लक्ष्मण से झगड़ता है, फिर वह भाग जाता है, कौसल्या उसके पीछे २ दौड़ती हैं और उसकी इन चपलता पर हँसती हैं (अ. रा. १. ३, ५०-५१)। रामकथा में इतने लोकप्रिय प्रसंगों को सम्मिलित करने की इच्छा से, अध्यात्म रामायण में नायक का ऐसा चित्रण हुआ है जो न तो उनकी दिव्यता के अनुकूल है और न वाल्मीकि रामायण के उनके "धर्म संरक्षक" स्वभाव के अनुरूप। तुलसी ने अध्यात्म रामायण के इस अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन को नहीं लिया। उन्होंने बाल-कृष्ण के समान राम को क्रोधशील या असत्यप्रेमी चित्रित नहीं किया। तुलसी का नायक सरल तथा आकर्षक बालक है जिसका दर्शन हृदय को आनन्दित करता है।

> बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥
> जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिँ राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥[2]

राम की कुमारावस्था—

राम और उनके भाइयों की कुमारावस्था का वर्णन करने में तुलसीदास ने वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण का यथार्थ अनुकरण किया है, और यह अंतिम रामायण स्वयं भागवत पुराण से प्रभावित है। वशिष्ठ ने राम तथा उनके भाइयों का उपनयन संस्कार किया जिसके पश्चात् उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। जिस प्रकार भागवतपुराण (१०, ४५, ३५) के अनुसार इन शास्त्रों का ग्रहण करना कृष्ण और उनके भाई के लिए एक खेल था उसी प्रकार अध्यात्म रामायण में भी राम के लिए यह कार्य बहुत सरल बताया है—

---

[1] रा. च. मा. १, २०३, ३ दोहा।
[2] रा. च. मा. १, २०४, १।

"लीला से ही नररूप धारण करने वाले सम्पूर्ण लोकों के स्वामी (चारों भाई) समस्त शास्त्रों का मर्म जानने वाले तथा धनुर्वेद आदि सम्पूर्ण विद्याओं के पारगामी हो गये।"[१]

इसी प्रकार रामचरितमानस में भी (सब भाइयों ने तथा) राम ने सम्पूर्ण विद्याएँ सीख लीं।

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई।।
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।।[२]

वाल्मीकि (१. १८, ३१-३२) के अनुसार राम आखेट करने लक्ष्मण के साथ जाते थे। अध्यात्म रामायण (१. ३, ६३) में यह विशिष्टतया बताया गया है कि वे केवल "दुष्ट पशुओं का" ही हनन करते थे। तुलसी ने भी इस सम्बन्ध में एक विशेषता बताई है पर प्रतिकूल ही दिशा में—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई।।
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी।।
जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।।[3]

अध्यात्म रामायण के अनुसार राम के मनोविनोद का अन्य साधन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी था—

"फिर भाइयों सहित भोजन करके नित्यप्रति मुनिजनों से धर्मशास्त्रों का मर्म सुनते और स्वयं भी उनकी व्यख्या करते।"[४]

इसी समान, मानस (१. २०५, ३) में भी कहा है कि

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।।

राम के जन्म तथा शैशव की कथा मानस में बहुत मौलिक नहीं है। कुल मिलाकर तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण का आश्रय लिया और अध्यात्म रामायण ने स्वयं भागवत पुराण से बहुत कुछ लिया है। परन्तु अध्यात्म रामायण के लेखक की अपेक्षा तुलसीदास ने अपने नायक के व्यक्तित्व को अधिक सुरक्षित रखा है। तुलसीदास की बालराम की उपासना भागवत पुराण के बालकृष्ण की उपासना का साधारण प्रतिरूप नहीं है—उसका सौन्दर्य तो उतना ही है पर उसमें दोष कम हैं। इन दोनों दिव्य बालकों ने अपने चारों ओर एकत्र जनों के हृदयों को विभिन्न प्रकार से आकर्षित किया और उनमें विभिन्न भावनाएँ जागृत की हैं और इसी कारण इन दोनों में भेद है। परन्तु जहाँ बालकृष्ण अपने जन्म से ही लेकर, सभी के (विशेषकर स्त्रियों के) मनों को हर लेता है और सभी के हृदय में उत्कट व

---

[१] अ. रा. १, ३, ६१।
[२] रा. च. मा. १, २०४, २, ३।
[3] रा. च. मा. १, २०५, १-२।
[४] अ. रा. १. ३. ६५।

अदम्य अनुराग उत्पन्न करके सम्पूर्ण जगत में एक ऐसा जाल फैला देता है जिसका प्रतीक बाद में उसकी मायावी बांसुरी हो जाती है, वहाँ बालराम शुद्ध आनन्द की स्रोतरूपी एक शान्त स्नेह भावना को जागृत करता है। रहस्यमय उपासना तथा उल्लासपूर्ण प्रेम का जैसा अस्पष्ट सम्मिश्रण भागवत पुराण में है वैसा मानस के इस पूरे प्रसंग में नहीं है। अपितु मानस में शुद्ध भक्ति ही बालराम की उपासना का प्रधान भाव है।

मानस में, "राम के शैशव" की कथा का उपसंहार कृतज्ञता प्रदर्शन से हुआ है—

ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥[1]

राम के शैशव की तथा परवर्ती कथा के बीच एक संक्रामक वाक्य है—

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनुहु मन लाई॥[2]

मानस के १८८ वें पद्य के "बाल चरित" की भूमिका का यह उपसंहार है—

"यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा"

यहाँ और वहाँ प्रस्तुतकर्ता एक ही मानना होगा। और वह शिव नहीं बल्कि तुलसीदास ही हैं क्योंकि २०६टे पद्य से लेकर बालकाण्ड के अन्त तक शिव उपस्थित नहीं होते और कवि ही एकमात्र प्रस्तुतकर्ता हैं। पर राम के शैशव के वर्णन में दो स्थानों पर शिव आते हैं। १९६वें पद्य में वे भुशुण्डि के साथ अपनी अयोध्या की यात्रा का उल्लेख करते हैं और २०० वें पद्य में वे माया तथा भक्ति पर व्याख्यान देते हैं। यदि बालकाण्ड के अन्तिम भाग के समान कवि ही यहाँ पर प्रस्तुतकर्ता हैं तो वे शिव को बीच में क्यों लाते हैं? इससे बालकाण्ड की रचना की समस्या उठती है। हम इस समस्या की पूर्ण समीक्षा आगे चलकर करेंगे।[3]

---

[1] रा. च. मा. १. २०५ दोहा।
[2] रा. च. मा. १. २०६, १।
[3] दे॰ अध्याय १४, "रामचरितमानस की रचना।"

अध्याय—६

रामचरितमानस का बालकाण्ड—राम की युवावस्था तथा विवाह

(१, २०६-३६१)

विश्वामित्र और लक्ष्मण के साथ राम की मिथिला यात्रा, धनुर्यज्ञ, व सीता का स्वयंवर, परशुराम से राम का कलह, सीता से विवाह और नवविवाहितों का लौटकर अयोध्या आना—राम के यौवन से संबन्धित इन सब घटनाओं का बालकाण्ड के अन्तिम भाग में विस्तार से वर्णन हुआ है। यह अत्यधिक रोचक कथा सामंजस्यपूर्ण १५५ पद्यों (अर्थात् १६०० से अधिक अर्धालियों) में वर्णित है। अयोध्याकाण्ड के समान यहाँ पर भी स्वयं तुलसीदास ही एकमात्र प्रस्तुतकर्ता हैं। पद्यों में चार चौपाइयाँ और एक दोहा है और इस व्यवस्था के अपवाद बहुत ही कम हैं।[1] २११ वें पद्य से लेकर, प्रत्येक २५ वें पद्यों में अन्तिम चौपाई के बाद एक हरिगीतिका छन्द और दोहे के स्थान पर सोरठा आता है—अयोध्याकाण्ड में भी पद्यों की यही व्यवस्था है। पर बालकाण्ड के अन्तिम भाग में अन्तिम चौपाई के पश्चात् दो स्थानों पर हरिगीतिका छन्द के अपवाद हैं—२८६ वें पद्य में जहाँ छन्द भी होना चाहिए था वहाँ छन्द नहीं है, और ३११ वें और ३३६ वें पद्यों में छन्द व सोरठे तो हैं पर उनके बीच में आने वाले सभी पद्यों में केवल छन्द हैं, सोरठे नहीं।

१—मिथिलायात्रा—

मुनि विश्वामित्र की अयोध्या यात्रा, दशरथ से उनकी भेंट, उनके साथ राम-लक्ष्मण का प्रस्थान तथा उनकी यात्रा की घटनाओं को, वाल्मीकि रामायण में ३२ सर्गों में (१. १८-५०) दिया गया है। अध्यात्म रामायण में कुछ परिवर्तन करके इस सब कथा को संक्षिप्त रूप में बालकाण्ड के चौथे व पाँचवे सर्ग में दिया गया है। तुलसीदास ने भी वाल्मीकि रामायण का समीप से अनुकरण किया है पर इसको प्रचुर मात्रा में संक्षिप्त कर दिया है।

मानस की कथा में मुनि विश्वामित्र की स्नेहपूर्ण रामभक्ति को अधिक महत्व मिला है। अध्यात्म-रामायण के लेखक के समान, तुलसी के लिए भी विश्वामित्र के अयोध्या आने का प्रयोजन परब्रह्म के अवतार—राम का दर्शन करना है—

---

[1] १. २१० (१४ अर्धालियाँ); २३९ (१२ अर्धालियाँ) और २११ वें पद्य (अहल्या स्तुति) में चौपाइयों के स्थान पर त्रिभंगी छंद हैं।

तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥
एहूँ मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥
ग्यान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥[१]

वाल्मीकि के अनुसार, राजा दशरथ राम से अलग होना नहीं चाहते और उनकी अस्वीकृति से विश्वामित्र क्रुद्ध हो जाते हैं (वा. रा. १.२०)। इसके विरुद्ध, तुलसीदास के वर्णनानुसार राजा के उत्तर से विश्वामित्र प्रसन्न होते हैं—

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदयँ हरष माना मुनि ग्यानी॥
तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥[२]

संभव है कि यह वाल्मीकि रामायण के उस अवतरण की ओर संकेत हो जहाँ पर वशिष्ठ दशरथ को समझाते हैं कि विश्वामित्र की शक्ति के कारण राम का कोई अनिष्ट नहीं हो सकता; परन्तु इस अवतरण में तुलसी द्वारा प्रयुक्त "सन्देह" शब्द अध्यात्म रामायण के तदनुरूप खण्ड (१, ४, १२ इत्यादि) की ओर संकेत करता है जहाँ वशिष्ठ दशरथ को विश्वास दिलाने के लिए एक "रहस्य" बताते हैं कि राम मनुष्य नहीं, परब्रह्म का अवतार हैं।

अपने धनुष तथा बाणों से युक्त राम को प्रस्थान के लिये सन्नद्ध देखकर विश्वामित्र अपने सौभाग्य की सराहना करते हैं और भगवान की कृपा की प्रशंसा करते हैं कि—

मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥[3]

ताड़का राक्षसी को मार देने से, राम के प्रति विश्वामित्र की श्रद्धा और भी सुदृढ़ हो जाती है—

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥
जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥[४]

ये अन्तिम शब्द, वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में उल्लिखित उस शिक्षा की ओर संकेत करते हैं जो विश्वामित्र ने राम व लक्ष्मण को दी थी—इन ऋषि ने दोनों राजकुमारों को "बला" तथा "अतिबला" विद्या प्रदान की थी जिस के प्रभाव से भूख तथा दुर्बलता आदि की बाधा नहीं होती (वा. रा. १, २२, ११-१९; अ. रा. १, ४, २४-२५)। पर मानस में यह नहीं बताया गया कि इन विद्याओं से राम की शक्ति में कोई वृद्धि हुई क्योंकि उन्हें इस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता ही क्या

---

[१] रा. च. मा. १. २०६, ३-४।
[२] रा. च. मा. १. २०८, ४।
[3] वही १. २०९, २।
[४] वही, १. २०९, ४।

हो सकती थी। इसी समान वाल्मीकि रामायण (१, २७) के अनुसार विश्वामित्र द्वारा दिए गए चमत्कारिक शस्त्रास्त्रों का भी मानस में बहुत संक्षिप्त संकेत है।

युवक राम के वन के पराक्रमों, तथा ताड़का, मारीच और सुबाहु राक्षसों की विजय का मानस में इतना संक्षिप्त विवरण है कि यदि वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण के सन्दर्भों का ज्ञान न हो तो कदाचित् अर्थ भी सुस्पष्ट न हो सके।

उदाहरणतः ताड़का के वध की कथा का वर्णन मानस की केवल एक चौपाई में हुआ है—

"चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥"[1]

वाल्मीकि रामायण के अनुसार ताड़का ने राम के धनुष की टंकार सुनी और इसी लिए क्रुद्ध होकर वह उन पर झपटती है—

"तं शब्दं अभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवत् . . . . ॥" (१, २६, ८)

इस विषय में टेसिटोरी[2] ने ठीक ही कहा कि मानस में "सुनि" तथा "क्रोध", वाल्मीकि रामायण के "श्रुत्वा" तथा "क्रुद्धा" के समक्ष कम उपयुक्त हैं क्योंकि मानस में धनुष की टंकार का प्रश्न ही नहीं आता। अध्यात्म रामायण में इस ध्वनि का उल्लेख है और ताड़का की प्रतिक्रिया ठीक वैसी ही है—

"तच्छ्रुत्वासहमाना सा ताटका घोररूपिणी।
क्रोधसंमूर्च्छिता राममभिदुद्राव मेघवत्॥" (१, ४, २९)

राम द्वारा आहत मारीच तथा सुबाहु नामक दो राक्षसों की कथा भी मानस में इसी प्रकार संक्षेप से दी गई है—

सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥[3]

---

[1] रा. च. मा. १, २०९, ३। "दीन जानि" क्योंकि वह राक्षसी का शरीर धारण किए थी और राम "दीन बन्धु" हैं। ताड़का पर इस कृपा होने का कारण यह है कि उसका नाश भगवान के हाथों द्वारा हुआ (दे० अध्याय ४ पृ० ९०)। अध्यात्म रामायण (१, ४, ३२) में राम के आदेश से ताड़का दिव्य लोक को जाती है।

[2] इं. एं. ४१, पृ० २८५।

[3] रा. च. मा. १, २१०, २-३।

यहाँ हिन्दी कवि ने वाल्मीकि (१, ३०) तथा अध्यात्म रामायण (१, ५, ७ इत्यादि) के वर्णन का संक्षेपमात्र दे दिया है। इसी समान, विश्वामित्र ने सोन नदी के तट पर दोनों भाइयों को जो जो कथाएं सुनाई थीं, तुलसी ने उनका भी संक्षिप्त उल्लेख किया है। ये कथाएं वाल्मीकि रामायण में दो सर्गों में वर्णित हैं (वा. रा. १. ३२-३४)। मानस में केवल इतना कहा है—

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥[1]

यह सारा अंश दुरूह है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के कवि ने राम के इन सब पराक्रमों को यथासंभव अधिक संक्षिप्त करना चाहा है क्योंकि उसकी दृष्टि में इनका अधिक महत्व नहीं, परन्तु उसे यह भी चिन्ता है कि वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामकथा का क्रम भंग न हो।

राक्षसों को मारकर व ब्राह्मणों को निर्भय करके, राम और लक्ष्मण और उनके पथप्रदर्शक विश्वामित्र जनक की राजधानी मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं क्योंकि वहीं पर तो धनुर्यज्ञ होना है जिसमें सीता के भावी पति का निर्णय होगा।

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥
धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥[2]

यह धनुष शिव का है और उसको भंग करने के लिए राजा जनक ने सब राजाओं को आमंत्रित किया है। इस कार्य में जो भी विजयी होगा वह सीता का पति होगा। तुलसी ने इस सुविख्यात कथा को बहुत ही संक्षेप से बताया है। परन्तु उन्होंने मिथिला के पथ पर, राम ने गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का जो उद्धार किया, उसका विस्तार से वर्णन दिया है।

वाल्मीकि रामायण में अहल्या के उद्धार की कथा दो सर्गों में दी गई है (वा. रा. १, ४८-४९)। मिथिला में प्रवेश करने से पहले, राम ने एक निर्जन आश्रम देखा तो विश्वामित्र से पूछ-ताछ की; इस पर उन्होंने गौतम की पत्नी अहल्या की कथा कह सुनाई, कि इन्द्र ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया था जिससे गौतम मुनि ने अपनी पत्नी को शाप दे दिया कि वह हज़ारों साल तक केवल वायु पर निर्वाह करे, पश्चात्ताप से संतप्त तथा सबको अदृश्य होकर इस आश्रम में रहे, और जब राम इस स्थान को पवित्र करें तभी वह इस शाप से मुक्त हो। आश्रम में प्रवेश करने पर अहल्या ने उनके संमुख प्रगट होकर उनका आतिथ्य किया और इस प्रकार राम ने उसका उद्धार किया।

इन्द्र द्वारा अहल्या को आकृष्ट करने तथा उसके दण्ड का मानस में कोई वर्णन नहीं; हो सकता है कि इस विषय में तुलसी के मौन रहने का कारण यही है कि यह कथा ओछी है; तुलसी ने केवल गौतम द्वारा अहल्या को दिए शाप का उल्लेख किया है —

---

[1] वही १, २१०, ४।
[2] रा. च. मा. १, २१०, ५।

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥[1]

वाल्मीकि रामायण के अनुसार, गौतम ने अहल्या को राम के आने तक अदृश्य रहने का शाप दिया था। अध्यात्म रामायण के अनुसार उसे "एक शिला पर" रहने को कहा गया था—

"दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम।"

"हे दुष्टे, तू मेरे आश्रम में शिला पर (?) निवास कर।"[2] और यह सब राम के आने तक; उनके चरणस्पर्श से ही उसका उद्धार हो जाएगा।

"जिस समय वे तेरी आश्रमभूत शिला पर अपने दोनों चरण रखेंगे उसी समय तू पापमुक्त हो जाएगी . . . . .।"[3]

पर रामचरितमानस के अनुसार अहल्या पाषाण में परिणत हो जाती है (उपल देह धरि धीर) और वह मुक्ति के साधन राम के "चरण कमलों की धूलि" की प्रतीक्षा करती है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा[4] के अनुसार, अध्यात्म रामायण में विद्यमान यह उपाख्यान माध्यमिक अवस्था में है। कालिदास के रघुवंश में, पद्मपुराण में, और कथासरित्सागर में[5], मानस के समान, अहल्या का पाषाण देह धारण करने का उल्लेख है, पर अध्यात्म रामायण के अंग्रेज़ी तथा हिन्दी अनुवादकों ने "शिलायां तिष्ठ" का अर्थ "शिला में निवास करो" ही किया है। यह अर्थ संदेहजनक है। पर अध्यात्म रामायण में अहल्या के उपाख्यान के बाद ही नाविक की कथा से इस अर्थ की पुष्टि होती है। अहल्या के उद्धार की चर्चा करते हुए नाविक राम से कहता है—

"सारा संसार जानता है कि आपके चरणों में पत्थर को स्त्री में परिणत कर देने की शक्ति है . . . .।"[6] कदाचित् अध्यात्म रामायण के लेखक ने वाल्मीकि की कथा व लौकिक कथा में समन्वय करना चाहा हो—जो भी हो, तुलसी के समय में और उनसे भी बहुत पूर्व, अहल्या के पाषाण में परिवर्तित हो जाने की कथा सुदृढ़ परम्परा का रूप ले चुकी थी।

अध्यात्म रामायण में (१, ५, ४३-६५) उद्धार के बाद अहल्या राम के प्रति एक लम्बी स्तुति करके अपनी कृतज्ञता प्रगट करती है। परब्रह्म मानकर उनकी वन्दना करती है। और कहती है—"आप जगन्निवास हैं, ब्रह्मा शंकरादि अन्य देवता आपकी खोज करते हैं और आप ने मानव-देह

---

[1] वही, १, २१० दोहा।

[2] अ. रा., १, ५, २७।

[3] वही ५, ३१।

[4] "अहल्या की मुक्ति-उपाख्यान का विकास" (हिन्दी) विचारधारा, पूर्वार्ध, इलाहाबाद।

[5] रघुवंश ११, ३३-३४; पद्मपुराण १६, ७-१३; कथासरित्सागर, २, १७, २१; देखो महानाटक के लिए पृ० १४० पादटिप्पणी २।

[6] अ. रा., १, ६, ३। अध्यात्म रामायण तथा रा. च. मा. में नाविक की कथा के लिए दे० पृ० १०२ तथा अध्याय ७, पृ० १३१-१४०।

में मर्त्य लोक में अवतार लिया है।" वह राम की व्यापकता तथा अलौकिकता, उनकी निश्चलता तथा अनन्तता, उनके शरीर की और उनके मानवीय आचार-व्यवहार की अवास्तविकता की विवेचना करती है। वह अपने सौभाग्य पर अपने को धन्य मानती है और भगवान राम की कृपा की स्तुति करती है। वह केवल उन्ही की उपासना करती है, उनकी शरण लेती है और उनसे प्रार्थना करती है कि उन में उसकी अनन्य भक्ति रहे।

"हे देव, मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, वहीं सर्वदा आपके चरणकमलों में मेरी आसक्तिपूर्ण भक्ति बनी रहे।" (अ. रा. १. ५, ५८)

यह "अहल्या स्तुति" मानस में बालकाण्ड के २११ वें पद्य में है, जहाँ, "ब्रह्मा स्तुति" (१, १८६), व "कौसल्या स्तुति" (१, १९२) के समान चार चौपाइयों के स्थान पर उतने ही त्रिभंगी छन्द दिए गए हैं। इनमें से पहिले छन्द में राम के चरण कमलों के स्पर्श से अहल्या के उद्धार का वर्णन और अवशिष्ट तीन छन्दों में अहल्या द्वारा परित्राता राम की स्तुति दी है। परन्तु मानस में दार्शनिक तथ्यों का अभाव है—

तिह निर्मल बानीं अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई ॥
मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावन रिपु जन सुखदाई ॥
राजीव बिलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ॥
मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना ॥
बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥
जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥

इस प्रकार गौतम की पत्नी पवित्र होकर अपने पति के पास चली गई। तुलसी ने अन्तिम दोहे में कहा है—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल ॥[1]

इस अहल्या स्तुति और पहली दो—ब्रह्मा तथा कौसल्या—स्तुतियों में समानता है, तीनों ही एक प्रकार के छन्द में रचित हैं, तीनों ही अध्यात्म-रामायण से प्रेरित हुई हैं, यद्यपि इनमें दार्शनिक विचारों का अभाव है; तथा आकार वा सामान्य शैली की दृष्टि से ये तीनों स्तुतियाँ भागवत पुराण की स्तुतियों के अधिक समीप हैं।

[1] रा. च. मा. १, २११ दोहा।

२—मिथिला में राम तथा लक्ष्मण—

राम तथा सीता का साक्षात्कार

गंगातट पर पहुँचकर, विश्वामित्र और दोनों राजकुमार उस पावन नदी को सादर प्रणाम करते हैं। विश्वामित्र इन दोनों को उन राजा भगीरथ की कथा बताते हैं जिन्होंने दिव्य नदी का पृथिवी पर अवतरण कराया। यह कथा वाल्मीकि रामायण में तीन (१, ४२-४४) सर्गों में दी गई है, पर मानस में इस कथा का विवरण नहीं दिया गया, केवल संक्षेप में उल्लेख हुआ है—

गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥[१]

मानस में राम लक्ष्मण तथा विश्वामित्र के गंगा पार होने का वर्णन नहीं किया गया। तुलसी ने केवल इतना कहा है कि राम ने (गंगा तट पर वास करनेवाले) ऋषियों सहित गंगा में स्नान किया और फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। इस प्रसंग का अभाव इसलिए और भी अधिक द्रष्टव्य है कि इस स्थान पर अध्यात्म रामायण (१, ६, ३ इत्यादि) में राम तथा नाविक के वार्तालाप की कथा दी गई है जो वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध नहीं। यह नाविक राम को पार ले जाने से मना कर देता है क्योंकि उसे डर है कि जिस चरण रज ने एक शिला को स्त्री (अहल्या) में परिवर्तित कर दिया था वह कहीं उसकी नाव में भी कोई परिवर्तन न कर दे। मानस में यह वार्तालाप अयोध्याकाण्ड में वर्णित है जब कि राम सीता और लक्ष्मण वनवास जाते हुए गंगा पार करते हैं।[२]

वाल्मीकि रामयण (१, ५०) के अनुसार मिथिला के समीप पहुंचने पर विश्वामित्र तथा दोनों राजकुमार एक विविक्त देश में रुके, वहाँ जनक तथा उनके सम्बन्धियों द्वारा उनका स्वागत हुआ। मानस में इस घटना का वर्णन भिन्न प्रकार से हुआ है। और यहाँ से लेकर तुलसी तथा वाल्मीकि की कथाओं में बहुत कुछ अन्तर होने लगता है यद्यपि यहाँ तक तुलसीदास ने आदिकवि का समीप से अनुकरण किया है।[3]

तुलसीदास ने (रा. च. मा. १, २१२-२१४) विश्वामित्र सहित दोनों राजकुमारों के आगमन के अवसर पर मिथिला के सौन्दर्य का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया है। इस वर्णन में न तो वाल्मीकि का और न ही अध्यात्म रामायण का कोई प्रभाव है। पर यह भागवत पुराण के उस अंश का अनुकरण प्रतीत होता है जहाँ गुरु अक्रूर के साथ कृष्ण और बलराम के आगमन पर मथुरा की सुन्दरता का वर्णन है (भा. पु. १०, ४१)। भागवत पुराण में भी दोनों राजकुमार धनुर्यज्ञ में भाग लेने के लिए मथुरा आते हैं और राम के समान कृष्ण ही उस यज्ञ में सफल होते हैं। इन दोनों कथाओं की समानता अबोधपूर्वक नहीं है। भागवत का यह प्रसंग रामकथा से परीगृहीत है। अपनी कथा को परिष्कृत करने के लिए भागवत से इस प्रसंग को लेकर हिन्दी कवि ने केवल

---

[१] रा. च. मा. १, २१२, १।

[२] रा. च. मा. २, १००-१०१, दे० अध्याय ७, पृ० १३९-१४०।

[3] अध्यात्म रामायण में रामकथा का यह प्रसंग वाल्मीकि रामयण (दक्षिणी संस्करण) का संक्षेपमात्र है। अतः यह हमारे अध्ययन के बाहर का विषय है।

अपनी सम्पत्ति को ही ग्रहण किया है। राम व कृष्ण-कथाओं के परस्पर आदान-प्रदान का यह एक विलक्षण उदाहरण है।

मानस में, जनक तथा विश्वामित्र की भेंट का वर्णन इस प्रकार हुआ है जिससे उस राजर्षि की स्वाभाविक रामभक्ति का परिचय प्राप्त हो—

> कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
> ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
> सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
> ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
> इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
> कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥
> ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी॥[1]

तीसरा पहर बीत जाने पर, उन दोनों भाइयों ने ऋषि विश्वामित्र से नगर को देखने की आज्ञा मांगी। नगर में भ्रमण करने का यह भाव भी भागवत पुराण से प्रेरित है—वहाँ कृष्ण और बलराम धनुर्यज्ञ में जाने से पहले मथुरा में घूमते हैं, उनकी सुन्दरता सभी स्त्रियों को आकर्षित करती है यहाँ तक कि उनको देखने के लिए वे अपने सारे काम काज छोड़ देती हैं। वे दोनों भाई एक धोबी तथा रंगरेज़ को देखते हैं जो उन्हें बलात्कार सुन्दर कपड़े दे देते हैं, एक मालाकार उन्हें मालाओं से अलंकृत करता है, और एक अंगविलेप ले जानेवाली स्त्री मिलती है जो उनके अनुलेप करती है (१०, ४१)।

परन्तु मिथिला में राम व लक्ष्मण का भ्रमण भिन्न प्रकार से वर्णित है। झरोखों के पीछे छिपी हुई युवती स्त्रियाँ राम का रूप देख कर उनके सौन्दर्य का वर्णन करती हैं और यही मनोकामना प्रगट करती हैं कि सीता को राम ही ग्रहण करें क्योंकि वे ही योग्य वर हैं। एक बहुत ही मनोरम स्थल पर, कवि ने नगर के उन बालकों के भावों की अभिव्यक्ति की है जो इन दोनों भाइयों की ओर स्नेह से आकृष्ट हैं और जो उस धनुर्यज्ञ की तय्यारियों का वर्णन करते हैं—

> पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
> सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
> तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥[2]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि भागवत पुराण में प्रधानतया स्त्रियाँ ही कृष्ण का दर्शन करके उनसे भेंट करने के लिए उत्सुक होती हैं। परन्तु मानस में उपर्युक्त नवीनता से तुलसीदास की शिष्टता की चिन्ता और उनकी कल्पना की कोमलता व्यक्त होती है।

[1] रा. चा. मा. १. २१६, १-४।
[2] रा. च. मा. १. २२४, ४ दोहा।

उद्यान में राम तथा सीता का साक्षात्कार—

स्वयंवर से पूर्व राम और सीता की भेंट और इस भेंट के कारण उनमें पूर्वानुराग की उत्पत्ति का प्रसंग, वाल्मीकि की कथा की तुलना में, तुलसीदास की महत्वपूर्ण मौलिक देन है। वाल्मीकि रामायण में, स्वयंवर से पूर्व सीता कहीं दिखाई ही नहीं देती। महानाटक में, धनुष के भंग होने के समय सीता उपस्थित हैं और उनको देखते ही राम इस परीक्षा के लिए उत्सुक हो जाते हैं। अध्यात्म रामायण में, स्वयंवर की यज्ञशाला में धनुष भंग होने के पश्चात् राम को जयमाला पहिनाने के लिए सीता आती हैं, परन्तु राम ने उन्हें पहिले कभी नहीं देखा था।

इसके विरुद्ध, मानस में, स्वयंवर से पूर्व ही एक सुसंयोग के कारण राम तथा लक्ष्मण का सीता से परिचय हो जाता है। मिथिला पहुँचने के दूसरे दिन प्रातःकाल ही राम और लक्ष्मण सन्ध्या की पूजा के लिए फल चुनने को निकले और इस प्रकार वह एक ऐसे उद्यान में आ पहुँचे जहाँ शाश्वत वसन्त रहता है। वहीं पर एक पद्मतड़ाग के समीप गिरिजा का मन्दिर था। जब राम व लक्ष्मण उसके आसपास फूल चुनने में व्यस्त थे तो अपनी परिचारिकाओं सहित सीता भी पार्वती के मन्दिर में आईं और उन्होंने पार्वती से अपने अनुरूप पति को प्राप्त करने की प्रार्थना की। तभी उनकी सखियों में से एक ने दोनों राजकुमारों को देखा और सीता से आकर उनके सौन्दर्य का वर्णन किया। किसी अन्य सखी ने यह अनुमान लगा लिया कि ये दोनों राजपुत्र हैं। अपनी सहेली के साथ, सीता उनके समीप गईं। राम ने सीता को पहिले देखा और अपने भावों को लक्ष्मण पर व्यक्त किया। उधर राम को देख सीता मंत्रमुग्ध रह गईं और राम की ओर ही देखती रहीं परन्तु उनकी सखियों ने जल्दी लौटने के लिए कहकर उनके सुख को भंग कर दिया। बहुत दुख के साथ सीता राम से विलग हुईं। पर मुड़ मुड़ कर उसी दिशा में देखती रहीं जहाँ राम थे। तत्पश्चात् वे मन्दिर में फिर लौट कर आईं और उन्होंने पार्वती से यही प्रार्थना की कि राम ही उनके भावी पति हों। इस पर पार्वती ने उनकी मनोकामना सफल करने का वचन दे दिया।

स्वयंवर से पूर्व राम तथा सीता का साक्षात्कार अधिकतर रामाश्रयी नाटकों में वर्णित है। महावीरचरित (प्रथम अंक) में भवभूति ने इस साक्षात्कार का स्थल विश्वामित्र का आश्रम रखा है, पर अन्य नाटक, विशेषकर प्रसन्नराघव, मानस के समान, मिथिला को इस साक्षात्कार का स्थल बताते हैं।

यह निश्चित प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने प्रसन्नराघव के द्वितीय अंक से ही इस शृङ्गारात्मक साक्षात्कार की मुख्य रूपरेखा को तथा उसके वातावरण को लिया है। इस नाटक में (विष्कम्भक के पश्चात्) द्वितीय अंक के आरम्भ में मिथिला के एक उद्यान का दृश्य है। सन्ध्या के लिए फूल चुनते हुए राम तथा लक्ष्मण प्रवेश करते हैं और दोनों राजकुमार इस उद्यान के मधुमास के कारण द्विगुणित सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। उसके समीप ही गिरिजा का एक मन्दिर बना है; पूजा करने के लिए सीता वहाँ आती हैं और इस अवसर पर राम और सीता का परस्पर साक्षात्कार होता है। एक दूसरे के आकर्षण से दोनों ही मुग्ध रह जाते हैं, पर समयाभाव के कारण सीता को वहाँ से जाना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि तुलसीदास ने इस नाटक का बहुत समीप से अनुकरण किया है।[1]

---

[1] दे० सिल्वें लेवी, "ल तेआत्र एंदिएं", पृ० २८१ इत्यादि।

मानस में, इस कथानक की रचना संस्कृत नाटकों की परम्परागत शैली में हुई है। मधुमास में उद्यान का वर्णन, भ्रमरों का गीत, मयूरों का नृत्य, नूपुरों की मधुरध्वनि से नायिका के आगमन की सूचना, नायिका के संकोच पर सखियों का उपहासपूर्ण चित्रण, नायक का अपने विश्वासपात्र से मुग्धा नायिका के सौन्दर्य का वर्णन, प्रेमियों की निःशब्द परस्पर प्रशंसा और एक दूसरे से पृथक् होते समय दुःख --ये सब ऐसे लक्षण हैं जिनकी कल्पना संस्कृत कवि पूर्वानुराग के प्रदर्शन के लिये करते हैं। इस विषय का निर्वाह करने को तुलसीदास ने इस प्रकार के परम्परागत नियमों का स्वाभाविक अनुसरण किया है।

परन्तु इस सम्पूर्ण प्रसंग में शृङ्गारात्मकता के अंशमात्र का भी अभाव कम उल्लेखनीय नहीं। वस्तुतः मानस में सखियाँ राजकुमारी से उस प्रकार की उपहासात्मक बातें नहीं करतीं जो संस्कृत के नाटकों में इस प्रकार के पात्र करते हैं। प्रसन्नराघव में राजकुमारी के शारीरिक सौन्दर्य के सूक्ष्म वर्णन को आठ श्लोकों में दिया गया है, पर मानस में यह अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया गया है। सीता के सौन्दर्य का वर्णन करने में तुलसीदास ने अपनी दुर्बलता स्वीकार की है—

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरंचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी॥[1]

इसके विरुद्ध, तुलसी ने राम तथा लक्ष्मण के सौन्दर्य का वर्णन ऐसे किया है जिससे उनका भजन करने वालों के हृदय में अनन्य भक्ति की प्रेरणा जाग्रत हो।

इस कथानक में, सीता केवल राम की प्रियतमा ही नहीं हैं, परन्तु उनकी भक्त भी हैं। हमें यह भी बताया गया है कि सीता ने बहुत समय से अपने हृदय को राममय कर रखा था—

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥
सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥[2]

राम के सौन्दर्य को देखकर, सीता को ऐसा आनन्द होता है मानो किसी को कोई खोई हुई "निधि" प्राप्त हो गई हो। उनकी उत्कट प्रार्थना के उत्तर में पार्वती कहती हैं—

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥
नारद बचन सदा सुचि साचा।[3]

---

[1] रा. च. मा. १, २३०, ३-४।
[2] वही १, २२९, ४ दोहा।
[3] वही १, २३६, ४।

इस प्रीति के पुरातन होने के तथा नारद की भविष्यवाणी के विषय में तुलसी ने पहिले कुछ भी नहीं कहा। वाल्मीकि रामायण में तो इसका प्रश्न ही नहीं है, वहाँ जनक ने विश्वामित्र और वशिष्ठ को सीता के अद्भुत जन्म से सम्बन्धित पृष्ठभूमि से अवगत कराया (वा. रा. १, ६६)। इसके विरुद्ध, अध्यात्म रामायण में, सीता के जन्म के पश्चात् मिथिला में नारद के आगमन का और इस बाला के विषय में उनकी भविष्यवाणी का उल्लेख है। बालकाण्ड के अन्त में, अपने अतिथियों से विदा लेते हुए राजा जनक नारद की इस भविष्यवाणी तथा सुझावों के विषय में बताते हैं—

"वे परमेश्वर, अपने चार अंशों से दशरथ के पुत्र होकर अयोध्या में रहते हैं। और इधर योग माया ने तुम्हारे यहाँ सीता के रूप में जन्म लिया है। अत: तुम प्रयत्नपूर्वक इस सीता का पाणिग्रहण रघुनाथ के साथ ही करना—क्योंकि यह पहिले से ही परमात्मा राम की भार्या हैं।"[1]

जनक के इस विदाई भाषण के समान रामचरितमानस (१, ३४१–३४२) में भी एक भाषण है परन्तु मानस में जनक ने नारद की भविष्यवाणी का कोई उल्लेख नहीं किया।[2] इसके अतिरिक्त, सीता को दिव्यता के और परब्रह्म की "शक्ति" होने के सम्बन्ध में अध्यात्म रामायण में जो कुछ कहा गया है वह भी मानस में सामन्यतया संक्षिप्त कर दिया गया है और सीता के जन्म सम्बन्धी रहस्य का तो कहीं वर्णन ही नहीं है। अत: मानस के "प्रीति पुरातन" में अध्यात्म रामायण की प्रतिच्छाया देखना कठिन है।

तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त "प्रीति पुरातन" से ध्वनि यह निकलती है कि राम में सीता की आसक्ति उनके (विदेह की राजकुमारी के रूप में) जन्म से भी प्राचीन है, यह प्रेम शाश्वत है और शिव के प्रति सतीपार्वती के शाश्वत प्रेम के समान है। सब नारियाँ अपने हृदयसम्बन्धी विषयों की पूर्ति के लिए इन्हीं सती-पार्वती की प्रार्थना करती हैं। जनक को बताई नारद की भविष्यवाणी, जिसका यहाँ उल्लेख है, कदाचित् शैवकथा से परिगृहीत है—जिस प्रकार बाल-राम का चित्रण बाल-कृष्ण के आधार पर हुआ, उसी प्रकार मानस में राम व सीता के प्रेम का प्रसंग शिव तथा पार्वती के शाश्वत प्रेम के आधार पर हुआ है। परस्पर प्रभाव की यह ऐसी पद्धति है जिसके कई उदाहरण हिन्दू धर्मविज्ञान में प्राप्त हैं। सतीभवानी के समान, सीता को पतिप्रेम की आदर्श तथा शाश्वत स्थिरता की मूर्ति बताकर, धार्मिक तुलसीदास ने उन्हें सामान्य लौकिक नायिकाओं से ऊपर उठा देने का प्रयास किया है।

इस लालित्यपूर्ण वर्णन के अन्त में चन्द्रमा के उदय का वर्णन है—और यह भी भारतीय नाटक की परम्पराओं का स्मरण कराता है क्योंकि इस प्रकार के वर्णन उद्दीपन भाव होते हैं।[3] हिन्दी कविता में, राम द्वारा चन्द्रोदय का वर्णन और सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा बहुत ही रोचक ढंग से मिश्रित हैं—

---

[1] अ. रा. १, ६, ६४–६५; भागवत पुराण (१०, २) में, योग माया, नन्द की पत्नी यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होती है।

[2] दे० आगे पृ० १२१।

[3] उदाहरणत: प्रसन्नराघव के सातवें अंक में चन्द्रमा के उदय का वर्णन अत्यधिक विस्तार से हुआ है।

प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥

जनमु सिंधु पुनि बंधु बिपु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक॥

घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे॥[1]

उधर लक्ष्मण उदयमान सूर्य की तुलना राम से करते हैं—

अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन॥

नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटें धनुष सुखारे॥
उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया॥
तव भुज बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥[2]

राम की शक्ति की प्रशंसा के निमित्त, अरुणोदय का वर्णन, आगे आनेवाले धनुर्यज्ञ के प्रसंग के लिए संक्रामक का कार्य करता है।

३—धनुर्यज्ञ तथा सीता-स्वयंवर—

मानस में धनुर्यज्ञ तथा सीता-स्वयंवर की कथा विस्तार से विकसित हुई है और यह अंश कविता के सर्वथा सजीव तथा सफल अंशों में से है। विभिन्न आधारों से ली गई सामग्री का प्रयोग कर यहाँ तुलसीदास ने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है और इस सामग्री में उन्होंने कई ऐसी विशेषताएँ ला दी हैं जो उनकी आविष्कारात्मक प्रतिभा तथा उनकी नाटकीय मनोवृत्ति का प्रमाण हैं।

मानस में इस कथानक का सारांश—

जनक के निमंत्रण पर, विश्वामित्र तथा अन्य ब्राह्मणों के साथ राम और लक्ष्मण स्वयंवर के लिए सँवारी रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। ये दोनों ही राजकुमार प्रत्येक सभासद को उसकी भावनानुरूप

[1] रा. च. मा. १, २३७, ४ दोहा; २३८, १-२।
[2] वही, १, २३८, दोहा; २३९, १-३।

प्रकट होते हैं। जनक उनसे बैठने को कहते हैं। उन क्षत्रियों के सौन्दर्य का वर्णन। उनको देखकर उपस्थित राजा हतोत्साह हो जाते हैं। कुछ तो वहाँ से चले जाते हैं, कुछ "मूढ़ राजा" राम पर विजय पाने की शपथ लेते हैं, "अच्छे राजा" उन राजाओं की अवहेलना करते हैं और राम का दर्शन पा सकने के कारण अपने को सौभाग्यशाली मानते हैं।

जनक सीता को बुलवाते हैं। वे सखियों के साथ वहाँ उपस्थित होती हैं। कवि उनके सौन्दर्य का वर्णन नहीं करना चाहता। सारी सभा उनके सौन्दर्य से मुग्ध है। परन्तु सीता के नेत्र राम को ही ढूंढते हैं। राम और सीता की इस सुन्दर जुगल जोड़ी को देखकर सारे सभासद यही कहते हैं कि जनक अपने प्रण को छोड़ दें और सीता को राम को समर्पित कर दें।

तब राजा जनक भाटों को बुलवाते हैं और उनसे अपना प्रण सबको सुनाने के लिये कहते हैं कि जो शिव के धनुष को भंग करेगा, सीता उसे ही वरेंगी। इस पर कुछ प्रतियोगी राजा उठते हैं और धनुष भंग करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उनमें से कोई भी न तो धनुष को उठा सकता है और न उसको हिला ही सकता है। सब लजाकर वापस चले जाते हैं। राजाओं को असफल देखकर जनक अकुला जाते हैं। अपने प्रण की फिर से घोषणा कराते हैं और आश्चर्य में कहते हैं कि क्या धनुष को तोड़कर सुन्दरी कन्या, महान् विजय और अत्यन्त महान् कीर्ति को पाने वाला ब्रह्मा ने किसी को रचा ही नहीं। कदाचित् सीता का विवाह लिखा ही नहीं। जनक के वचन सुनकर लक्ष्मण बहुत क्रुद्ध होते हैं और चाहते थे कि राम उन्हें आज्ञा दें तो वे इस धनुष को भंग कर दें। लक्ष्मण के क्रोध से पृथिवीतल काँप उठा। राम ने लक्ष्मण को बिठा दिया। फिर विश्वामित्र राम से धनुष भंग करने को कहते हैं।

राम शान्ति से उठे और रंगमच पर चढ़े। उनको देखकर वहाँ पर एकत्र राजा तो निराश हुए पर सन्त तथा देवताओं को आनन्द हुआ। सभी लोगों ने उनकी सफलता की अभ्यर्थना की। मिथिला की रानी की कठिनाई यह थी कि यह परीक्षा कोमल युवक राम के लिए बहुत कठोर थी, पर उनकी एक चतुर सखी ने उन्हें धैर्य दिलाया। राम पर दृष्टि लगाये सीता ने सभी देवताओं से सहायता की बिनती की। वे अपने पिता के प्रण पर दुखी हुई और उन्होंने शिव के धनुष से हल्का हो जाने की प्रार्थना की। जब राम ने धनुष को पकड़ा तो सीता ने व्याकुल दृष्टि से उनकी ओर देखा।

लक्ष्मण ने पृथिवी की नींवों को धैर्यपूर्वक पृथिवी थामे रहने को कहा और उधर राम शिव-धनुष को भंग करने के लिए उद्यत हुए। सभी प्रेक्षकों के उद्वेग और सीता की व्याकुलता के साथ साथ राम आगे बढ़े, अनायास ही धनुष को उठाया और उसके दो टुकड़े कर दिए। उसके टूटने की भयंकर ध्वनि ब्रह्माण्ड में गूंज गई और उससे सूर्य के घोड़े भी भयभीत हो गए।

इस पर प्रजा तथा देवगणों ने अत्यधिक हर्षध्वनि की। जनक के गुरु शतानन्द के आदेश पर सीता अति प्रसन्न होकर आगे बढ़ीं, और राम के गले में जयमाला डाल दी। सारे नगर में आनन्दोत्सव हो गया। राम के पास सीता को देखकर मूढ़ राजा ईर्ष्या से जल गये और बलात्कार राजकुमारी को ग्रहण करने की बातें करने लगे। अच्छे राजाओं ने उन्हें डाँटा डपटा और ऐसे दुस्साहस से जो हानि की शंका होती है उसकी चेतावनी दी। इस शोर से सीता डर गई और भीतर चली गई; राम विश्वामित्र के पास गये और लक्ष्मण राजाओं की ओर क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। तब परशुराम उपस्थित हुए।

वाल्मीकि रामायण में सीतास्वयंवर को स्थान नहीं मिला। वहाँ पर धनुष परीक्षा का वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से हुआ है। विश्वामित्र जनक से राम व लक्ष्मण को शिव का धनुष दिखाने को कहते हैं। तब जनक विश्वामित्र को बताते हैं कि यह धनुष उन्हें कैसे प्राप्त हुआ और इस धनुष को तोड़देनेवाले व्यक्ति को सीता देने का निश्चय उन्होंने कैसे किया। कई राजा इसको तोड़ने के लिये प्रस्तुत हुए पर उनमें से कोई भी सफल नहीं हुआ। निराश होने पर इन राजाओं ने मिथिला को घेर लिया पर देवताओं की सहायता से जनक ने इनको वहाँ से भगा दिया (वा. रा. १, ६६)।

जनक ने अपने सेवकों से धनुष लाने को कहा तो पाँच हज़ार व्यक्ति उसको रथ पर खींचकर लाये। विश्वामित्र के आदेश पर बहुत से व्यक्तियों के समक्ष राम ने उस धनुष को उठाया और भंग कर दिया। इस अवसर पर सारे विश्व में उसके टूटने की ध्वनि गूंज उठी। तभी जनक ने सीता राम को समर्पित कीं और राजा दशरथ के यहाँ दूत भेजे कि वे विवाहोत्सव में पधारें (वा. रा. १, ६७)।

सदा की भाँति, अध्यात्म रामायण ने इस प्रसंग को भी वाल्मीकि के आधार पर संक्षिप्त कर दिया है। पर अध्यात्म रामायण में धनुषपरीक्षा को एक प्रकार से स्वयंवर का रूप मिल गया है। यहाँ कहा गया है कि "सभी राजाओं" के समक्ष राम ने धनुष को खींचा और स्वयं सीता राम को जयमाला पहिनाने के लिये उपस्थित हुई (अ. रा. १, ६, १८ इत्यादि)।

ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्म रामायण ने एक प्राचीन परम्परा का समावेश किया है। राम के पराक्रम के समय सीता को प्रेक्षक बनाने, धनुष परीक्षा को स्वयंवर में परिणत करने व जनक द्वारा बहिष्कृत राजाओं को राम का प्रतिद्वन्द्वी बनाने का भाव, रामाश्रयी नाटकों में थोड़े बहुत विस्तार से प्राप्त होता है। उदाहरणत: 'महानाटक' में सीता के स्वयंवर का वर्णन है। यद्यपि यह नाटक भवभूति से परवर्ती है तथापि नाटकों की ऐसी प्राचीन परम्परा का द्योतक है जो रामायण-महाभारत के अधिक निकट है। इसके पहले अंक में राजा जनक एकत्र सभी राजकुमारों को चुनौती देते हैं और उनके पुरोहित शतानन्द भी इसको दोहराते हैं। रावण द्वारा भेजा गया दूत शौष्कल इस परीक्षा में भाग लिये बिना ही लौट जाता है। बहुत अधिक परिश्रम करने पर भी, सभी राजकुमार इस धनुष को भंग करने में असफल रहते हैं। तब सीता तथा उनकी सहेलियाँ प्रवेश करती हैं। उन्हें डर है कि सुकोमल शरीर वाले राम इस धनुष को झुकाने में कदाचित् सफल न हों। पर सीता का दर्शन करने से राम दृढ़संकल्प हो जाते हैं और लक्ष्मण भी उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। इस पर सीता के वामनेत्र में स्पन्दन होता है जो शुभ शकुन है। राम धनुष को उठाते हैं और लक्ष्मण पृथिवी के आधारस्तम्भों (शेष, कूर्म इत्यादि) को स्थिर रहने का आदेश देते हैं . . .। राम के धनुष भंग करने पर सीता तथा जनक अत्यन्त आनन्दित होते हैं और अन्य राजकुमार लज्जित होते हैं। धनुष के भंग होने की ध्वनि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कांपने लगता है।[1]

महानाटक का यह अंश मद्रास की अड्यार पुस्तकालय में सुरक्षित एक हस्तलिपि में विद्यमान है। इसमें १७ श्लोक हैं और महानाटक के एतद्विषयक सभी श्लोकों को एकत्र करके सीता

[1] दे० सिल्वें लेवी, ल तेआत्र ऐंदिऐं, पृ० २६८।

के स्वयंवर का वर्णन करना इस का मुख्य ध्येय है।[1] इस प्रकार के संकलन की सत्ता से यही सिद्ध होता है कि महानाटक का यह अंश अत्यधिक लोकप्रिय था।

भवभूतिकृत 'महावीरचरित' में और मुरारिकृत 'अनर्घराघव' में धनुष-परीक्षा तथा राम की विजय रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं होती, नेपथ्य में होती है और सीता रंगमंच पर उपस्थित हैं। बालरामायण में तीसरे तथा चौथे अंक के बीच में सीता के स्वयंवर से सम्बन्धित एक गर्भांक दिया गया है। रावण के दूत को छोड़ कर अन्य प्रतियोगियों के, जनक के, तथा अपने प्रेमपात्र सीता के समक्ष राम धनुष को भंग करते हैं। एक अन्य संस्कृत नाटक 'प्रसन्नराघव' में जनक सीता को स्वयंवर भवन में बुला भेजते हैं और उनकी उपस्थिति में (रंगमंच के बाहर) विश्वामित्र के आदेश पर राम शिव के धनुष को भंग करते हैं।

इस प्रकार रामकथा में, "सीता स्वयंवर" की स्थापना, रामाश्रयी नाटकों में तथा अध्यात्म रामायण में एक समान है। कदाचित् अध्यात्म रामायण के लेखक ने इसको रामकथा में सम्मिश्रित पाया और इसीलिए उसने वाल्मीकि में अनुपलब्ध इस घटना को अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। अध्यात्म रामायण में सीत स्वयंवर यथार्थ में वर्णित नहीं, केवल उल्लिखित है, मानो लेखक किसी उपालम्भ से बचना चाहता हो।

स्वयंवर में, राम के भाग्यहीन प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की उपस्थिति भी तुलसीदास ने नाटकों की परम्परा के आधार पर कराई है। वाल्मीकि रामायण (१, ३१) में जनक ने विश्वामित्र को अनेक ऐसे राजाओं का विवरण दिया जिन्होंने शिव के धनुष को भंग करने का निष्फल प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राजा उस अवसर पर उपस्थित नहीं थे और वहाँ से लौट कर अपने घरों को चले जा चुके थे। इसके विरुद्ध, अध्यात्म रामायण (१, ६, २४) में राजाओं की उपस्थिति का तो उल्लेख है पर उनके व्यवहार अथवा भावों की कोई चर्चा नहीं है। यहाँ भी प्रतीत होता है कि अध्यात्म रामायण के लेखक ने नाटकों की स्मृति के आधार पर ऐसा किया। 'महानाटक' में, राम के धनुष भंग करने के समय, (परीक्षा में भाग न लेने वाले रावण के दूत शौष्कल को छोड़ कर) सभी राजाओं की उपस्थिति का उल्लेख है। 'बालरामायण' तथा 'प्रसन्नराघव' में, जहाँ सीता स्वयंवर के प्रसंग को विशेष विस्तार दिया गया है, राम के प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख है, केवल रावण को छोड़ दिया गया है क्योंकि उसने धनुषपरीक्षा में भाग नहीं लिया।

रामाश्रयी सभी नाटकों में रावण को राम के एक विकट प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम के प्रति रावण की घृणा का कारण उसकी प्रचण्ड ईर्ष्या है। महानाटक में रावण का दूत शौष्कल स्वयंवर से पहले ही लौट जाता है क्योंकि उसके अनुसार धनुषपरीक्षा बच्चों का खेल है, और रावण इसमें भाग इस लिए नहीं लेता कि धनुष उसके गुरु शिव का है (१, २१-२२)। भवभूति के 'महावीरचरित' (प्रथम अंक) में रावण का एक दूत विश्वामित्र से अपने स्वामी के लिए सीता को ग्रहण करने का आग्रह करता है, पर धनुष के भंग होने के पश्चात् निराश होकर लौट जाता है। मुरारि

[1] दे० एच. जी. नरहरि, "दि सीता स्वयंवर, एन एक्सर्प्ट फ्रौम दि महानाटक", क्वा. ज. मि. सो. एस. ३३, १९४२।

के 'अनर्घराघव' (तृतीय अंक) में वही शौष्कल सीता के स्वयंवर पर उपस्थित होता है परन्तु 'महानाटक' के समान यहाँ भी धनुपपरीक्षा में भाग नहीं लेता। 'बालरामायण' में, अपने अमात्य प्रहस्त के साथ रावण स्वयंवर में आता तो है पर धनुषपरीक्षा में भाग नहीं लेता, क्योंकि यह कार्य उसके अयोग्य है, और वहाँ से निन्दा करता हुआ निकल जाता है। ('बालरामायण' के समान) 'प्रसन्नराघव' में रावण सीता को ग्रहण करने के उद्देश्य से राजा जनक के दरबार में स्वयं उपस्थित होता है परन्तु उसका आगमन स्वयंवर से पूर्व होता है। इस नाटक के प्रथम अंक में रावण प्रवेश करता है। वह अशिष्ट तथा रूक्षवृत्ति का व्यक्ति है, शिव के धनुप को अवहेलना की दृष्टि से देखता और सीता का बलात्कार हरण करना चाहता है। एक दूसरा प्रतियोगी बाणासुर है। यह रावण के साथ कलह करता है। धनुष को भंग करने का व्यर्थ प्रयत्न करके चला जाता है। इस प्रकार सीता के स्वयंवर के समय राम के दो राक्षस प्रतिद्वन्द्वी वहाँ से पहले ही चले जा चुकते हैं।

मानस की कथा में, रावण और बाणासुर के बीच में आने तथा निष्फल रहने का उल्लेख कई बार हुआ है, उदाहरणत:, स्वयंवर के लिये एकत्र राजकुमारों को चुनौती देते हुए जनक के भाट धनुपपरीक्षा की कठिनाई को बताते हुए कहते हैं—

रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासन गवँहिं सिधारे॥[१]

थोड़ा आगे चलकर सीता की माता अपनी सखियों को बताती हैं—

रावन बान छुआ नहिं चापा।[२]

इस प्रकार मानस में रावण तथा बाणासुर स्वयंवर से पहले ही आते हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसीदास के लिए रावण तथा बाणासुर ने इस परीक्षा में भाग लेने से अपने को रोका। इस से ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने 'प्रसन्नराघव' के संस्करण को ही स्वीकार किया। पर उल्लेखनीय बात यह है कि 'प्रसन्नराघव' में रावण ने धनुष को भंग करने की अवहेलना की, पर बाणासुर ने प्रयास तो किया यद्यपि वह निष्फल रहा। मानस में इस विषय में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया पर प्रतीत होता है कि बाण और रावण दोनों ही धनुप को देखते ही सकुचा गये।

यहाँ पर बात केवल ऐसे साधारण संस्मरण की है जिससे कथा के विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकतर रामाश्रयी नाटकों में, सीता के लिए रावण की लालसा और राम के प्रति उसकी ईर्ष्या ही कार्य की गति के प्रधान आधार हैं, जैसे 'बालरामायण' में सीता की स्मृति में अभिभूत (द्वितीय अंक) तथा वियोगसंतप्त (तृतीय अंक) रावण का चित्रण हुआ है। 'जानकीपरिणय' में जिसका लेखक कदाचित् तुलसीदास का समकालीन रहा हो[3] सीता के लिये राम की प्रीति और रावण की ईर्ष्या कार्य की गति का आधार बनाया गया है। परन्तु इसके विरुद्ध, मानस में इनकी प्रधानता नहीं, यदि

---

[१] रा. च. मा. १, २५०, १।

[२] वही, १, २५६, २।

[3] इस नाटक का रचनाकाल अनिश्चित है। सिल्वें लेवी के अनुसार इसकी रचना दक्कन में लगभग सत्रहवीं शताब्दी में हुई (ल तेआत्र ऐंदिएँ, पृ० २८६)।

रावण सीता का हरण करता है और राम से युद्ध करता है तो इसलिए कि वह दयनीय भाग्य और अनुचित शाप के वशीभूत है।

मानस के सीता स्वयंवर में परशुराम की ओर एक अप्रतीक्षित संकेत है। जिस समय राम धनुष को उठाने लगते हैं तो रूपकप्रधान भाषा का आश्रय लेकर कवि ने राम के बल की तुलना उस निस्सीम सागर से की है जहाँ—

सब कर संसउ अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥
राम बाहुबल सिंधु अपारू। चहत पारु नहिं कोउ कड़हारू॥[1]

राम के धनुष भंग करने के प्रयास के अवसर पर उपस्थित सभी प्रेक्षकों के मनोभावों का तुलसी ने वर्णन किया है परन्तु यहाँ पर परशुराम का उल्लेख विचित्र है क्योंकि मानस में, परशुराम धनुष भंग होने के तथा राम की विजय के, जिसका ज्ञान उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से होता है, पश्चात् प्रस्तुत हुए हैं।

इसके विरुद्ध, 'प्रसन्नराघव' में जिस समय राम धनुष को हाथ में लेकर तोड़ने ही वाले हैं तो प्रतिहारी किसी सन्देशवाहक तपस्वी की उपस्थिति की सूचना देती है। यह परशुराम की ओर से आया एक दूत है जो जनक को आदेश देता है कि (परशुराम के गुरु) शिव के धनुष का निरादर न हो। मानस में इस स्थान पर परशुराम का उल्लेख अत्यन्त असामयिक है और इसके होने का कारण केवल यही हो सकता है कि तुलसी को 'प्रसन्नराघव' का स्मरण रहा।

तुलसीदास ने सीता-स्वयंवर के कुछ स्थल 'महानाटक' से प्रत्यक्ष लिए हैं। इस नाटक में जब राम धनुष को तानने को होते हैं तो लक्ष्मण कहते हैं—

"हे पृथ्वी, स्थिर रहो। हे शेषनाग, पृथ्वी को धारण करो। हे कूर्मराज, इन दोनों को सहारा दो। हे दिङ्नाग तुम भी स्थिर रहो, अभी वीर राम शिव के धनुष को तानने वाले हैं।"[2]

मानस में भी लक्ष्मण पृथिवी के परम्परागत आधारों को इसी प्रकार चेतावनी देते हैं—

दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥[3]

धनुष को तानने से जो ध्वनि विश्व में हुई उसका वर्णन 'महानाटक' में निम्न प्रकार से हुआ है—

"राघव द्वारा भंग किए धनुष की उद्धत ध्वनि ने सातों लोकों में कम्पन कर दिया, सातों घोड़ों को तितर बितर कर दिया, सप्त ऋषियों की समाधि में विघ्न कर दिया, सातों सागरों में बाढ़ ला दी। उससे

---

[1] रा. च. मा. १, २६०, २-३।
[2] महानाटक, १, ३१।
[3] रा. च. मा. १, २६०, १।

पृथिवी के आधारों में कम्पन हो गया और पृथिवी सात नरकों में व्याप गई। महादेव के धनुप के टूटने की भयंकर ध्वनि ने इतना सम्भ्रम उत्पन्न कर दिया कि सूर्य के सातों घोड़े इधर उधर हो गए, शिव का सिर कांपने लगा, विश्व के आधार हाथी गिर गये, पर्वत हिलने लगे, सातों समुद्रों में भयानक तूफ़ान आने लगा। राम के बाहुबल द्वारा ताने गए धनुष की बलवती ध्वनि ने ब्रह्मा को बहरा कर दिया . . . .।"[1]

इस की प्रतिध्वनि मानस में मिलती है—

भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥[2]

भागवत पुराण का प्रभाव भी मानस के कई स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणत: इस पुराण में मथुरा में रंगमंच पर प्रवेश करने के समय कृष्ण प्रत्येक प्रेक्षक को विभिन्न रूप में प्रगट हुए—

"मल्लों को विद्युत, मानवों को मानवों में सर्वोत्तम, नारियों को कामदेव का अवतार, ग्वालों को भाई, नीच राजाओं को शासक, अपने माता पिता को स्नेहपूर्ण बालक, भोजराज को मृत्यु, मूर्खों को विराट्, योगियों को परमतत्व, व वृष्णियों को उनका परम देवता . . . . . .।"[3]

इसी प्रकार लक्ष्मण के साथ राम जब रंगमंच पर प्रवेश करते हैं तो प्रेक्षकों की अपनी २ भावना के अनुसार उनका रूप प्रगट होता है—

देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसें। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥

---

[1] महानाटक, १, ३६-३७।
[2] रा. च. मा. १, २६१ छन्द।
[3] भा. पु. १०, ४३, १७।

हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥
रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥
एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहिं तस देखेउ कोसल राऊ॥[1]

भागवत पुराण में धनुप-परीक्षा को देखने वाली नारियाँ कृष्ण तथा बलराम के कोमल शरीर को देखकर उन पर दया करती हैं क्योंकि वे शूर वीर योधाओं से टक्कर लेने वहाँ आए—

"राजा तथा उसके सभासदों का यह महान अधर्म है क्योंकि बलवान तथा दुर्बलों के इस युद्ध को राजा प्रत्यक्ष प्रोत्साहित करते हैं . . . . . .। एक ओर तो महान शैलों के समान तथा कठोरांग-वाले दो योधा हैं ओर दूसरी ओर सुकुमार अंगोंवाले ये दो नवयुवक। इनका युद्ध वास्तव में अन्याय है . . . . . ."[2]

इसी प्रकार मानस में भी मिथिला की रानी अपनी सखियों को बताती है—

सखि सब कौतुकु देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥[3]

रामाश्रयी नाटकों, भागवतपुराण, तथा कालिदासकृत रघुवंश[4] से इतनी अधिक मात्रा में प्रभावित होने पर भी, मानस में सीतास्वयंवर का वर्णन बहुत ही मौलिक ढंग से हुआ है। पात्रों की भावना के चित्रण में तथा नाटकीय अवस्थाओं के प्रदर्शन में यह मौलिकता विशेष द्रष्टव्य है। राम के भाग्यहीन प्रतिद्वन्द्वी और उनकी विजय के बलहीन साक्षी राजाओं के अज्ञात समूह में भी विचित्रता है और उत्तेजना होती है, उनमें विभाजन हो जाते हैं और गुटबन्दी होने लगती है। उनमें से कुछ राम का दर्शन करके ही धनुर्यज्ञ में भाग न लेने का निश्चय कर लेते हैं। ऐसे राजाओं पर मूढ़ राजा तिरस्कारपूर्ण दृष्टिपात करते हैं क्योंकि वे तो उचितानुचित किसी भी साधन द्वारा अपने दिव्य प्रतिद्वन्द्वी पर विजय पाना चाहते हैं। पर धार्मिक तथा समझदार साधु राजाओं ने तो पहिले से ही राम को परमेश्वर का स्वरूप मानकर उनकी विजय को अवश्यम्भावी मान लिया है और इसी कारण वे मूढ़ राजाओं की निन्दा करते हैं। शिव के धनुप को हिलाने के राजाओं के प्रयत्नों का कवि ने बहुत ही

[1] रा. च. मा. १, २४१, २-दोहा, २४२, १-४।
[2] भा. पु. १०, ४४, ७-८, तथा महानाटक, १, २६-२७।
[3] रा. च. मा. १, २५६, १-३।
[4] रघुवंश ३, २ व ७, २; रा. च. मा. १, २३८ दोहा।

मनोरंजक ढंग से वर्णन किया है, पर "जैसे कामी पुरुष के वचनों से सती का मन कभी चलायमान नहीं होता"[1] उसी प्रकार वह धनुष कभी डिगता ही नहीं था।

क्रोधी लक्ष्मण के सम्मुख राम का गौरव तथा धैर्यपूर्ण व्यवहार विशिष्ट है। सीता के सौन्दर्य का वर्णन बड़ा शिष्ट व संक्षिप्त है। जिस समय सीता स्वयंवर की रंगशाला में प्रवेश करती हैं तो वे एक ओर लज्जा से प्रभावित और दूसरी ओर राम को पुनः देखने के लिए उत्सुक हैं। लक्ष्मण के क्रोधपूर्ण भाषण को सुनकर उन्हें सुख हुआ और राम के धनुष को उठाने के अवसर पर वे गुप्त रूप से देवताओं से उनकी सफलता की प्रार्थना करती हैं। वे शिव के धनुष से भी विनती करती हैं और मौन भय दूर करके आशा की ओर अग्रसर हो जाती हैं। राम को अनुमान हो जाता है कि तनिक भी विलम्ब सीता की मृत्यु का कारण हो सकता है। सीता की भक्ति से आकर्षित, वे धनुष को लेकर बिना प्रयास ही उसे भंग कर देते हैं। उस समय तुलसी ने राम को जयमाला पहिनाते सीता के घबराहट का वर्णन किया है—

तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू॥[2]

मूढ़ राजा विभिन्न प्रकार की बातें करते हैं और उधर क्रुद्ध लक्ष्मण उनकी ओर ऐसे देखते है जैसे—

मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंघकिसोरहि चोप॥[3]

अतः हम देखते हैं कि यह रामचरितमानस के सर्वसुन्दर भागों में से एक है।

४—परशुराम कथा—

वाल्मीकि रामायण में दशरथपुत्र राम, मिथिला से लौटते समय मार्ग में जमदग्नि-पुत्र परशुराम से मिलते हैं। यह सुनकर कि राम ने शिव के धनुष को तोड़ दिया, जामदग्नि को आशा थी कि राम उनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी रहेंगे, अतएव वे अपने साथ विष्णु का धनुष लाये थे। यदि राम उसको तान सके तो ही वे उन्हें मुकाबला करने योग्य समझेंगे। राम ने बिना परिश्रम उस धनुष को तान दिया और परशुराम को अनुभव हुआ मानो उनकी पूरी शक्ति उन से छिन रही हो। तब जामदग्नि ने अपनी तपस्या से जिन २ क्षेत्रों को जीता था, राम ने उन सब क्षेत्रों को एक ही बाण से नष्ट कर दिया और परशुराम महेन्द्राचल पर चले गये (वा. रा. १, ७४-७६)।

अध्यात्म रामायण में भी राम तथा जामदग्नि की भेंट का वर्णन इसी प्रकार दिया है (१, ७), परन्तु अध्यात्म रामायण में, परशुराम अन्ततोगत्वा राम को परम प्रभु मानकर मुक्ति के वेदान्तीय सिद्धान्त के विषय में एक विस्तृत व्याख्यान देते हैं।

एक और साम्प्रदायिक रामायण, अर्थात् अद्भुत रामायण में, यद्यपि राम के शैशव तथा कुमारावस्था का वर्णन नहीं तथापि परशुराम की कथा सुरक्षित है और विकसित भी हुई है। इस

---

[1] रा. च. मा. १, २५१, १।
[2] रा. च. मा. १, २६४, २।
[3] वही, १, २६७ दोहा।

रामायण में वास्तविक रामकथा नवें सर्ग में राम व सीता के मिथिला से प्रस्थान के बाद आरम्भ होती है। (वाल्मीकि रामायण के समान) मार्ग में परशुराम से उन की भेंट होती है। तब उनके सम्मुख राम अपना सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करते हैं और जामदग्नि उनके उस स्वरूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन करते हैं।

नाटकों में परशुराम की कथा का भाग्य चमका। दशरथ के धर्मपरायण पुत्र के साथ इन तपस्वी-योधा का कलह वीररसप्रधान एक नाटकीय संवाद का अवसर प्रदान करता है। वाल्मीकि की रामकथा की तुलना में कुछ नाटकों ने इस कथा को सर्वथा अनुपातातीत महत्व दिया है—जैसे भवभूतिकृत महावीरचरित में, सात अंकों में से, (दूसरे व तीसरे) दो अंकों का विषय राम व जामदग्नि का कलह है। मुरारि इससे भी बढ़ गया है और अनर्घराघव (चौथा अंक) में परशुराम पहले रावण से और फिर राम से कलह करते हैं। बालरामायण के चतुर्थ अंक, प्रसन्नराघव के चतुर्थ अंक तथा हनुमन्नाटक के दूसरे अंक का विषय भी यही कथा है।

इस कलह की पृष्ठभूमि के विषय में इन सभी नाटकों में मतैक्य है। (वाल्मीकि रामायण के समान) यह कलह मिथिला तथा अयोध्या के मार्ग में नहीं, परन्तु राम द्वारा शिवधनुष के भंग किये जाने के तुरन्त पश्चात् धनुर्यज्ञ के रंग में ही हुआ; जामदग्नि व राम के इस कलह का प्रत्यक्ष सम्बन्ध राम के इस पराक्रमी कार्य से है। शिवधनुष का भंग होना ही जामदग्नि के क्रोध का कारण (या निमित्त) बताया गया है।

वाल्मीकि की कथा के अनुसार, राम के साथ जामदग्नि के कलह का मूल कारण सभी क्षत्रियों के प्रति परशुराम की घृणा और अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी को युद्ध के लिए उत्तेजित करने की इच्छा है। शिव के धनुष भंग होने से इन पर कोई विशेष प्रभाव प्रतीत नहीं होता और न ही परशुराम शिव की चर्चा अपने आराध्य देव के समान करते हैं। वाल्मीकि ने अपने जामदग्नि को शिवभक्त के रूप में चित्रित नहीं किया, परशुराम तो राम को, शिव और विष्णु के उस कलह की बातें बताते हैं जिसमें विष्णु विजयी रहे (१, ७५)। इसके अतिरिक्त वैष्णव पुराणों में परशुराम को विष्णु का गौण अवतार माना गया है।[1]

रामाश्रयी नाटकों में जामदग्नि के दिव्य स्वरूप को न मानकर, उन्हें शिव के भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। उदाहरणत: महावीरचरित में ईर्ष्या के वशीभूत रावण ने राम द्वारा उनके गुरु के धनुष भंग किये जाने के कारण परशुराम को उत्तेजित किया (अंक २, विष्कम्भक)। बालरामायण में इसी अपराध का दण्ड देने के लिए परशुराम मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं और प्रसन्नराघव में परशुराम जनक के पास एक दूत भेजकर यह कहलवाते हैं कि उनके गुरु के धनुष का वे निरादर न होने दें (तृतीय अंक), फिर वे स्वयं भी अपराधी को दण्ड देने मिथिला पहुँच जाते हैं। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि सीतास्वयंवर के प्रसंग से परशुराम को सम्बन्धित करने, और अपने गुरु के निरादर का प्रतीकार करने वाले शिवभक्त के रूप में इन ब्राह्मण-योधा को प्रस्तुत करने में तुलसीदास ने नाटकों की परम्परा का अनुकरण किया है।

---

[1] विष्णु पुराण ४, ७, १६; भागवत पुराण १, ३, २०; २, ७, २२। परशुराम की कथा के विषय में दे० म्यूर, ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, भाग १, पृ० ४४२ इत्यादि।

टेसिटोरी का मत है[१] कि मानस तथा वाल्मीकि रामायण में इन ब्राह्मण-योधा के बाह्य आकार का चित्रण लगभग एक समान भाषा में हुआ है। इन विद्वान ने दोनों ग्रन्थों की इस प्रसंग की समानताओं (तपस्वी की जटायें, कन्धे पर परशु इत्यादि) का निर्देश किया है और निष्कर्ष निकाला है कि तुलसीदास ने यह वर्णन संस्कृत रामायण से लिया। तथ्य यह है कि यह तो एक रूढ़िबद्ध वर्णन है और यही वर्णन अध्यात्म रामायण में तथा नाटकों में भी प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में इन ऋषि की तुलना शिव से की गई है—

त्रिपुरघ्नं यथा शिवम्......।[२]

महानाटक में परशुराम को शैव तपस्वियों के समान, रुद्राक्ष माला तथा अश्वत्थ का दण्ड दिए बताया गया है।[3] इसी प्रकार तुलसीदास ने भी परशुराम को "भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा"[४] बताया है।

रामाश्रयी नाटकों ने राम तथा जामदग्नि के कलह का अधिक विकास किया है। प्रसन्न-राघव में, यह ब्राह्मण-योधा स्वयंवर की रंगशाला में आने पर पहिले राम व लक्ष्मण के सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं। उन्हें धनुष के भंग होने की सूचना मिलती है पर अपराधी का नाम ज्ञात नहीं होता। मानस में भी यही घटनाक्रम है। आगमन पर परशुराम दोनों राजकुमारों के सौन्दर्य का विस्तार से वर्णन करते हैं—

दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ॥
बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह अति भीर।
पूँछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोपु सरीर ॥[५]

धनुष के टुकड़ों को पृथ्वी पर देखकर, परशुराम जनक से बहुत कठोर वचन कहते हैं और उनसे धनुष को तोड़ने वाले का नाम जानना चाहते हैं। फिर भी उस अपराधी का नाम न जानना एक असम्भावनीय बात है, और तुलसीदास निश्चय ही प्रसन्नराघव से प्रभावित हैं।

प्रसन्नराघव में ही राम तथा जामदग्नि के कलह में लक्ष्मण भी बीच बीच में बोलते हैं। भयंकर परशुराम के ब्राह्मणत्व के प्रति व्यंग्यपूर्ण वाणी से लक्ष्मण उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध करते हैं—

"यह तो स्पष्ट है कि हम राजकुमारों के धनुष में एक गुण (रज्जु) होती है पर आपका बल नौ गुणों वाले यज्ञोपवीत में है।"[६]

---

[१] इं. एं., ४१, पृ. २८५।
[२] वा. रा. १, ७४, २०।
[3] महानाटक १, ४५-४८।
[४] रा. च. मा. १, २६८, २।
[५] वही, १, २६९, ४, दोहा।
[६] प्रसन्नराघव ४, ५२। इसी प्रकार की बात तुलसीदास ने राम से कहलवाई है, दे० १, २८२।

पर राम लक्ष्मण से अनुरोध करते हैं और शान्त होने को कहते हैं—

"भाई, एक पूज्य तपस्वी को इस प्रकार की अनुचित बातें नहीं कहनी चाहिए।"[१]

तुलसी ने इस दिशा में और भी अधिक विस्तार किया है। मानस में इस कथानक के प्रधान नायक लक्ष्मण हैं और यह कथा स्पष्टतया मनोरंजक हो गई है। यहाँ कलह केवल राम और जामदग्नि में नहीं रहता, परन्तु परशुराम तथा लक्ष्मण में भी होता दिखाई देता है। क्योंकि यह नवीन डेविड उन प्रतापी गोलियाथ को द्वन्द्व युद्ध के लिये उत्तेजित करना चाहता है। भयंकर ब्राह्मण यहाँ प्रलापी के रूप में प्रस्तुत हुये हैं और लक्ष्मण उनसे किंचित् भी नहीं डरते, बल्कि विवाद करते सुखी होते हैं और परशुराम के साथ निर्दयता से पेश आते हैं। कई स्थानों पर राम बीच में बोलते हैं और अपने छोटे भाई के उपहासात्मक तेज के प्रदर्शन को रोकने का निष्फल प्रयत्न करते हैं। सम्पूर्ण कथानक में राम स्थैर्यपूर्ण तथा आदरणीय व्यवहार करते हैं और शत्रु के शाब्दिक प्रहार से भी उनके शान्त स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इस शान्ति तथा आदरभाव में भी व्यंग्य का पुट है।

महानाटक में परशुराम को सम्बोधित करके राम कहते हैं—

"हे ऋषि, मेरे छूते ही धनुप टूट गया, इसमें मैं क्या कर सकता था?"[२]

इसी प्रसंग को तुलसी ने विस्तृत तो किया पर लक्ष्मण द्वारा—

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥
रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥
लखन कहा हँसि हमरें जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥
का छति लाभु जून धनु तोरें। देखा राम नयन के भोरें॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥[3]

लक्ष्मण ने ब्राह्मणों के प्रति आदर की सूचना व्यंग्य से दी और यह ऋषि के चुभ गई। उस पर परशुराम और भी कुपित हो गये पर लक्ष्मण ने व्यंग्य से ही इस बात का स्वागत किया। राम और विश्वामित्र दोनों ने लक्ष्मण को मौन और जामदग्नि के क्रोध को शान्त करने का निष्फल प्रयत्न किया। लक्ष्मण की कटीली बातों से परशुराम ने अपनी शक्ति का आख्यान आरम्भ कर दिया और इतना निरादर करने पर भी लक्ष्मण के इन कटुवचनों को सहन करते रहने के धैर्य पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

---

[१] प्रसन्नराघव ४, ५३।
[२] महानाटक १, ५८।
[3] रा. च. मा. १, २७१, ४ दोहा; २७२, १-२।

अध्यात्मरामायण में परशुराम, राम से कहते हैं—

"अरे क्षत्रियाधम, तू मेरे ही समान रामनाम से विख्यात होकर पृथिवी में विचरता है।"[१]

मानस में राम जामदग्नि से व्यंग्य में कहते है—

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एकु गुनु धनुष हमारें। नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥

बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम॥[२]

अन्त में जब जामदग्नि के क्रोधपूर्ण वार्तालाप की सीमा ही नहीं रही तो राम ने ऐसे वचन कहे जिससे वह प्रलापी ऋषि प्रभावित हो गया और फिर "परशुराम की बुद्धि के पर्दे खुल गये" और परशुराम बोले—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।[३]

इस प्रकार के उपसंहार के लिए तुलसीदास अध्यात्म रामायण के ऋणी प्रतीत होते हैं, क्योंकि अध्यात्म रामायण में भी इन दोनों का द्वन्द्वयुद्ध नहीं होता। राम के नवीन पराक्रम से परशुराम आश्वस्त हैं और राम में "संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण, पुराण पुरुष, भगवान विष्णु"[४] को पहिचान लेते हैं।

इसके पश्चात् अध्यात्म रामायण में परशुराम यह बताते हैं कि शैशव काल में वे विष्णु के भक्त थे। तब विष्णु ने दर्शन दिए थे और कहा था कि उन का भविष्य उज्ज्वल होगा पर "त्रेतायुग में दशरथ के यहाँ मैं राम नाम से जन्म लूँगा और उस समय अपना दिया हुआ तेज फिर ग्रहण कर लूँगा।" तदुपरान्त ब्राह्मण-योधा ब्रह्मा के अवतार राम के गुणों की स्तुति गाते हैं। वे जीव तथा बुद्धि के सिद्धान्त को समझाते हैं क्योंकि ये दोनों परम बुद्धि से ही प्रकाश का अंश ग्रहण करते हैं। वे भक्ति की महिमा बताते हैं जिससे ज्ञान और मुक्ति सम्भव है। और राम के चरणों में अनन्य भक्ति की विनती कर अपने भाषण को समाप्त करते हैं।

---

[१] अ. रा., १, ७, ११। दे० रघुवंश, ११, ७३।
[२] रा. च. मा. १, २८२, ३ दोहा।
[३] रा. च. मा. १, २८४, ४ दोहा।
[४] अ. रा., १, ७, २१।

इसी प्रकार मानस में भी राम से अकस्मात् प्रभावित होने पर परशुराम उनकी स्तुति करते हैं और उनसे क्षमा मांगते हैं (१, २८५, १-४), परन्तु यहाँ पर जामदग्नि की स्तुति दार्शनिक नहीं है। इसके पश्चात् यह ब्राह्मण पश्चाताप करने के लिए वन को चले जाते हैं। उनके चले जाने पर मूढ़ राजा भी चले जाते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि मानस में जामदग्नि अपनी पूर्वभूत विष्णुभक्ति की अथवा विष्णु के प्रताप की कोई चर्चा नहीं करते।

वाल्मीकि रामायण में राम को द्वन्द्व युद्ध के लिये उत्तेजित करने से पूर्व जामदग्नि उनसे विष्णु के धनुष को तानने के लिए कहते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि जामदग्नि की शक्ति कम हो जाती है और वे राम के वश में हो जाते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण के उपसंहार को अधिक प्रिय माना। पर मानस में परशुराम को राम की उदार वाणी से राम की दिव्यता के विषय में तो पहिले से ही विश्वास हो जाता है और केवल दृढ़ निश्चय के लिए ही और मानो आत्म-संतोष के लिये वे राम से विष्णु के धनुष को खींचने को कहते हैं।

यह तो मानना पड़ेगा कि इस प्रकार का उपसंहार कृत्रिम ही है। तुलसी ने इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई कारण नहीं बताया और इतना ही कहा है कि "उनकी बुद्धि के पर्दे खुल गये"। नाटकों के समान, मानस में भी दशरथपुत्रों तथा परशुराम के कलह का सामान्य परिणाम वस्तुत: द्वन्द्व युद्ध होना चाहिए था। अध्यात्म रामायण से लिए गए इस प्रसंग में विकराल ब्राह्मण के अप्रत्याशित परिवर्तन और राम की स्तुति से परशुराम के अहंकार पूर्ण इंगितों को भुलाकर उनके उदात्त चरित से सहानुभूति नहीं हो सकती। द्वन्द्व युद्ध को यहाँ पर बचाया गया है और इसका कारण स्पष्ट ही है। तुलसीदास के लिए राम तथा एक ब्राह्मण के बीच द्वन्द्व युद्ध निषिध्य है, इसी प्रकार इन दोनों के बीच तीव्र वादविवाद भी तुलसीदास को गर्हणीय लगा होगा। तभी तो मानस में लक्ष्मण को जामदग्नि से टक्कर लेते चित्रित किया गया है, राम उन दोनों के बीच केवल सन्धिकर्ता के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

परशुराम में यह परिवर्तन होना तुलसीदास की दृष्टि में अत्यन्त महत्व का विषय है क्योंकि परशुराम मानवीय स्तर पर राम के शत्रु तथा धार्मिक स्तर पर शिव के भक्त हैं और इसीलिए प्रतीकार चाहते हैं। द्रष्टव्य बात यह है कि इस कथानक में तुलसीदास ने कुछ पुराणों, विशेषकर भागवत पुराण,[1] द्वारा स्वीकृत परशुराम के विष्णु का अवतार हाने के विषय में तनिक भी संकेत नहीं किया। यद्यपि मानस में वर्णित परशुराम के कथानक के असंभावनीय होने के कारण कुछ दोष दिखाई देता है और यद्यपि ब्राह्मण योधा का चित्रण संगत नहीं है तथापि हमारे कवि का ध्येय स्पष्ट है। परशुराम के परिवर्तन से शिव-भक्ति तथा राम-भक्ति की पूर्वस्थित एकता अभिव्यक्त होती है, अन्तिम स्तुति में, परशुराम यह भी मानते हैं कि उनके गुरु शिव रामभक्त हैं, क्योंकि वे कहते है—

जय महेस मन मानस हंसा।।[2]

---

[1] मानस में परशुराम-अवतार का संकेत लंकाकांड (११०, ४) में हुआ है, दे० अध्याय ११ पृ० २६०, पादटिप्पणी १।

[2] रा. च. मा. १, २८५, ३।

५—राम तथा सीता का विवाह—

बालकाण्ड के अन्तिम ७५ पद्यों में मिथिला में राम और सीता के विवाह से सम्बन्धित मंगल कर्मों और आनन्दोत्सव तथा नव दम्पती के अयोध्या वापस आने का वर्णन है।

यह लम्बा कथानक परशुराम की कथा से शृङ्खलाबद्ध है, छन्दोरचना भी नितान्त वैसी ही है परन्तु परशुरामकथा तथा इस कथानक का संक्रामक २८६वाँ पद्य एक अपवाद है क्योंकि इसमें एक हरिगीतिका छन्द होना चाहिये पर है नहीं।

वाल्मीकि रामायण में, राम तथा सीता के विवाह का प्रसंग धनुष के भंग होने के तुरन्त पश्चात् आता है और केवल ५ सर्गों (१, ६८-७३) में वर्णित है। अध्यात्म रामायण में, वाल्मीकि रामायण का संक्षेप है (१, ६, ६१-६६)। पर इसके विरुद्ध, तुलसी में यह वर्णन कई स्थलों में भिन्न है। जहाँ वाल्मीकि के पाँच सर्गों में से दो में वंशावलियाँ ही दी हैं, वहाँ मानस में उनका उल्लेख संक्षेप से हुआ है और विवाह की तय्यारियों तथा संस्कार को बहुत महत्व दिया गया है।

विवाह की तैय्यारियाँ

मिथिला तथा अयोध्या की सजावट, बरात की तय्यारी, दशरथ की मिथिला यात्रा, मिथिला से उन्हें मिलने के लिये लोगों के जलूस का वर्णन, जनक द्वारा अतिथियों के लिये सुरक्षित निवासस्थानों का सौन्दर्य, राजा दशरथ की अपने दोनों पुत्रों से भेंट,—यह सब मानस में विस्तार से लिखा गया है। इन सब विषयों का वाल्मीकि रामायण में या तो वर्णन ही नहीं है या नहीं के बराबर वर्णन है।

तुलसी ने सीता व राम के विवाह के लिये सोने चाँदी के सामान से नगर को सजाने वाले मिथिला के कारीगरों के चमत्कारों का बहुत ही सूक्ष्म वर्णन किया है। इसी प्रकार राम के विवाह की सूचना सुनकर अयोध्यानिवासियों के घरों की शोभा का और राजमहल को खूब सजाने का वर्णन किया है।

वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में, जनक द्वारा भेजे गये दूत दशरथ को मिथिला में हुई सारी घटनाओं की सूचना देते हैं। पर मानस में इस सूचना से उत्पन्न आवृत्ति को बड़ी निपुणता से निकाल दिया गया है। मानस में जनक के दूत दशरथ को एक सन्देश देते हैं, जिसे पढ़ते २ राजा दशरथ के नेत्र आनन्दाश्रुओं से पूर्ण हो जाते हैं और वे दूतों से अपने बच्चों की कुशल पूछते हैं। पारिवारिक माधुर्य के चित्रण में तुलसीदास की प्रवीणता इस सारे ही प्रसंग से विलक्षित होती है। दूसरा मौलिक प्रसङ्ग मिथिला जाने वाली बरात की तय्यारियों का तथा उसके प्रस्थान का है। बरात का चित्रण विशेषताओं की ऐसी सूक्ष्मता से और प्रभावात्मक पद्धति में हुआ है कि मुग़ल समय के चित्रकारों की कला स्मरण हो आती है। नगर में बरात के प्रवेश की सूचना पाकर, अपनी शक्ति का परिचय देती हुई सीता मन में उन सारी "सिद्धियों" की कल्पना करती हैं जो दशरथ तथा उनके अनुयायियों के भव्य स्वागत की तय्यारी कर रही थीं। राम के सिवा अन्य कोई भी इस चमत्कार से अवगत नहीं—

सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदयँ हेतु पहिचानी॥[१]

---

[१] रा. च. मा. १, ३०७, २।

राम व सीता का विवाहसंस्कार

बालकाण्ड के ३११ वें और ३३६ वें छन्दों के बीच यद्यपि नियमित रूप से हरिगीतिका छन्द तथा अन्तिम सोरठा विद्यमान है तथापि ऐसे छन्द आ गये हैं जिनमें (३१५-३२७) से सब में ही अन्तिम चौपाई व अन्तिम दोहे के मध्यगत एक या अनेक हरिगीतिका छन्द हैं। इस प्रकार से रचित पद्यों में राम व सीता के विवाह के संस्कार का वर्णन है।

यह छन्दोव्यवस्था इस ही काण्ड में वर्णित शिव-पार्वती विवाह (१. ९४-१०३) की व्यवस्था के सर्वथा समान है। रचना की इस एकता से दोनों प्रसङ्गों की समानता की और भी अधिक पुष्टि होती है। बालकाण्ड के अन्तिम भाग में राम-सीता-विवाह, प्रथम भाग के शिव-पार्वती-विवाह का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त दोनों विवाहों में कई विशेषतायें भी एक समान हैं, दोनों में से कोई भी बहुत मौलिक नहीं—स्पष्ट है कि देवताओं के सभी विवाह एक दूसरे के सदृश होते हैं। और प्रथम विवाह के वर्णन के समान राम-सीता विवाह में भी कुमारसम्भव तथा शिवपुराण का प्रभाव दिखाई देता है।

राम व शिव, दोनों का विवाह एक शुभ दिन होता है। ब्रह्मा ने स्वयं यह दिन निश्चित किया था और आश्चर्य की बात है कि जनक के ज्योतिषियों ने भी वही गणना कर रखी थी। इस अवसर पर मिथिला के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर देवताओं के आश्चर्य का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है। और यह सारा ही वर्णन मर्यादित अलौकिकता से पूर्ण है—

होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं॥[1]

इस कथानक की शैली में कुछ आलंकारिकता का पुट है। यद्यपि राम के सौन्दर्य का दो बार वर्णन किया गया है पर सीता के सौन्दर्य को यहाँ पर भी बहुत संक्षेप से दिया गया है।

वाल्मीकि रामायण में, जनक ने सीता राम को और उर्मिला लक्ष्मण को प्रदान की (१, ७१, २०-२१)। फिर अपने भाई कुशध्वज की पुत्रियों, माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति को भरत तथा शत्रुघ्न को प्रदान किया (१, ७२)। पर राम के भाइयों के साथ उर्मिला, माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति इन तीन राजकुमारियों के विवाह का तुलसी ने संक्षेप से उल्लेख किया है (रा. च. मा. १, ३२५, छन्द २-४)।

मिथिला से विदा और अयोध्या में वापसी

इस विवाह के कथानक के अन्तिम भाग को मानस में आवश्यकता से अधिक विस्तार दिया गया है—जनक, उनके परिवार व मिथिला निवासियों से दशरथ, राम, सीता व उनके साथियों की विदाई और अयोध्या में वापसी का वर्णन (सम्पूर्ण किष्किन्धा काण्ड से भी अधिक) इकत्तीस पद्यों में दिया गया है। राजा दशरथ तथा जनक की ब्राह्मणों पर उदारता, उनके परस्पर स्नेह तथा आदरभाव, दहेज़ की अमूल्यता, विदाई के उपहारों, चारों राजकुमारियों के प्रस्थान पर मिथिला की रानियों के शोक, व अपनी

---

[1] वही, ३२३ दोहा। दे० कुमारसम्भव ७, ८०।

पुत्री सीता से विदा लेते हुये जनक के वर्णन का मानस में अन्त होते ही नहीं दीखता। तुलसीदास ने कोई भी तो बात नहीं छोड़ी, यहाँ तक कि उन्होंने पालतू पक्षियों से विदा लेते सीता के प्रलाप तक का वर्णन किया है।

अध्यात्म रामायण में, अपने अतिथियों को विदा देने से पहिले, राजा जनक, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र को सीता के अलौकिक जन्म की कथा कह सुनाते हैं। साथ ही सीता की दिव्य प्रकृति और उनके भावी पति राम होंगे, इसको बताने के लिये नारद के आने की कथा भी जनक इन दोनों ऋषियों को सुनाते हैं।

"योगमाया ने तुम्हारे यहाँ सीता के रूप में जन्म लिया, अतः तुम प्रयत्नपूर्वक सीता का पाणिग्रहण राम के साथ ही करना और किसी से नहीं। यह पहिले ही परम प्रभु राम की भार्या हैं।"[1]

नारद के आदेश का पालन करने के लिए जनक ने राम से ही सीता का पाणिग्रहण कराने का प्रयत्न किया, अध्यात्म रामायण के अनुसार धनुर्यज्ञ का यही वास्तविक कारण है। और फिर राम की स्तुति करके जनक अपने भाषण को समाप्त करते हैं (अ. रा. १, ६, ७१ इत्यादि)।

इसी समान मानस में भी, जनक राम के प्रताप की स्तुति करते है—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥

नयन विषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिरहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥[2]

परन्तु मानस में, जनक नारद के मिथिला आने की अथवा सीता के विषय में रहस्य की बातें करने की कोई भी चर्चा नहीं करते। यह अभाव विलक्षण है, क्योंकि अध्यात्म रामायण में स्वीकृत इस प्रसङ्ग का मूलाधार शिव पुराण है और तुलसी ने इस पुराण का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। पार्वती के माता पिता को नारद द्वारा बताया रहस्य, जिसकी चर्चा शिवपुराण में है, मानस

---

[1] अ. रा. १, ६, ६५।
[2] रा. च. मा. १, ३४१, २ दोहा; ३४२, १-३।

के पार्वतीचरित में स्थान पा गया है, और इस चरित में पार्वती को शिव की नित्य "शक्ति" कहा गया है।[1] परन्तु सीता के विषय में नारद की इस बात को तुलसीदास ने स्वीकार नहीं किया। यद्यपि शिव की पत्नी पार्वती के विषय में तुलसी ने "शक्ति" होने के लक्षण को कभी २ स्वीकार किया है किन्तु राम की पत्नी के विषय में स्पष्ट है कि यह भाव उन्हें रुचा नहीं।

अध्यात्म रामायण में जनक को नारद के रहस्य उद्घाटित किये जाने से यह प्रतीत होता है कि धनुर्यज्ञ एक व्याजमात्र था और वस्तुतः जनक को राम की अनन्त शक्ति में कोई सन्देह ही नहीं था। आरम्भ से ही उनकी इच्छा थी कि सीता का पाणिग्रहण राम से ही हो और उन्होंने इस धनुष-परीक्षा का विचार अन्य राजाओं को हतोत्साह करने के लिए किया। इस प्रकार के "व्याजों" का प्रयोग अध्यात्म रामायण में निरन्तर होता है। इसके विरुद्ध, तुलसीदास के लिए, धनुर्यज्ञ एक ऐसी वास्तविक परीक्षा है जिसके कारण हृदय, आशा तथा भय से पूर्ण होते हैं। मानस के इस भाग में अध्यात्म रामायण के रहस्यवाद का भी कोई चिह्न नहीं मिलता।

दशरथ तथा उनके अनुयायियों के प्रस्थान का और नव दम्पती की अयोध्या में वापसी का सूक्ष्म वर्णन भी व्यौरेवार दिया है। राम का अयोध्या लौटना वर्षा ऋतु के तुल्य बताया गया है जब कि प्रकृति उल्लास पूर्ण हो जाती है (१, ३४७, १-३)। उसके पश्चात् हमें बताया गया है कि अयोध्या की रानियों ने संध्या समय राजकुमारों तथा उनकी नव विवाहिता स्त्रियों का बड़े स्नेह से अभिनन्दन किया। दशरथ ने वशिष्ठ का अपूर्व आदर किया और ब्राह्मणों व उनके साथियों के प्रति उदारता का प्रदर्शन किया। तदुपरान्त तुलसी ने राम के शयन का वर्णन किया है—उनकी माता ने उन्हें स्वयं लिटाया क्योंकि वे अभी बच्चे ही हैं।

विवाह के पश्चात् कई दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया गया। यहाँ तुलसीदास ने विश्वामित्र-चरित का संक्षेप से उल्लेख किया है यद्यपि वाल्मीकि रामायण में इसका वर्णन कई सर्गों (१, ५१-६५) में हुआ है।

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ट बिपुल बिधि बरनी।[2]

थोड़ा आगे चलकर, विश्वामित्र के अयोध्या से चले जाने के बाद, वामदेव फिर (बहुरि) उसी चरित को कहते हैं (१, ३६१, १)। इस आवृत्ति का कारण क्या है यह समझ में नहीं आता।

विश्वामित्र के प्रस्थान पर, दशरथ और उनके पुत्रों का जीवन अयोध्या में सुख से बीतता है। प्रयत्न के साहस के लिए क्षमा माँग कर और इस कथा के मंगलमय मूल्य को रेखाङ्कित करके तुलसीदास ने इस लम्बी कथा का उपसंहार किया है—

प्रभु बिबाहँ जसु भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥
कबिकुल जीवनु पावन जानी। राम सीय जसु मंगल खानी॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥

---

[1] दे० अध्याय २ पृ० ५६।

[2] रा. च. मा. १, ३५९, ३।

निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसीं कह्यो।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कबि कौनें लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुखु पावहीं ॥

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ॥[1]

मानस के बालकाण्ड के अन्त में इस "फल-स्तुति" का संबन्ध संपूर्ण काण्ड से नहीं अपितु उसके केवल तीसरे भाग अर्थात् राम व सीता के विवाह की कथा से है। अपने विषय के कारण यह फलस्तुति अन्य काण्डों के अन्त में विद्यमान फलस्तुतियों से भिन्न है। अन्य काण्डों के समान, यहाँ पर भक्ति नहीं बल्कि सुख तथा कल्याण ही पाठक को प्राप्य हैं क्योंकि "राम का यश मंगल का धाम है" (मंगलायतन राम जसु)। बालकाण्ड के इस उपसंहार में राम की उपासना करने का उपदेश भी नहीं दिया गया है। इस अभाव का आभास शीघ्र ही हो गया होगा, क्योंकि रामचरितमानस की प्राचीनतम हस्तलिपियों में से (काशी की) एक हस्तलिपि में इस उपसंहार के पश्चात् अभाव के पूरणार्थ एक छन्द व सोरठा दिया गया है।[2]

"(छन्द) हिमालय की पुत्री के स्वामी (शिव) धन्य हैं जिनसे मैंने यह कथा ग्रहण की। हरि के गुणों का गान सुननेवाले सदैव एक नवीन स्नेह तथा अनुपम सिद्धि को प्राप्त करते हैं। रघुवीर के प्रति स्नेहजल लोभाग्नि को शीघ्र ही शान्त कर देता है। ऐसा जानकर तुलसी ने अपने सम्पूर्ण हृदय के बल तथा अपनी शक्ति के अनुसार हरि के गुणों का वर्णन किया है।

बुरा समय है और मन दोषी है और इसका कोई उपचार नहीं—केवल वही बुद्धिमान है जो श्रद्धासहित हरि का नाम लेता है। अपने मन को हरि के चरणों में लगाओ तथा कपट को छोड़ो, तुम मोह की रात्रि में सोते हो, जागो, अभी समय है।"

इस प्रक्षेपक का विषय विलक्षण है। मानस के बालकाण्ड में इस प्रकार का उपसंहार करना इसलिये अभीष्ट था कि वह सम्पूर्ण ग्रन्थ के अनुरूप हो सकता। यहाँ पर शिव से कथा को लिया बताया है यद्यपि बालकाण्ड के इस अन्तिम भाग में उनको कथा के प्रणेता का यह पद प्राप्त नहीं, क्योंकि यहाँ तो तुलसीदास ने स्वयं राम व सीता के विवाह का वर्णन किया है।

६—बालकाण्ड का राम-सीता-विवाह तथा जानकी-मंगल—

बालकाण्ड के अन्तिम (३६१ वें) छन्द में राम व सीता के विवाह को "मंगल" कहा है—

"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुखु पावहीं ॥"

---

[1] वही १, ३६१, ३-४ छन्द व सोरठा।

[2] मानसाङ्क में यह सन्दर्भ नहीं है। भट्ट तथा तुलसीग्रन्थावली में इसे प्रक्षिप्त बताया गया है। ग्राउज़ ने इसे अपने अनुवाद में दिया है (पृ० २०९)।

"मंगल" ऐसा शुभगान है जो किन्हीं संस्कारों के, विशेषकर विवाह के, अवसर पर गाया जाता है। अतः तुलसी यहाँ पर स्पष्ट कर देते हैं कि इस कविता का प्रयोग कैसे करना चाहिये। उनका कहना है—

"जो लोग यज्ञोपवीत और विवाह के मंगलमय उत्सवों पर इसको आदर के साथ सुनकर गावेंगे . . . ."।

परन्तु अधिकतर व्याख्याकारों (तथा उनका अनुकरण करनेवाले ग्राउज़) ने इसका अर्थ निम्नलिखित किया है—

"जो लोग राम के यज्ञोपवीत और विवाह के मंगलमय उत्सव का वर्णन आदर से सुनकर गावेंगे . . . . . .।"

परन्तु यह अर्थ स्वीकार्य नहीं, क्योंकि मानस के बालकाण्ड में राम के उपनयन का वर्णन नहीं किया गया, उसका केवल उल्लेख हुआ है—

"ज्यों ही सब भाई कुमारावस्था में हुये, त्यों ही गुरु, पिता और माता ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार करा दिया।"[१]

हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि 'जानकीमंगल' की तुलना करने से होती है। यह तुलसीदास की एक गौण रचना है और उसका विषय भी बालकाण्ड के इस प्रसङ्ग के समान "राम सीता का विवाह" अर्थात् धनुष परीक्षा, सीता का स्वयंवर, तथा राम व सीता का विवाह ही है। फिर, 'जानकी-मंगल' का उपसंहार भी बालकाण्ड के लगभग सदृश है—

उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगलु गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिनु पावहीं॥ (२१६)

"जो यज्ञोपवीत और विवाह आदि के उत्सवों में राम-जानकी मंगल को गाते हैं, तुलसीदास कहते हैं, कि वे सभी स्त्री पुरुष अपने आने वाले दिनों में कल्याण के भागी होते हैं।"[२]

यदि बालकाण्ड का रामसीताविवाह, 'जानकी मंगल' के समान एक मंगल ही है, तो इसका अभिप्राय यह है कि तुलसी ने एक ही विषय पर दो मंगलों की रचना की। और दोनों ही में बहुत कुछ समानता है। इनमें भावाभिव्यक्ति के एक समान साधनों तथा उपमाओं को देखकर इनके निकट सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सब प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि इनमें से कोई एक, दूसरे का आधार रहा होगा। अब प्रश्न यह है कि मानस के राम-सीता-विवाह का आधार 'जानकी मगल' था अथवा वह 'जानकी मंगल' का आधार था।

---

[१] रा. च. मा. १, २०४, २।
[२] दे० सद्गुरुशरण अवस्थी, तुलसी के चार दल, द्वितीय भाग, पृ० २६२।

'जानकी मंगल' का रचनाकाल नहीं दिया गया है। भाषा तथा छन्दोव्यवस्था के कारण यह 'पार्वती मंगल' से बहुत कुछ मिलता जुलता है और पार्वती मंगल को जय वर्ष तदनुसार सम्वत् १६४३ (१५८६ ई.) में रचा माना जाता है।[1] इसी आधार पर सद्‌गुरुशरण अवस्थी, श्याम सुन्दर दास से सहमत हैं कि 'जानकी मंगल' की रचना भी उसी सम्वत् में हुई होगी।[2] परिणामस्वरूप 'जानकी मंगल', १६३१ सम्वत् (१५७४ ई.) में स्थित रामचरितमानस के बारह वर्ष बाद की रचना हुई।

इस के विरुद्ध, डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'जानकी मंगल'को मानस के राम-सीता-विवाह का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है।[3] एक ओर तो 'जानकी मंगल' से, और दूसरी ओर संवत् १६२१ (१५६४ ई.) में रचित तुलसी की दूसरी गौण रचना 'रामाज्ञाप्रश्न' से, मानस के राम-सीता-विवाह की तुलना पर उनका तर्क आश्रित है। उन्होंने सिद्ध किया है कि निम्नलिखित दृष्टिबिन्दुओं में 'जानकी मंगल', मानस से भिन्न पर 'रामाज्ञाप्रश्न' के समान है—

१—स्वयंवर से पहले राम व सीता का साक्षात्कार नहीं होता।

२—परशुराम की राम से भेंट लौटते समय मार्ग में होती है।

३—लक्ष्मण तथा परशुराम में कोई कलह नहीं होता।

४—दूतों के द्वारा नहीं, पर अपने पुरोहित शतानन्द के द्वारा राजा जनक दशरथ को राम व सीता के विवाह में आमंत्रित करते हैं।

(वाल्मीकि की कथा का समीप से अनुकरण करने वाले) 'रामाज्ञाप्रश्न' में नाटकों का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु 'जानकी-मंगल' में यह प्रभाव विद्यमान है,—उदाहरणत: 'जानकी मंगल' में, जनक के भाट सीता के विवाह की शर्तों की घोषणा करते है तथा जब राम, शिव के धनुष को तानने के लिये उद्यत होते हैं तो लक्ष्मण दिक्पालों को स्थिर रहने की चेतावनी देते हैं।

डा० गुप्त द्वारा दिये गए दोनों उदाहरणों का कारण हनुमन्नाटक का अनुकरण हो सकता है। यद्यपि तुलसीदास ने मानस में प्रसन्नराघव का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है तथापि 'जानकी-मंगल' में इस नाटक के किंचिन्मात्र प्रभाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उद्यान के महत्वपूर्ण दृश्य का भाव तुलसीदास ने प्रसन्नराघव से लिया है पर यह दृश्य 'जानकी मंगल' में नहीं है।

इस सब के आधार पर डा० मा० प्र० गुप्त ने निष्कर्ष निकाला है कि तिथिक्रम की दृष्टि से 'जानकी मंगल' को संवत् १६२१ व १६३१ के बीच में रखना चाहिये। उनके अनुसार उसकी रचना संवत् १६२७ (१५७० ई.) में, अर्थात् मानस से चार साल पूर्व मानी जानी चाहिए।

---

[1] दे० अध्याय २ पृ० ५३ इत्यादि।

[2] श्याम सुन्दर दास, गोस्वामी तुलसीदास, पृ०८४-८७; सद्‌गुरुशरण अवस्थी, तुलसी के चार दल भाग १, पृ० २३१।

[3] मा. प्र. गुप्त—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २२४ इत्यादि। इसी समान, रा. न. त्रिपाठी (१, ४०३) ने जानकी मंगल का रचनाकाल संवत् १६२४ माना है।

यह तर्कपरिपाटी पर्याप्त मात्रा में सन्तोषप्रजनक है। बहुत संभव है कि 'जानकी मंगल' ही, मानस के राम-सीता-विवाह का आदर्श था, और इसके अन्यथा निष्कर्ष की संभावना नहीं। यहाँ तक कि 'जानकी मंगल' का उपसंहार मानस के बालकाण्ड में स्थान पा गया है जिससे उसका उपसंहार भी "मंगल" युक्त हो गया है। 'जानकी मंगल' की अपेक्षा मानस के रामसीताविवाह के पूर्ववर्ती होने के पक्ष में केवल एक तर्क यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल' से बहुत मिलता जुलता है और पार्वती-मंगल की रचना संवत् १६४३ में हुई थी। परन्तु जैसा हम ऊपर देख आये हैं, इस तिथि के निर्धारण में भी कठिनाइयाँ हैं।[1] दोनों मंगलो की रचना में यदि बहुत कालान्तर माना जाय तो भी जानकीमंगल के पूर्ववर्ती होने से ही मानस के बालकाण्ड के अंतिम भाग की रचना और उसके उपसंहार का संतोषप्रजनक विशदीकरण हो सकता है।

७. रामचरितमानस में राम की युवावस्था—

राम की युवावस्था तथा सीता से उनके विवाह से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन मानस में बहुत ही प्रवाहात्मक तथा रोचक ढंग से हुआ है। इन घटनाओं ने कवि को अपनी वर्णनशक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर दिया है; साथ ही इन से रामचरित में एक महान् अभाव की पूर्ति हो जाती है—भारतीयों के लिये यह अभाव अधिक उल्लेखनीय हो जाता क्योंकि कालिदास के कुमारसम्भव में और पौराणिक साहित्य में शिवपार्वती के विवाह का तथा भागवतपुराण के सम्पूर्ण दशम स्कन्ध में कृष्ण के शैशव तथा युवावस्था का वर्णन है। निश्चय ही, 'जानकी मगल' की रचना, रामकथा में शिवपार्वती की कथा की छाया देने के प्रथम प्रयास की सूचक है। और रामचरितमानस के बालकाण्ड में इसी प्रयास को बनाये रखा गया है। यहाँ पर तुलसीदास ने भागवत तथा शिवपुराण का स्वतंत्रता से उपयोग किया है। यही कारण है कि कविता के इस भाग में सीता को लक्ष्मी से अभिन्न बताया गया है और उन्हें 'जगज्जननी' कहा गया है यद्यपि यह अंतिम विशेषण शिव की पत्नी पार्वती के लिये प्राय: प्रयुक्त होता है। सीता की यह "दिव्यता" विवाह के वर्णन में विशेष स्पष्ट है, जहाँ शिवपुराण का प्रभाव भी अधिक है।

हम देख आए हैं कि बालकाण्ड के प्रथम भाग में 'पार्वतीचरित' एक मंगल है। इस प्रकार इस काण्ड में दो "मंगलों" की रचना हुई, एक 'पार्वतीमंगल' और दूसरा 'सीतामंगल' और यह अंतिम मंगल, पहले मंगल से लिये गये कई पुष्पों से अलंकृत है। कम से कम बालकाण्ड को पढ़ते हुये यही भाव जाग्रत होता है। परन्तु तथ्य यह है कि 'रामसीताविवाह' की रचना 'पार्वतीचरित' की रचना से निश्चय ही पूर्व हो चुकी थी। क्योंकि किसी भी पुरातन प्रस्तुतकर्ता का अभाव व हरिगीतिका छन्द की नियमित व्यवस्था उस आर्ष पद्धति के प्रमाण हैं जो बालकाण्ड के अंतिम भाग और अयोध्याकाण्ड में सामीप्य स्थापित करते हैं। इसके विरुद्ध, 'शिवचरित' और अतएव 'पार्वती चरित' को सम्पूर्ण कविता से सम्बन्धित करने के लिए, तुलसीदास ने याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के तथाकथित संवाद का आश्रय लिया होगा। दूसरी ओर, यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि तुलसीदास शैव कथा को अपनी कृति में पहले ही समाविष्ट कर चुके होते या प्रयोग ही करने की उनकी इच्छा होती तो बालकाण्ड के 'रामसीताविवाह' की रचना करते

---

[1] दे० अध्याय २, पृ० ५३ इत्यादि।

हुये, वे शैव कथा का पुनः इतनी स्वतन्त्रता से प्रयोग न करते। एक ही काण्ड में इन दो मंगलों की सहावस्थिति रचना का एक भारी दोष है और इस का बचाव कवि के फेर बदल करने की इच्छा के द्वारा किया जा सकता है—'शिवपार्वतीचरित' बाद में जोड़ा गया और इससे सम्पूर्ण काण्ड के सामंजस्य को हानि पहुंची—इस प्रकार रामचरितमानस का बालकाण्ड, सम्पूर्ण कविता के विस्तार से अनुपातातीत हो गया और राम व सीता के प्रेम की कथा को वह महत्व न मिल सका जो उसे मिलना चाहिए था।

डा० मा. प्र. गुप्त के अनुसार,[1] बालकाण्ड का यह तीसरा भाग (२०१ से ३६१ वें पद्य तक), व अयोध्याकाण्ड, रामचरितमानस का आदिम रूप था—यहाँ पर कवि ने कथा का वर्णन करने के लिये किसी पुरातन पात्र की कल्पना नहीं की थी। परन्तु इस परिकल्पना में भी कई कठिनाइयाँ हैं क्योंकि बालकाण्ड के २०१ वें पद्य में राम के शैशव की एक घटना का वर्णन है और वह कथा का प्रारम्भिक स्थान हो यह कठिन है। मानस के इस आदिम स्वरूप के प्रश्न की विवेचना आगे की जायगी।[2]

बालकाण्ड की पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः" —अर्थात् 'कलियुग के सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाले श्रीरामचरितमानस का यह पहला सोपान समाप्त हुआ।'

आमुख के द्वितीय भाग में तुलसी द्वारा वर्णित कथा की तुलना मानसरोवर से हुई है जिसमें सात काण्ड ही सात सोपान हैं (१. ३७, १)। परन्तु आमुख का यह दूसरा भाग, जैसा कि हम देख आए हैं, उत्तरकाण्ड[3] के पश्चात् रचा गया होगा। ग्रियर्सन[4] का अनुमान है कि मानस के प्रथम दो काण्डों की पुष्पिकाएं अंतिम पांच काण्डों की पुष्पिकाओं के आधार पर पुनः रची गई होंगी।

[1] गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २६४-२६६।
[2] दे० अध्याय ७, पृ० १७०-१७३!
[3] दे० अध्याय १, पृ० २५।
[4] दे० अध्याय ७, पृ० १६३-१६४।

अध्याय—७

रामचरितमानस का अयोध्याकाण्ड

बालकाण्ड की अपेक्षा अयोध्याकाण्ड कम लम्बा है। इस में ३२६ पद्य हैं। मिथिला में विवाह के पश्चात् राम व सीता के अयोध्या लौटने से लेकर, वन में राम के साथ भेंट करके भरत के अयोध्या में वापस आने तक की घटनाओं का वर्णन इस काण्ड में है। इस के विस्तार के अतिरिक्त, इस का साहित्यिक महत्व, सम्पूर्ण भारत में इस की लोकप्रियता तथा आदर, और धर्म व सामान्य नीति संबन्धी उपदेशों की उच्चकोटिता, इस काण्ड की विशेषताएँ हैं।

सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड में कथा का प्रस्तुतकर्ता स्वयं कवि ही है और शिव, याज्ञवल्क्य या भुशुण्डि में से कोई भी प्रस्तुतकर्ता के रूप में इस काण्ड में नहीं आता। यह विलक्षणता इस काण्ड में तथा बालकाण्ड के अन्तिम भाग में एक समान है।

छन्दोव्यवस्था की नियमितता के कारण भी यह काण्ड अन्य काण्डों से भिन्न है। इस सम्पूर्ण काण्ड के पद्य (बहुत ही कम अपवादों को छोड़कर) नियमित हैं। प्रत्येक पद्य में चार चौपाइयाँ हैं और फिर एक दोहा (कुल दस अर्धालियाँ)। प्रत्येक २५ वें पद्य पर एक हरिगीतिका छन्द भी है जिसमें "तुलसी" नाम से कवि का निर्देश होता है। छन्द के प्रथम चरण में पूर्ववर्ती चौपाई के अन्तिम पाद के शब्दों की आवृत्ति होती है। जैसे २५ वें पद्य में—

> जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी॥
> केहि हेतु रानि रिसानि . . . .

इस छन्द के पश्चात् दोहे के स्थान पर सदैव सोरठा आता है। परन्तु इस नियमितता का एक अपवाद है। १२५ वें पद्य में जहाँ हरिगीतिका छन्द होना चाहिए था वहाँ छन्द नहीं है, और इसके विरुद्ध, १२६ वें पद्य में छन्द है। यह छन्दोव्यवस्था बालकाण्ड के अन्तिम भाग की सी है।

बालकाण्ड की अपेक्षा अयोध्याकाण्ड अधिक सुगठित है। इसमें रामकथा के बाह्यस्थ उपाख्यान अथवा विस्तृत अप्रासंगिक कथानक न होने से प्रतीत होता है कि इसकी रचना अविछिन्न रूप से एक बार में ही हुई।

इस काण्ड को विस्तार की दृष्टि से दो समान भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहिले भाग में आरम्भ से लेकर दशरथ की मृत्यु तक (पद्य १५७) और दूसरे में दशरथ की मृत्यु के पश्चात्

भरत के अयोध्या आगमन से लेकर बन में राम के साथ भेंट करके अयोध्या में वापसी और नन्दीग्राम में व्रतपालन तक (पद्य ३२१) की कथा वर्णित है।

१—अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्ध (२, १–१५७)

कथा का सारांश

अपनी वृद्धावस्था के विचार से, अयोध्यापति दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज पद पर नियुक्त करना चाहते हैं और उनके गुरु वशिष्ठ भी उनके इस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं। इससे अयोध्यानिवासी तथा तीनों रानियाँ भी आनन्दित होती हैं। अभिषेक का दिन निश्चित हो गया और उस उत्सव को मनाने के लिए सब ने तय्यारियाँ आरम्भ कर दीं, तब दशरथ ने राम को यह सूचना सुनाने के लिए वशिष्ठ मुनि को उनके पास भेजा (१-१०)।

इस बीच में, जब भरत अयोध्या में नहीं थे तो देवताओं ने अपनी सुरक्षा की चिन्ता कर, सरस्वती को अयोध्या भेजा कि वह राजा की प्रिय रानी, भरत की माता, कैकेयी की दुष्ट तथा मूर्ख कुब्जा परिचारिका मन्थरा के मस्तिष्क में दुर्बुद्धि को जाग्रत करे। मन्थरा कैकेयी को विश्वास दिलाती है कि राम का अभिषेक कैकेयी तथा उसके पुत्र भरत के विरुद्ध रानी कौसल्या की कूटनीति का परिणाम है। अपनी सौत का प्रतीकार करने तथा अपने पुत्र भरत के लिये सिंहासन को सुरक्षित रखने के लिये, कैकेयी राजा से प्राचीन काल में दिए गये वरदान के बदले भरत के अभिषेक की तथा रामको चौदह वर्ष तक वनवास की प्रार्थना करती है। राजा के बहुत आग्रह करने पर भी कैकेयी अपनी प्रार्थना पर स्थिर रहती है। (११-३७)

वनवास की सूचना प्राप्त होने पर राम अपने पिता के वचनों की पूर्ति करने की घोषणा करते हैं और वन को प्रस्थान करने के लिये सन्नद्ध होते हैं। उनकी पत्नी सीता तथा सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण भी उनके साथ जाने का आग्रह करके उनका अनुकरण करते हैं। अपने माता पिता से करुण विदाई के पश्चात्, सीता तथा दोनों राजकुमार जब वन के लिये प्रस्थान करते हैं तो अयोध्या निवासियों की भीड़ भी उनके पीछे हो लेती है। और दशरथ दुःखसन्तप्त रह जाते हैं (३८-८४)।

तमसा नदी के तट पर पहुँचने पर, अपने साथियों को सोता छोड़कर, राजा के सूत सुमंत्र के साथ, राम सीता व लक्ष्मण बहुत दूर निकल आते हैं। गंगा तट पर शृङ्गवेरपुर उनकी वनयात्रा का दूसरा चरण है। यहाँ पर निषादपति गुह उनका स्वागत करता है और जब वे सब सो जाते हैं तो उन दोनों राजकुमारों के भाग्य पर विलाप करता है। गंगा को पार करने से पहिले सुमंत्र राम से अयोध्या लौटने की प्रार्थना करता है पर राम उसकी एक नहीं मानते। तब अकेला ही सुमंत्र अयोध्या को लौट आता है (८५-९९)।

प्रयाग पहुंचकर, राम, सीता व लक्ष्मण पावन त्रिवेणी की पूजा करते हैं और फिर भरद्वाज ऋषि के आश्रम में उनका दर्शन करने जाते हैं। यात्रा करते २ वे वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में पहुँचते हैं जो उन्हें चित्रकूट जाने का आदेश करते हैं तब वे मन्दाकिनी के तट पर पर्णकुटी में अपना निवास बनाते है (१००-१४१)।

इधर दुखी सुमंत्र अयोध्या की ओर अग्रसर होता है और राम के विना लौट आने के विचार से सन्तप्त, अयोध्या में चुप चाप प्रवेश करता है। उसके प्रत्यागमन की सूचना से हलचल

मच जाती है। परन्तु राम को वापस लाने में सुमंत्र की असफलता पर राम का नाम लेते २ दशरथ की मृत्यु हो जाती है। तब गुरु वशिष्ठ उनके शव को सुरक्षित रखते हैं और भरत को बुलाने का सन्देश भेजते हैं (१४२-१५७)।

वन्दना

अयोध्याकाण्ड की वन्दना तीन श्लोकों और एक दोहे में है। पहिले श्लोक में कवि शिव की और अन्य दो श्लोकों में राम की स्तुति करते हुये कहते हैं कि "उनकी शोभा राज्याभिषेक से न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलिन ही हुई।" दोहे में "श्रीगुरु" का उल्लेख करने के बाद कथा का आरम्भ होता है—

> "श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
> बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥"

"श्रीगुरु के चरण कमलों की रज से अपने मनरूपी दर्पण को साफ़ करके मैं रघुनाथ के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जो चारों फलों का देने वाला है।"

अयोध्याकाण्ड की वन्दना बालकाण्ड की वन्दना का संक्षेप है[1], यदि उस वन्दना को इसका विस्तार न माना जाय। दोनों ही स्थानों पर तुलसी ने अपने गुरु के चरण कमलों के रज से अपने मन को पवित्र करने की चर्चा की है; दोनों ही स्थानों पर तुलसी स्वयं ही रामकथा के प्रस्तुतकर्ता के रूप में आते हैं, वे बालकाण्ड में 'राम चरित' और अयोध्याकाण्ड में 'राम के यश' का वर्णन करने की घोषणा करते हैं। परन्तु यह शब्द "जसु" (यश) संपूर्ण मानस में निरन्तर "(यशस्वी) कथा" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः 'रामचरित' तथा 'राम जसु' दोनों पद समानार्थक हैं।

अयोध्याकाण्ड के इस पूर्वार्ध में तीन "अंक" माने जा सकते हैं। पहले अंक का स्थल अयोध्या और विषय वे करुण घटनाएँ हैं जिनका उपसंहार राम के वनगमन में होता है (वा. रा. २, १-४५), दूसरे अंक का स्थल वन है जहाँ से राम सीता व लक्ष्मण चित्रकूट की ओर अग्रसर होते हैं (वा. रा. २, ४६-५६) और तीसरे का स्थल एक बार फिर अयोध्या ही है जहाँ हमें सुमंत्र के लौटने व राजा दशरथ की मृत्यु का वर्णन प्राप्त होता है (वा. रा. २, ५७-६६)।

प्रथम अंक—वनगमन (रा. च. मा. २, १-८४)

जैसे वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण[2] व अध्यात्म रामायण में वैसे ही मानस में भी अयोध्याकाण्ड का आरम्भ उस प्रसंङ्ग से होता है जहाँ विवाह के पश्चात् सीता के साथ राम के अयोध्या लौटने पर वहाँ के सुख का वर्णन है।

---

[1] दे० अध्याय १, पृ० २४-२५।

[2] बंगाली संस्करण में भरत के अपने नाना के घर आने से सम्बन्धित दो सर्ग अधिक दिए हैं; उत्तरपश्चिमी और दक्षिणी संस्करण तथा अध्यात्म रामायण में यह प्रसङ्ग नहीं है।

वाल्मीकि रामायण में (२, १, ४०-४१), वृद्धावस्था के आगमन पर राजा दशरथ अपने जीर्ण शरीर को दिखाकर अपने अमात्यों के समक्ष राम को युवराज पद पर आरूढ़ करने का विचार प्रगट करते हैं। तुलसी ने यह अनुमान किया है कि कानों के पास सफेद बालों को देखकर राजा को यह उपदेश मिला कि उनकी वृद्धावस्था आ रही है (रा. च. मा. २, २-३ दोहा)

वाल्मीकि (२, २-३) के अनुसार, दशरथ ने पहले अपना प्रस्ताव परिषद के सम्मुख रखा, फिर उसकी सूचना वशिष्ठ को दी और उनसे अभिषेक की तय्यारियाँ करने को कहा। पर मानस में कुछ अन्तर है। सब से पहले राजा दशरथ गुरु वशिष्ठ के पास जाकर विनयपूर्वक अपनी गुरुपूजा के सुखद फल का उल्लेख करते हैं, फिर वह अपनी मनोकामना को उनके समक्ष प्रस्तुत करते हैं और गुरु वशिष्ठ से राम का अभिषेक करने की आज्ञा मांगते हैं। इस आज्ञा के प्राप्त होने पर राजा दशरथ पंचों के समक्ष अपने प्रस्ताव को रखते हैं (२, ३-५)। इस से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों के प्रति राम दशरथ व रामकथा के सामान्यतया सभी धार्मिक पात्रों के आदरभाव तथा आज्ञापालन की भावना को प्रकट करने का तुलसीदास कोई भी अवसर नहीं छोड़ते। रामचरितमानस में ब्राह्मणों के प्रति क्षत्रियों का पूजाभाव निरन्तर दृष्टिगोचर होता है, यहाँ तक कि धर्म से असम्बन्धित व राज्यतंत्रों के विषयों तक में यह तथ्य घटित हुआ है। सम्पूर्ण कविता में तुलसीदास के इस "पुरोहितवाद" के कई उदाहरण मिल सकते हैं।

वाल्मीकि (२, १, ३५) के अनुसार दशरथ वशिष्ठ से यह अभिलाषा प्रगट करते हैं कि वह अपने जीते जी (मयि जीवति) राम का अभिषेक देखें। मानस में (२, १ दोहा) अयोध्यानिवासी शिव से अपनी मनोकामना की पूर्ति की प्रार्थना करते हैं। और वह कामना यह है कि राजा अपने जीते जी राम को युवराज पद दे दें (आप अछत जुवराज पद रामहि देउ नरेसु)। यहाँ पर "आप अछत" वाल्मीकि के "मयि जीवति" का स्पष्ट पर्याय है। इस विषय में टेसिटोरी ने ठीक ही कहा है कि मानस में ये शब्द निरर्थक हैं और इनकी सत्ता का कारण यही हो सकता है कि तुलसीदास को वाल्मीकि के शब्दों का स्मरण रहा होगा।[1]

मानस में, दशरथ के निर्णय के पश्चात् राम व सीता को कुछ शुभ शकुन दिखाई देते हैं पर वे दोनों इनका सम्बन्ध भरत के लौट आने से जोड़ते हैं, क्योंकि

रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥[2]

तुलसीदास की इस नवीनता का ध्येय भरत के प्रति राम के स्नेह को रेखाङ्कित करना और एक प्रकार से उत्तरार्ध के करुण दृश्यों की तय्यारी करना है।

वाल्मीकि (२, ३) के अनुसार पहिले दशरथ सुमंत्र से राम को बुलवाते हैं और स्वयं ही उन्हें अपने निर्णय से अवगत कराते हैं; फिर (२, ५) वे गुरु वशिष्ठ को राम के पास भेजते हैं कि अभिषेक के लिए वे अनशन तथा इन्द्रियदमन करें। अध्यात्म रामायण के समान, तुलसीदास भी इन दोनों

---

[1] इं. ऐं., ४२, १९१३, पृ० १।
[2] रा. च. मा. २, ७, ४।

परिस्थितियों को एक में मिला देते है। वशिष्ठ ही राम को अभिषेक की सूचना देते है और एतदर्थ आवश्यक उपदेश भी करते हैं (अ. रा. २, २, १६ इत्यादि; रा. च. मा. २, ९-१०)। तुलसी के लिए, यह भेंट अपने गुरु वशिष्ठ के प्रति राम का आदरभाव प्रकट करने का नवीन अवसर है।

वशिष्ठ के चले जाने के पश्चात्, राम को संकोच होता है—

बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥[१]

स्पष्ट है कि राम में इस प्रकार के संकोच का अभिप्राय, तुलसी की दृष्टि में, अपने नायक की निष्कामता व पाठकों के मन में सम्भावित "दुर्विचारों" अथवा सन्देहों को दूर करना है।[२] परन्तु राम में इस प्रकार का संकोच अस्वाभाविक है क्योंकि राम अपने वंश की परम्परा का उल्लंघन नहीं कर रहे थे क्योंकि इसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज पद का अधिकारी होता है।[३]

वाल्मीकि (२, ७) के अनुसार कुब्जा मन्थरा को राम के प्रस्तावित अभिषेक का ज्ञान होने पर अधिक क्रोध आता है। और वह अपनी स्वामिनी कैकेयी को सूचना देने जाती है। संस्कृत आदिकवि ने मन्थरा के इस व्यवहार का स्पष्टीकरण नहीं दिया—वह केवल अपने कुटिल स्वभाव से अभिभूत हो कर ऐसा आचरण करती है।

इसके विरुद्ध अध्यात्म रामायण में मन्थरा की कुटिलता का कारण देवता हैं—

"इसी समय देवताओं ने सरस्वती से आग्रह किया कि हे देवि, तुम भूलोक में अयोध्यापुरी में जाओ और वहाँ ब्रह्मा की आज्ञा से राम के राज्याभिषेक में विघ्न उपस्थित करने के लिए यत्न करो। प्रथम तो तुम मन्थरा में और फिर कैकेयी में प्रवेश करना। इस प्रकार विघ्न उपस्थित हो जाने पर हे शुभे, तुम फिर स्वर्ग को लौट आना। इस पर सरस्वती ने "बहुत अच्छा" कह कर वैसा ही किया और प्रथम मन्थरा में प्रवेश किया।"[४]

शारदा के कार्य का यह भाव तुलसीदास को पसन्द आया होगा। एक तो उनकी दृष्टि में ऐसी कुटिलता मानव जाति के परे है और फिर मानस में स्वाभाविक दुष्टता का अभाव है, वह दुर्भाग्य का केवल दूसरा नाम है। अतः तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण की उपर्युक्त नवीन युक्ति को अपना लिया और मन्थरा के दोष का कारण देवताओं की ईर्ष्या को बताया है। फिर भी मानस में शारदा ने देवताओं की प्रार्थना को एकदम स्वीकार नहीं किया, देवताओं ने उससे आग्रह किया और—

---

[१] वही, २, १०, ४।

[२] वा. रा. १, ४, २५-२७ में दशरथ ने कहा है कि भरत की अनुपस्थिति राम के अभिषेक का सुअवसर है, भरत गुणी तो है पर क्या पता . . . . . .। वा. रा. में दशरथ के विचारों से यह सम्भावना हो सकती है कि उन्हें भरत की राजनिष्ठा तथा निष्कामता में सन्देह था।

[३] स्वयं कैकेयी मन्थरा को इस परम्परा से अवगत कराती है। अयोध्याकाण्ड १५, २।

[४] अ. रा. २, २, ४४-४६।

सुनि सुर बिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज बिपिन हिमराती ॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी।[1]

सरस्वती को अपने कल्याण के लिए प्रेरित करते देवताओं ने राम को अनन्त परब्रह्म का रूप बताया—

मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी ॥
बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ ॥
जीव करम बस सुख दुख भागी।[2]

उनके इस प्रकार के तर्क से सरस्वती को शक होने लगा। और सरस्वती इन बातों से कुछ अधिक प्रभावित नहीं हुई। उसने अनुमान किया कि राम के वनवास के परिणामस्वरूप कई महत्वपूर्ण घटनायें घटेंगी। वह यह कल्पना करके शान्त हुई कि राम की कथा का गान करने के इच्छुक भावी कवि, उस की भी वन्दना प्रशंसा तथा कामना करेंगे। अन्त में, इच्छा न होने पर भी वह अयोध्या जाती है, पर साथ ही देवताओं की क्षुद्रता के विषयमें उसके विचार बने ही रहते हैं—

चली बिचारि बिबुध मति पोची ॥
ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती ॥[3]

यह अंश विलक्षण है। यद्यपि तुलसीदास ने मन्थरा के दुष्टचरित्र के विशदीकरण के निमित्त अध्यात्मरामायण का आश्रय तो लिया पर वे उदार सरस्वती की ख्याति को दूषित करने में संकोच प्रदर्शित करते हैं; कारण, वे आमुख के पहले ही श्लोकों में सरस्वती की वन्दना कर चुके हैं। अतः ये देवगण ही इस अपराध का कारण हैं क्योंकि वे इतने दुष्ट नहीं जितने मूर्ख हैं।

राम के राजतिलक की बात सुनते ही मन्थरा का हृदय जल उठा (२, १३, १)। निश्चय ही तुलसीदास को इस वाक्य की प्रेरणा वाल्मीकि रामायण (२, ७, १३ व २१) से प्राप्त हुई। वहाँ पर मन्थरा को क्रोध-दग्ध बताया गया है (दह्यमाना कोपेन; दह्यमानानलेनेव)।

तुलसी ने मन्थरा व कैकेयी के संवाद को भी अपनी इच्छानुसार प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि में इस संवाद को अयोध्याकाण्ड के ८ वें व ९ वें सर्ग में दिया गया है। यद्यपि विषय की दृष्टि से राम के राजतिलक से अनिष्ट होने की संभावना के संबन्ध में मन्थरा द्वारा स्वामिनी कैकेयी को दिए तर्क मानस व वाल्मीकि रामायण में एकसमान ही हैं, किन्तु मानस में संवाद को बहुत मौलिक ढग से प्रस्तुत किया है। इसके बाद आने वाला कैकेयी तथा दशरथ के बीच का "कोप भवन" का दृश्य भी इसी प्रकार मौलिक है—यहाँ पर चतुर कैकेयी पति को अपने वश में कर लेती है। तुलसीदास ने इन दोनों ही प्रसंगों की रचना अपूर्व सजीवता से की है।

---

[1] रा. च. मा. २, १२, १।
[2] वही, २, १२, १-२।
[3] रा. च. मा. २, १२, ३।

वस्तुत: हमारे कवि की मौलिकता विषय में नहीं पर उसको प्रस्तुत करने की शैली में है। वाल्मीकि की कथा के आधार पर उन्होंने विशेषताओं में नवीनता ला दी है। विशेषकर दशरथ-कैकेयी संवाद में टेसिटोरी[1] ने कई ऐसे स्थलों का निर्देश किया है जो प्रत्यक्ष वाल्मीकि से लिये गये हैं— उदाहरणत: भूमि पर पड़ी कैकेयी पर राजा दशरथ झुकते हैं और हाथ से उसे छूते हैं (वा. रा. २, १०, २७; रा. च. मा. २, २५, ३); राजा, कैकेयी से अपराधी का नाम पूछते हैं जिसने उसे रुष्ट किया है ताकि वे उसे उचित दण्ड दे सकें, वे अपने आप ही कहते हैं कि मैं और मेरा सारा परिवार तेरे अधीन है (वा. रा. २, १०, ३१ इत्यादि; रा. च. मा. २, २६, १-३); कैकेयी आग्रह करती है कि राजा अपने दिए वचन का पालन करें और उन सब राजाओं का दृष्टान्त देती है जिन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के लिए सर्वस्व त्याग दिया (वा. रा. २, १२, ४३ इत्यादि; रा. च. मा. २, ३०, ४)[2]; अपने दुर्भाग्य से व्याकुल राजा दशरथ प्रार्थना करते हैं कि राम के वनवास जाने के दिन उनके लिये सूर्य का उदय ही न हो (वा. रा. २, १३, १७; रा. च. मा. २, ३७, २)।

वाल्मीकि रामायण (२, १६) में प्रात:काल होते ही राजा दशरथ राम को बुलवाने के लिए सुमंत्र को भेजते हैं। तुरन्त ही राम वेगवान घोड़े पर चढ़ कर अपने पिता के महल में पहुँचते हैं, सारी प्रजा उनका अभिनन्दन करती है और राम को कोई भी शंका नहीं होती है। इसके विरुद्ध अध्यात्म रामायण में सुमंत्र से पिता के सन्देश को ग्रहण कर जब राम शीघ्र ही प्रस्थान करने लगते हैं तो वे चकित रहते हैं;

"सुमंत्र के शब्दों को सुनकर राम चकित से होकर तुरन्त ही रथ पर चढ़कर चले।"[3]

इसी प्रकार मानस में जो भी उस समय राम को देखता है वही चिन्तित हो जाता है—

रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं॥[4]

वाल्मीकि रामायण (२, १९, १ इत्यादि) में अपने वनवास का समाचार सुनकर राम को व्यथा नहीं हुई। पिता की आज्ञा पालन करने के उद्देश्य से वे त्याग के लिए तत्पर हैं, पर अध्यात्म रामायण में इस समाचार पर उन्हें हर्षित बताया है—

"हे राजन्, बन में रहने से तो मुझे राज्य से भी करोड़गुना सुख होगा।"[5]

---

[1] इं. ऐं., ४२ (१९१३) पृ० २, सं० १४, १५, १६, १७। १४वें व १५वें उद्धरण के अनुरूप छाया अध्यात्मरामायण २, ३, ९-१० तथा १२-१३ में मिलती है।

[2] अ. रा. में कैकेयी ने नामों का उल्लेख नहीं किया। वा. रा. में शिबि, अलर्क व सागर का उल्लेख है और मानस में शिबि, दधीचि व बाली का।

[3] अ. रा. २, ३, ४९।

[4] रा. च. मा. २, ३९, ४।

[5] अ. रा. २, ३, ७४।

मानस में राम उत्साह से पूर्ण हैं। वे कहते हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥[१]

राम का सुख इतना असीम है कि उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि यही राजा दशरथ के दुःख का कारण है और वे कैकेयी से सच २ सारी बात कहने का अनुरोध करते हैं।

राम के वनवास की सूचना सुनने पर अयोध्यानिवासियों के दुःख का वर्णन तुलसीदास ने किया है—सभो विलाप करते हैं और कैकेयी को बुरा भला कहते हैं (२, ४६ इत्यादि)। नगरवासियों का इस प्रकार का शोक और अज्ञात जनसमूह का स्वाभाविक वार्तालाप तुलसीदास के वर्णन की विशेषता और उसका सर्वप्रधान आकर्षण है। अयोध्या काण्ड में इस प्रकार के कई सरल वार्तालाप भरे पड़े हैं और वे सब के सब कवि की कल्पना का परिणाम प्रतीत होते हैं।

माननीय बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों का कैकेयी के पास जाकर उसे उपदेश देना भी तुलसीदास का मौलिक आविष्कार है—

बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥
लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बानसम लागहिं ताही॥[२]

यद्यपि यह उपदेश "सुनने में मीठा और परिणाम में हितकर" था किन्तु कैकेयी ने उस पर ज़रा भो ध्यान नहीं दिया और वे महिलायें कैकेयी को अभागिनी कहती हुई वापस लौट आईं।

कौसल्या से राम की भेंट का वर्णन वाल्मीकि रामायण व तुलसीकृत रामचरितमानस में भिन्न प्रकार से हुआ है। वाल्मीकि में, कौसल्या बहुत समय तक राम से बन न जाने का अनुरोध करती हैं और अपने दयनीय भाग्य पर विलाप करती हैं क्योंकि इस वनवास से उनकी सौत कैकेयी की विजय होगी। परन्तु राम कौसल्या को स्मरण कराते हैं कि पिता की आज्ञा का पालन ही सर्वोच्च कर्तव्य है (२, २०-२१)। मानस में कौसल्या यद्यपि दुखी हैं पर कर्तव्य की उच्चता को एक क्षण भर के लिए भी नहीं भूलतीं। अतः वे राम के वनवास को तटस्थ होकर स्वीकार कर लेती हैं और दूसरों के दुःखों के सामने अपने दुःख को भूलकर वे बिना कठिनाई के राम को वनवास की अनुमति प्रदान करती हैं—

तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥
राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥[3]

---

[१] रा. च. मा. २, ४१ दोहा; ४२, १।
[२] रा. च. मा. २, ४९, २।
[3] वही, २, ५५, ४ दोहा।

वाल्मीकि व तुलसी में इस भेद का कारण स्पष्ट है। आदिकवि ने माननीय रानी कौसल्या की दयनीय परिस्थिति का चित्रण किया है, पर तुलसी उनका चरित उदात्त प्रदर्शित करना चाहते हैं। मानस में कैकेयी के प्रति कौसल्या तनिक भी ईर्ष्या नहीं दिखातीं अपितु सदैव उदात्त भावनाओं को ही प्रगट करती हैं।

वाल्मीकि रामायण (२, २६) के अनुसार राम, सीता के निवास में जाकर उन्हें यह दुखद समाचार सुनाते है; तब सीता उनके साथ जाने की आज्ञा माँगती हैं (२७)। परन्तु मानस में यहाँ भी थोड़ा भेद है। (कदाचित् जनसामान्य द्वारा) समाचार पाकर सीता अपनी सास के पास जाती हैं और उस समय राम वहीं होते हैं। वहाँ जाकर वे सिर झुका कर एक कोने में चुपचाप बैठ जाती हैं। कौसल्या अपनी पुत्रवधू के मौन अश्रुओं का अर्थ लगा लेती है और राम से उनकी गुप्त इच्छा का रहस्य उद्घाटित करती हैं; पर राम से सीता को वहीं छोड़ जाने की प्रार्थना करती हैं क्योंकि सीता ही उनका सहारा होंगीं (२, ५७ इत्यादि)।

वाल्मीकि रामायण के समान, मानस में भी सीता को वन में जाने से रोकने के लिये राम आरण्यक जीवन की कठिनाइयों तथा आपत्तियों का अन्धकारमय चित्रण करते हैं। वन में पृथिवी पर सोने का, वल्कल वस्त्र पहिनने का, कन्दमूल खाकर निर्वाह करने का और इनके न मिलने पर अनशन भी करने का, वे बारबार स्मरण कराते है। (वा. रा. २, २८, ११ इत्यादि; रा. च. मा. २, ६२, इत्यादि।[1]

इसी प्रकार दोनों ही ग्रंथों में राम को उत्तर देते हुए सीता कहती हैं कि राम के साथ होने पर कुशा और पत्तों का सुन्दर बिछौना ही सर्वोत्तम रहेगा और कन्दमूल फल ही अमृत के समान आहार होंगे (वा. रा. २, ३०, १४-१५; रा. च. मा. २, ६६, २-३); और वे मार्ग में कभी नहीं थकेंगी (वा. रा. २, ३०, ११; रा. च. मा. २, ६७, १)

यहाँ पर तुलसी ने वाल्मीकि का समीप से अनुकरण किया है यह स्पष्ट ही है, पर उन्होने आदिकवि की चोरी नहीं की। मानस में यह दृश्य काव्यत्व में या करुण-चित्रण में वाल्मीकि के सुप्रसिद्ध वर्णन से कदापि कम नहीं, यहाँ पर सीता न तो तत्परता में और न उत्साह में कम हैं, पर कुछ मात्रा में उनके भावों की कोमलता अधिक ही व्यक्त हुई है क्योंकि संस्कृत रामायण में तो आवेश में आकर राजकुमारी सीता राम का निरादर तक कर बैठी हैं।

"हे राम, जो कुछ मैं सुन रही हूँ वह वास्तव में गर्हणीय है, राजपुत्रों के अयोग्य है; जो कुछ तुम कह रहे हो वह लज्जाजनक है इसको सुनना भी नहीं चाहिए। मेरे पिता वैदेह ने बड़ा अनर्थ किया जो तुम्हें अपना जामाता बनाया क्योंकि पुरुष शरीर ग्रहण करने वाले तुम वस्तुत: स्त्री ही हो।"[2]

यहाँ तक कि यदि राम उन्हें साथ नहीं ले जाएंगे तो सीता विष खाने तक की धमकी देती हैं। परन्तु मानस में सीता कम प्रचण्ड और कम अप्रियवादिनी हैं पर उनमें स्नेह की न्यूनता भी नहीं है—

---

[1] अ. रा. (२, ४, ६४-७०) में यह प्रसंग संक्षिप्त कर दिया गया है। पर रा. च. मा. और वा. रा. की समानता अधिक सन्तोषजनक है।

[2] वा. रा., २, २७, २-३; ३०, ३।

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥
ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥[१]

इसके बाद आनेवाले दृश्य में जहाँ लक्ष्मण भी राम के साथ वन जाने का आग्रह करते हैं तुलसी ने और भी नवीनता ला दी है। संस्कृत रामायण (२, ३१, १०-१७) में लक्ष्मण से राम कहते हैं कि कैकेयी की निर्दयता से कौसल्या व सुमित्रा को बचाने के लिए अयोध्या में ही रहना तुम्हारा कर्तव्य है। उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं कि भरत उनकी रक्षा करेगा और यदि नहीं तो मैं उसे मार डालूंगा। मानस में राम ने दूसरा ही तर्क प्रस्तुत किया है—राज्य को एक रक्षक की आवश्यकता है। पर लक्ष्मण इसका भी मार्मिक उत्तर देते हैं और अपने भाई के धार्मिक उपदेश ग्रहण न करने में अपनी असमर्थता प्रगट करते हैं—

नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥[२]

वाल्मीकि में (२, ४०, ३-९) राम के दशरथ से विदा लेने के पश्चात् सुमित्रा तथा उनके पुत्र लक्ष्मण की भेंट का दृश्य प्रस्तुत किया गया है।[३] पर मानस में, लक्ष्मण और सुमित्रा का वार्तालाप लक्ष्मण और राम के वार्तालाप से शृङ्खलाबद्ध है। लक्ष्मण के हर्ष की सीमा नहीं रहती, पर उन्हें शंका होती है कि माता सुमित्रा उन्हें वन में जाने से रोक न दें पर सुमित्रा को ऐसा करने का विचार तक नहीं आता।

वाल्मीकि रामायण (२, ४०, ९,) में सुमित्रा लक्ष्मण से, राम को पिता समान, सीता को माता समान, व वन को अयोध्या समान, समझने का उपदेश देती हैं। इसी प्रकार मानस में भी सुमित्रा ने लक्ष्मण से कहा है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥[४]

तुलसी के लिये, सुमित्रा राम की सच्ची भक्त हैं और उन्हें हर्ष है कि लक्ष्मण को भी राम के प्रति बहुत स्नेह है—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥[५]

---

[१] रा. च. मा. २, ६७, ४ दोहा।
[२] रा. च. मा. २, ७२, १-२।
[३] अ. रा. में इस दृश्य को दिया ही नहीं है।
[४] रा. च. मा. २, ७४, १-२।
[५] वही, २, ७५, १।

राम सीता व लक्ष्मण के राजा दशरथ से विदा लेने का करुण वर्णन वाल्मीकि रामायण के सात सर्गों में विस्तार से हुआ है (२, ३४-४०)। परन्तु तुलसी ने इस प्रसंग को बहुत संक्षेप से दिया है और उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया है। राम को अपने संकल्प से विचलित करने के लिये दशरथ के बार बार के प्रयास का मानस में संक्षेप से उल्लेख है—

रायँ राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस उत्कृष्ट भेंट के समय सुमित्रा व कौसल्या वहाँ नहीं थीं क्योंकि उनकी कोई चर्चा ही नहीं हुई। वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड के ३९वें सर्ग की छाया, जहाँ कौसल्या सीता को सीख देती हैं और पत्नी के कर्तव्यों का स्मरण कराती हैं, मानस में नहीं है। इसके विरुद्ध, हिन्दी कविता में इस अवसर पर कैकेयी उपस्थित हैं और प्रेक्षकों व दशरथ के विलाप तथा अभ्यर्थनाओं के बीच में आकर, भावी वनवासियों के लिए वल्कल वस्त्र मंगवाती हैं। कैकेयी ही राम से विदा होने के लिए कहती हैं क्योंकि राजा दशरथ में उन्हें विदा करने की सामर्थ्य नहीं। राम कैकेयी के शब्दों को शिरोधार्य करके प्रस्थान करते हैं और उधर दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं (२, ७९ इत्यादि)।

वाल्मीकि रामायण (२, ४०) में प्रस्थान के दृश्य में एक सबल नाटकीय गति है। राम रथ पर आरूढ़ होते हैं, उसे आगे बढ़ाते हैं, पर कौसल्या उनके पीछे भागती हैं और राजा दशरथ व्यर्थ ही उनसे रुकने को कहते हैं। मानस में यह गति सुरक्षित नहीं, पर तुलसीने एक नये प्रसंग को बीच में दिया है जिससे राम की उदारता तथा अपने गुरु और ब्राह्मणों के प्रति उनके आदरभाव का परिचय मिलता है। मानस में, राजा को कैकेयी के पास मूर्च्छित छोड़कर राम पैदल ही वशिष्ठ के पास जाते हैं और मार्ग में दुखी नागरिकों को सान्त्वना देते जाते हैं, ब्राह्मणों को दान देते हैं और परिचारक व परिचारिकाओं को अपने गुरु को सौंपते हैं। तब वे गुरु के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम करके पैदल ही वन को चले जाते हैं और सारी प्रजा विलाप करती रह जाती है (२, ८०-८१)।

द्वितीय अङ्क—राम की यात्रा (२, ८९-१४१)

वाल्मीकि रामायण (२, ४६) के समान, मानस में भी सुमंत्र के साथ राम, सीता व लक्ष्मण की यात्रा का प्रथम चरण तमसा नदी का तट है। अपनी प्रजा को वियोग के दुःख से बचाने के लिए रात में ही सारी प्रजा को सोता छोड़ कर वे तीनों सुमंत्र के रथ पर आरूढ़ होकर दूर चले जाते हैं। प्रातः-काल होने पर अयोध्यानिवासी जब यह जानते हैं कि राम उन्हें छोड़कर चले गये तो वे फिर विलाप करने लगते हैं और राम से रहित अपने जीवन को धिक्कारते हैं (वा. रा. २, ४७, ७; रा. च. मा. २, ८६, २-३)।

तदुपरान्त राम गंगा के तट पर आकर पूजा करते हैं। अपने साथियों को कई कथाएँ सुनाकर उपदेश देते हैं; तब, वे तीनों स्नान करके पवित्र जल का आचमन करते हैं। इस स्थान पर तुलसी ने कुछ विलक्षण विचार अभिव्यक्त किये हैं—

---

[1] रा. च. मा. २, ७८, १।

मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जलु पिअत मुदित मन भयऊ॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू॥

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥[1]

शृङ्गवेरपुरी के समीप गङ्गातट पर यात्रियों का दूसरा चरण था। यह नगरी निषादपति गुह की है। गुह यहाँ प्रथम बार उपस्थित होता है। राम के सहायक तथा मित्र के रूप में गुह का मानस में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है।

पर्णों के साधारण शयन पर जब राम व सीता सोते हैं तो लक्ष्मण व गुह एक साथ पहरा देते हैं। वाल्मीकि में लक्ष्मण को प्रातःकाल होते तक गुह के सम्मुख विलाप करते दिखाया है, वे राम के वनवास से दुखी हैं और इसके दुखद परिणामों की कल्पना करते हैं (२, ५१)। अध्यात्म रामायण में इस विलाप के स्थान पर लक्ष्मण तथा गुह में एक वार्तालाप होता है जिसमें निषादपति, राम के छोटे भाई से, अपने दुःख व राजदम्पती के पृथिवी पर शयन से उत्पन्न क्रोध को बताता है और अपराधी कैकेयी को बुरा भला कहता है—

"भाई, देखते हो जो रघुनाथ अपने भव्य भवन में सुन्दर बिछौने से युक्त सुवर्ण निर्मित पलंग पर लेटते थे वे ही आज सीता के साथ कुश और पत्तों की साथरी पर पड़े हुए हैं। विधाता ने राम के इस दुःख का कारण कैकेयी को बना दिया। मन्थरा की बुद्धि पर विश्वास करके कैकेयी ने यह बड़ा पाप किया"।[2]

इस प्रकार के उपालम्भ व पश्चात्ताप की पुष्टि करने के स्थान पर, लक्ष्मण, गुह को वास्तविकता के समीप लाने का प्रयत्न करते हैं—

"यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा—भाई, मेरी बात सुनो; किसी के दुःख अथवा सुख का कारण दूसरा कोई नहीं है। मनुष्य का पूर्वकृत कर्म ही उसके सुख तथा दुःख का कारण है। कोई अन्य सुख देता है यह समझना कुबुद्धि है। मैं कर्ता हूँ यह वृथा अभिमान है क्योंकि लोग अपने २ कर्म की डोरी में बंधे हैं। यह मनुष्य स्वयं ही पृथक् २ आचरण करके उसके अनुसार मित्र, शत्रु, उदासीन व द्वेष्य और बन्धु इत्यादि की कल्पना कर लेता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्रारब्धानुसार सुख या दुःख जो कुछ भी जैसे २ प्राप्त हो वैसे ही भोगते हुए सदा प्रसन्नचित्त रहे। हमें न तो भोगों की प्राप्ति की इच्छा है और न उन्हें त्यागने की। भोग आय या न आय, हम भोगों के अधीन नहीं हैं। जिस देश अथवा काल में जिस किसी के द्वारा शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है उसे निःसन्देह उसी प्रकार भोगना पड़ता है। अतः शुभ तथा अशुभ कर्म के फल के उदय होने पर हर्ष अथवा दुःख मानना व्यर्थ है क्योंकि विधाता की गति का देवता अथवा दैत्य कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मनुष्य सदा ही दुःख और सुख से घिरा रहता है क्योंकि मनुष्य-शरीर पाप और पुण्य के मेल से उत्पन्न होने के कारण

---

[1] रा. च. मा. २, ८७, ४ दोहा।
[2] अ. रा. २, ६, १-३।

सुखदु:खमय है। सुख के पीछे दु:ख और दु:ख के पीछे सुख आता है। ये दोनों ही दिन और रात्रि के समान जीवों से अनुल्लंघनीय हैं। सुख के भीतर दु:ख और दु:ख के भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है। ये दोनों ही जल और कीचड़ के समान आपस में मिले रहते हैं इसलिए विद्वान लोग "सब कुछ माया ही है इस भावना के कारण इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति में धैर्य रख कर हर्ष अथवा शोक नहीं मानते।

गुह और लक्ष्मण के इस प्रकार बातचीत करते २ आकाश में उजाला होगया।"[1]

इसी समान मानस में भी पृथिवी पर सोये हुए सीता व राम को देखकर गुह अपने दु:ख को लक्ष्मण से प्रगट करता है और लक्ष्मण मानव जीवन के सुख दु:ख को मायावी बताकर गुह को आश्वासन देते हैं—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥
कहत राम गुन भा भिनुसारा। . . . . . . ॥[2]

उपयुक्त दोनों ही वार्तालापों की समानता सुसंवेद्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलसीदास ने यह प्रसंग प्रत्यक्ष अध्यात्मरामायण से लिया। मानस में यह "लक्ष्मण गीता" असाधारण है, क्योंकि

[1] अ. रा. २, ६, ४-१६।
[2] रा. च. मा. २, ९२-९४।

वाल्मीकि-रामायण के समान मानस में भी लक्ष्मण का चरित्र एक उत्तेजस्वी व किंचित् भावुक नवयुवक का है। तुलसी ने उनकी सरलता को और भी अधिक बना दिया है। वन प्रस्थान[1] के समय राम के मना करने पर भी, लक्ष्मण की मार्मिक प्रार्थना इस सरलता का प्रमाण है। अत: यह मानना ही होगा कि इस प्रकार का गम्भीरभाषण सुकुमार तथा आवेगशील लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप नहीं। अधिक अपेक्षा तो यह थी कि निषादपति के साथ वे भी अश्रु बहाकर अपने दु:ख की अभिव्यक्ति करते। पर अध्यात्म रामायण का उदाहरण इस मनोवैज्ञानिक त्रुटि का समाधान है। चाहे सम्भावनीय हो या नहीं, उचित विचारों से भक्त गुह की बुद्धि के भ्रम को दूर करने का काम "प्रभु के स्नेह से पले छोटे बच्चे" पर ही आ पड़ा।

अध्यात्म रामायण तथा मानस में लक्ष्मण ने मूलत: एक ही बात कही, पर मानस की "लक्ष्मण-गीता" अध्यात्म रामायण की सरल प्रतिलिपि नहीं। अध्यात्म रामायण में लक्ष्मण के भाषण में कर्म के प्रसिद्ध सिद्धान्त की व्याख्या की है, इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व जन्म में किये सुकर्म अथवा दुष्कर्मों के अनुरूप ही प्रत्येक जीव को सुख अथवा दु:ख प्राप्त होता है, यह नियम अपरिवर्तनीय है और इसी कारण कोई भी व्यक्ति अपनी विधि से न बच सकता है और न ही उसे इसके विरुद्ध कुछ कहना चाहिए; पर योगी जन इस सब को माया मानने और परम उदासीन होने से धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते। मानस में विधि की अपरिवर्तनीयता को नहीं अपितु इस सिद्धान्त के व्यवहारिक पक्ष को महत्व दिया गया है। यदि दु:ख का सम्बन्ध जीवन से है और जीवनमात्र ही दु:ख है तो समझना चाहिए कि यह जीवन माया है। इस जीवन तथा उसकी सम्पत्ति से विरक्त होने पर ही मानव को सुख का अनुभव होगा। यह तुलसी की विशेषता है कि उन्होंने सृष्टि की सभी वस्तुओं की निरर्थकता का, यहाँ तक कि स्वर्ग तथा नरक तक की व्यर्थता का, बलपूर्वक विवेचन किया है।

जब तुलसी सब लोगों को "मोह रूपी रात्रि में सोने वाला" (मोह निसों सबु सोवनिहारा) कहते हैं तो वे भगवद्गीता के निम्न लिखित प्रसिद्ध श्लोक को ध्वनित करते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

"सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिए जो रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।"[2]

परन्तु गीता के योगी—संसार की रात्रि में जाग्रत पुरुष—तुलसीदास के अनुसार, सुख की देहली पर हैं क्योंकि "विवेक होने पर" व मोहरूपी भ्रम भाग जाने पर ही रघुनाथ के चरणों में प्रेम होता है।"

मानस में राम-भक्ति ही परम लक्ष्य है, अध्यात्मरामायण के समान वह मुक्ति का साधन नहीं। इसीलिए तो तुलसी ने बार बार कहा है कि मन, वचन, कर्म से अपने को राम की भक्ति में मग्न करना होगा, राम ने अपने भक्तों के कल्याण के लिए ही मनुष्यरूप धारण किया था।

---

[1] दे० पृ. १५१।

[2] भगवद्गीता २, ६९।

यह धार्मिक उपसंहार तुलसी की मौलिक देन है और उनकी शैली के अनुकूल भी है। यह सम्पूर्ण अंश उनकी तन्मयता तथा श्रद्धा से सजीव है। रामचरितमानस के सर्वप्रख्यात और भारतीयों को सर्वाधिकप्रिय अंशों में से यह एक है। यह एक ऐसा लोकप्रिय स्थल है जिसमें भारत के प्राचीन वैदग्ध्य के सर्वप्रिय सिद्धान्तों में से एक सिद्धांत को बहुत ही परिष्कृत ढंग से व्यक्त किया गया है।

प्रातःकाल होने पर, सुमंत्र राम को राजा दशरथ का सन्देश कह सुनाता है और उनसे अयोध्या लौटने की प्रार्थना करता है। राम इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हैं और वाल्मीकि रामायण के समान, वे सुमंत्र से वही सब काम करने को कहते हैं जिनसे पिता उनके विषय में सोच कर दुःख न पावें (वा. रा. २, ५२, २२; रा. च. मा. २, ९६, १)।

सुमंत्र के चले जाने पर, दक्षिण की यात्रा करने के लिए राम, सीता व लक्ष्मण गंगा पार करने की तय्यारियाँ करते हैं। यहाँ पर तुलसी ने एक ऐसे कथानक को बीच में दे दिया है जो वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध नहीं है। वहाँ पर (वा. रा. २, ५२, ८-१०) गुह तथा उसके नाविक इन सब को गंगा के पार ले जाते हैं। पर मानस में घटना भिन्न है—यहाँ राम एक नाविक को बुलाते हैं पर वह उन्हें पार लेजाने में संकोच करता है।

राम व इस नाविक का वार्तालाप अध्यात्म रामायण के बालकाण्ड में दिया है और वहाँ पर यह प्रसंग अहल्या की कथा के बाद आता है—

"नाविक ने रघुनाथ को नाव पर चढ़ने से रोक दिया और कहा—'मैं आपके चरण-कमलों को धोऊंगा और उन्हें मलरहित करके मैं आपको गंगा के उस पार ले चलूँगा। नहीं तो, हे विभो, आपके चरण-रज के स्पर्श से यदि मेरी नौका सुन्दर युवती हो गई तो मेरे कुटुम्ब की आजीविका ही मारी जायेगी। क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणों में मानव बना देने वाला कोई चूर्ण है, शिला और काठ में भेद ही क्या'?"[१]

मानस के अयोध्या काण्ड में परिस्थिति कुछ भिन्न है, पर कथा वही है—

सुरसरि तीर आपु तब आए॥
मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

---

[१] अ. रा. १, ६, ३-४।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥
पद नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करषी॥
केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥[1]

स्पष्ट है कि मानस का यह प्रसंग अध्यात्म रामायण से लिया गया है। परन्तु अध्यात्म रामायण में यह अस्थानिक प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ बालकाण्ड में, विश्वामित्र के साथ दोनों राजकुमारों की यात्रा के समय तक नाविकों के राजा गुह का कोई प्रश्न ही नहीं उठा था। इसके विरुद्ध, मानस के अयोध्या काण्ड में, गुह की उपस्थिति तथा राम के प्रति उसकी मित्रता के कारण आशा हो सकती है कि स्वयं गुह ही राम के लिये नाव का प्रबन्ध करता (वा. रा. में घटना ऐसी ही है) और यह विचित्र सी बात है कि राम नाविक को बुलाते हैं। दूसरी ओर, अध्यात्म रामायण में नाविक के शब्दों का अभिप्राय सन्दर्भसंगत है क्योंकि थोड़ी देर पहिले ही अहल्या की मुक्ति का प्रश्न था जब कि एक शिला नारी के रूप में परिवर्तित हो गई थी। पर मानस में परिस्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि यहाँ तो दोनों प्रसंगों को पृथक् २ काण्डों में सव्यवधान दिया है।[2]

अध्यात्मरामायण में, इस कथानक का ध्येय राम की चरण धूलि की अद्भुत शक्ति को रेखाङ्कित करना है। इस विश्वास में तुलसी की भी आस्था है पर इससे नाविक के सरल स्वभाव का अपनी इच्छानुसार अर्थ करने में उन्हें कोई बाधा नहीं। राम को गंगा पार करने के लिए नाव की कोई आवश्यकता नहीं केवल करुणा के कारण ही उन्होंने उस दीन नाविक से इस प्रकार की प्रार्थना की। सम्भव है कि साथ ही प्रभु गंगा की परीक्षा लेना चाहते थे कि उसे उनकी दिव्यता में विश्वास है या नहीं।

---

[1] रा. च. मा. २, १००, १०१ दोहा।

[2] नाविक की कथा महानाटक में उपलब्ध है। सम्भव है कि वही अध्यात्म रमायण का मूल आधार हो। उल्लेखनीय बात यह है कि नाटक में नाव के स्त्री में परिवर्तित होने से डरने वाले नाविक का प्रसंग वनवास के लिए प्रस्थान करते हुए राम सीता व लक्ष्मण के गंगा पार करने के संदर्भ में है (३, १३३-१३४)। तात्पर्य यह है कि यह प्रसंग महानाटक तथा रामचरितमानस में एक समान स्थल पर है।

हमने देखा कि एक क्षण के लिए गंगा भ्रम में पड़ गई थी, पर राम के दिव्य चरण देखने पर दिव्य नदी का भ्रम नष्ट हो गया। जहाँ तक भक्त-नाविक का प्रश्न है, वह इस आशा में "मूढ़ता" करता है कि उसे प्रभु के चरण धोने का सौभाग्य प्राप्त हो। करुणाधाम राम इस सरल छल से अपरिचित नहीं हैं, परन्तु इससे उनका मनोरंजन होता है और स्नेहवश नाविक को वे अपनी इच्छानुसार कार्य करने देते हैं।

मानस में गंगा के दक्षिण तट पर उतर कर नतमस्तक हो राम शिव की पूजा करते हैं। स्पष्टतया यह आविष्कार तुलसी ने किया है। तब सीता गंगा से कहती हैं कि मेरा मनोरथ पूरा कीजिए जिससे मैं पति और देवर के साथ कुशलपूर्वक लौटकर तुम्हारी पूजा करूं। गंगा के प्रति सीता की यह प्रार्थना, वाल्मीकि रामायण (२, ५२, ८२ इत्यादि), आध्यात्म रामायण (२, ६, २९-२३), और मानस (२, १०३, १-२) में एक समान है।

वाल्मीकि रामायण (२, ५१ ७३) में, नाव में चढ़ने से पहले राम अपने मित्र गुह से विदा लेते हैं। आध्यात्म-रामायण में (२, ६, २४-२७), गंगा पार करते समय गुह राम के साथ होता है और पार पहुँचते ही राम के साथ दूर तक चलने की प्रार्थना करता है, पर राम उसे अपने घर लौट जाने को कहकर और पुनः वहाँ आने का वचन देकर विदा देते हैं। मानस में, गुह कुछ दिनों तक उनका सेवक तथा पथप्रदर्शक होकर उनके साथ चलने की आज्ञा चाहता है। राम इसकी अनुमति दे देते हैं और इस प्रकार कुछ समय के लिए गुह राम का साथी हो जाता है।

शीघ्र ही वे सब प्रयाग पहुंचते हैं और तुलसी इस "तीर्थराज" के प्रताप की प्रशंसा करते हैं। यहाँ भरद्वाज ऋषि के पास राम के आगमन का वर्णन इस प्रकार हुआ है जिससे ऋषि तथा उनके सभी शिष्यों की राम के प्रति भक्ति को रेखाङ्कित किया जा सके। वाल्मीकि रामायण में, राम भरद्वाज ऋषि से उचित निवासस्थान के विषय में पूछताछ करते हैं और ये उनसे चित्रकूट जाने को कहते हैं (२, ५४)। इसके विरुद्ध, अध्यात्म-रामायण के समान मानस में भरद्वाज ऋषि से नहीं, बल्कि वाल्मीकि ऋषि से रामने अपने भावी निवासस्थान के विषय में प्रश्न किया।

राम के भरद्वाज ऋषि के और वाल्मीकि के पास जाने के कालान्तर में, मानस में उनकी यात्रा और सीता व लक्ष्मण के साथ यमुनातट पर उनके विभिन्न व्यक्तियों से मिलने का विस्तृत वर्णन है (२, ११०-१२४)। यह स्थल बहुत ही सजीव तथा मौलिक है और इसमें वाल्मीकि अथवा अध्यात्म रामायण का कोई भी प्रभाव नहीं है।

सर्वप्रथम, तीनों यात्रियों के लालित्य तथा सौन्दर्य से आकर्षित व मुग्ध ग्रामीणों का एक समूह हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। उन सब में ही इनके नाम की जिज्ञासा है—

> **अति लालसा बसहिं मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥**
> **जे तिन्ह महुँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥**
> **सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहि चले पितु आयसु पाई॥**
> **सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं॥**[1]

---

[1] रा. च. मा. २, ११०, २-३।

राम सीता व लक्ष्मण के विषय में उन ग्रामीणों की बातों के बीच ही वहाँ पर एक तपस्वी उपस्थित होता है—

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा॥[१]

यह तपस्वी राम के चरणों पर गिर गया और राम ने उसे हृदय से लगा लिया। फिर वह लक्ष्मण के चरणों में आ गिरा और उसने सीता की चरणधूलि को अपने सिरपर लगा लिया। निषाद-राज ने उस तपस्वी को प्रणाम किया। वह राम की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता रहा—

पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥[२]

इस व्यवधान के पश्चात् अकस्मात् ही प्रस्तुतकर्ता ग्रामीणों की बातों को पुन: आरम्भ करता है—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥[३]

"तपस्वी" के इस प्रसंग के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है—यहाँ उसका आगमन स्पष्टतया समझ में नहीं आता। इसका सम्बन्ध न पिछली कथा से है और न आगे आने वाली कथा से। उसके आगमन का उल्लेख है पर प्रस्थान का नहीं। ग्रामीणों का वार्तालाप ११०वें पद्य की तीसरी चौपाई के बाद अकस्मात् त्रुटित हो जाता है और १११ वें पद्य की चौथी चौपाई में अकस्मात् ही पुन: आरम्भ हो जाता है। फिर, सम्पूर्ण कविता में इस तपस्वी का फिर कभी उल्लेख नहीं होता। वास्तव में यह विचित्र प्रसंग केवल एक पद्य में दिया गया है और उसको अर्थभंग किये बिना छोड़ा भी जा सकता है। परिणामत: रामचरितमानस के कुछ व्याख्याकारों ने इसको प्रक्षिप्त माना है। रामदास गौड़ इसका बहिष्कार करते हैं और ग्राउज़ ने इस पद्य का अनुवाद भी नहीं किया।[४]

यह प्रसंग चाहे कितना भी असंगत हो, यह मानना ही पड़ेगा कि वह राजापुर की तथा अन्य सभी प्राचीन हस्तलिपियों में उपलब्ध है।[५] इसके अतिरिक्त इसकी शैली भी तुलसीदास की सी है। अत: इसको प्रक्षिप्त न मानने के सबल प्रमाण उपलब्ध हैं। रामचरितमानस के अधिकतर आलोचक तथा आधुनिक सम्पादक इसको प्रमाणित मानते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस पद्य के प्रणेता तुलसीदास ही हैं, तो श्यामसुन्दरदास के साथ हमें यह भी मानना अनिवार्य होगा कि यह पद्य अयोध्या

---

[१] वही २, ११०, ४।

[२] वही २, १११, ३।

[३] वही २, १११, ४।

[४] ग्राउज़ ने (ई. टी. पृ. २७२ नोट १ में) इस पद्यके अनुवाद न करने का कारण दिया है—"इन पंक्तियों का विषय न तो किसी महत्व का है और न सन्दर्भसंगत है"।

[५] दे० पंडित वि. त्रिपाठी द्वारा सम्पादित मानस पृ० २६७ व २६८, पादटिप्पणी २; पं त्रिपाठी इसे प्रक्षिप्त नहीं मानते।

काण्ड की रचना के पश्चात् जोड़ा गया था।[१] सम्भवत: अयोध्याकाण्ड के आदिम संस्करण में ११० वें पद्य की तीसरी चौपाई (रानी रायँ कीन्ह भल नाही) के तुरन्त पश्चात् १११ वें पद्य की चौथी चौपाई (ते पितु मातु . . , . . .) आती थी। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि उपलब्ध संस्करण में १११ वें पद्य की चौथी चौपाई और अन्तिम दोहे को बनाने वाली ६ अर्धालियां आरम्भ में ११० वें पद्य की चौथी चौपाई व अन्तिम दोहा बनाती थीं।

इस अज्ञात व्यक्ति का चित्रण बहुत अस्पष्ट शब्दों में हुआ है—

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा।
कबि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन रामु अनुरागी।।

यह तपस्वी कौन है, इस विषय में कई परिकल्पनाएं उठीं और व्याख्याकारो की काल्पनिक उड़ान की कोई सीमा ही न रही।[२] प्राय: इस तपस्वी को अग्नि माना गया है[३] क्यों कि उसके वर्णन में 'तेजपुंज' पद का प्रयोग हुआ है। "कबि अलखित गति" की व्याख्याओं के कारण यह समस्या और भी उलझ गई। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ "जिसकी गति (या स्थिति) से कवि भो अनभिज्ञ हैं" किया है। परन्तु यह अभिप्राय अर्थ की दृष्टि से सन्तोषजनक न होने के साथ, वाक्य के संतुलन और उसकी लय को भंग करता है। इसके विरुद्ध यदि "कबि" का सम्बन्ध "तापसु" से जोड़ा जाय तो तुलसीदास की सन्तुलनात्मक शैली के अनुरूप एक सुन्दर चित्रण प्राप्त होगा—

इस अवसर पर। एक तपस्वी आया। तेज युक्त। नवयुवक। सुन्दर।
एक अलक्षित कवि[४]। वैरागी के वेष में। मन क्रम वचन से राम भक्त।।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि अभिप्राय स्वयं कवि तुलसीदास से है, और इस प्रकार "तपस्वी" के विषय में परिकल्पनाएँ अनावश्यक हो जाती हैं। हमें ज्ञात है कि युवावस्था में ही तुलसी ने "बैरागियों" का जीवन अपनाया था और रामानन्दी सम्प्रदाय के तपस्वी अब भी "बैरागी" कहाते हैं। यह भो माना जाता है कि तुलसी को राम के कई बार दर्शन हुए थे—अपनी वृद्धावस्था की कृति 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने स्वयं आत्मोल्लेख के साथ इस प्रकार के संकेत दिये हैं। सम्भव है कि

---

[१] दे० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित मानस पृ० ४४९, पाद टिप्पणी १। साथ ही दे० 'तुलसी ग्रन्थावली' १, पृ० २०० पादटिप्पणी।

[२] मानसपीयूष २, ५९ इत्यादि में इन परिकल्पनाओं की सूची दी है।

[३] विशेषतया भट्ट द्वारा पृ० ३९० पादटिप्पणी १।

[४] "कबि अलखित गति" का अर्थ "वेष बदले एक कवि" भी हो सकता है। मानसाङ्क की व्याख्या में इस अर्थ को सम्भाव्य कहा है ("अथवा वह कवि था जो अपना परिचय नहीं देना चाहता")। पर प्राय: 'गति' का अर्थ 'अवस्था, स्थिति' होता है। अलखित—जिसका कोई विशेष लक्षण नहीं। हमारे विचार में यहाँ पर विरोध है। उसके वेष से तो वह बैरागी दिखाई देता था परन्तु उसके कवि होने की स्थिति का ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं होता था।

युवावस्था में ही बैरागी के वेष में "अप्रत्यक्ष रूप" से कवि तुलसी ने यमुना के किनारे सीता व लक्ष्मण सहित अपने इष्ट देव राम के दर्शन किये हों। आत्मकथा से सम्बन्धित इस प्रसंग को अपनी कृति रामचरितमानस में स्थान देने का विचार तुलसीदास को कदाचित् बहुत बाद में आया। और फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख कुछ संकोच से और अस्पष्टता की आड़ में होकर किया।

वाल्मीकि रामायण (२, ५५, १३ इत्यादि) में वर्णित राम, सीता व लक्ष्मण के यमुना पार जाने की कथा की चर्चा मानस में नहीं है। अनुमान किया जा सकता है कि निषादपति गुह ने उनकी सुविधानुसार सब प्रबन्ध कर दिया होगा। परन्तु तुलसी कहते हैं कि राम ने गुह को अपने घर भेज दिया (१११ दोहा) और यमुना की वन्दना करके सीता व लक्ष्मण के साथ वे पुनः वहाँ से आगे चले गये। तुलसी ने नदियों को पार करने के वर्णनों को प्रायः महत्व दिया है और इस दृष्टि से मानस में इस प्रसंग का अभाव उल्लेखनीय है। इससे थोड़ा आगे (२२१, १-२) जब भरत व उनके साथी, गुह की सहायता से यमुना पार करते हैं तो तुलसी उस वर्णन को छोड़ते नहीं, और मानस में, भरत की वनयात्रा का वर्णन राम की वनयात्रा की एक प्रकार से नकल है। सम्भव है कि दो हरिगीतिका छन्दों के बीच २५ पद्यों की गिनती को सुरक्षित रखने के लिए, "तापस" के पद्य को जोड़ने के बाद तुलसीदास को एक पद्य हटाना पड़ा हो।

ग्रामीणों का दूसरा समूह यात्रियों से एक वृक्ष के नीचे बैठने को कहता है और आतिथ्य में उनको साधारण सा भोजन प्रस्तुत करता है। मुग्ध ग्रामीणजन दोनों राजकुमारों के सौन्दर्य को देखते रह जाते हैं और ग्रामीण नारियाँ सीता के माधुर्य को देखकर कातर भाव से प्रश्न करती हैं। इन उत्सुक नारियों का सुन्दर दृश्य (रा. च. मा. २, ११६, २, दोहा तथा ११७, १-४) वाल्मीकि अथवा अध्यात्म रामायण किसी से भी प्रभावित नहीं, पर महानाटक के एक प्रसंग से प्रेरित प्रतीत होता है। नाटक के इस अंश में भी, मार्ग में मिलनेवाली नारियाँ, सीता से राम के विषय में पूछती हैं।

"हला, यह तो बताओ कि यह श्यामवर्ण के व्यक्ति कौन हैं?" मुस्कराती सीता की आँखें लज्जा से झुक जाती हैं जिससे ये नारियाँ अनुमान करती हैं कि वे इनके पति ही हैं।[1]

संस्कृत के आदिकाव्य में,[2] चित्रकूट के पास पहुंचने पर राम सीता व लक्ष्मण वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में प्रवेश करते हैं।

"अंजली बाँध कर राम सीता व लक्ष्मण ने वाल्मीकि ऋषि का अभिवादन किया। तब धर्म के ज्ञाता महर्षि ने प्रहर्षित होकर उनका सत्कार किया व स्वागत करके उन से बैठने को कहा और उनका कुशल समाचार पूछकर उनसे वहाँ निवास करने को कहा।[3]

अध्यात्म रामायण के अनुसार, राम ने वाल्मीकि से अपने निवास स्थान के विषय में पूछा और उसके उत्तर में वाल्मीकि ने उन्हें एक व्याख्यान दिया। उन्होने परब्रह्म स्वरूप राम की सर्वव्यापकता की व्याख्या करके, उन सब विशिष्ट स्थानों की गणना की जहाँ पर प्रभु अपना मन्दिर स्थापित करते हैं—

---

[1] महानाटक ३, १०८।

[2] हम "वाल्मीकि रामायण" पद का प्रयोग इसलिए नहीं करते कि यहाँ वाल्मीकि का उल्लेख रामकथा के पात्र के रूप में है।

[3] वा. रा. २, ५६, १६-१७।

"रघुनाथ के इस प्रकार कहने पर, मुनिवर ने मुस्कराकर कहा—हे राम, सम्पूर्ण प्राणियों के आप ही एक मात्र उत्तम निवासस्थान हैं और सब जीव भी आपके निवासगृह हैं। हे रघुनन्दन, इस प्रकार यह मैंने आपका साधारण निवासस्थान बताया, किन्तु आपने विशेष रूप से सीता के सहित अपने रहने का स्थान पूछा है इसलिये हे रघुश्रेष्ठ, अब में आपके निश्चित गृह बताता हूँ। जो शान्त, समदर्शी और सम्पूर्ण जीवों के प्रति द्वेष-हीन हैं तथा रात दिन आपका ही भजन करते हैं उनका हृदय आपका प्रधान निवासस्थान है। जो धर्म व अधर्म दोनों को छोड़कर निरन्तर आपका ही भजन करता है, हे राम, उसके हृदय-मन्दिर में सीता के सहित आप सुखपूर्वक रहते हैं। जो आप ही के मंत्र का जाप करता है, आपही की शरण में रहता है और द्वन्द्वहीन और निस्पृह है उसका हृदय आपका सुन्दर मन्दिर है। जो अहंकार-शून्य, शान्तस्वभाव, राग-द्वेप-रहित और मृत्पिण्ड पत्थर तथा स्वर्ण में समान दृष्टि रखने वाले हैं उनका हृदय आपका घर है। जो आप ही में मन और बुद्धि लगाकर सदा सन्तुष्ट रहता है और अपने समस्त कर्म आपही को समर्पित कर देता है उसका मन ही आपका शुभ घर है। जो अप्रिय को पाकर द्वेप नहीं करता और प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता तथा 'यह सम्पूर्ण प्रपंच माया मात्र है' ऐसा निश्चय कर सदा आपका भजन करता है उसका मन ही आपका घर है जो (सत्ता, जन्म लेना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना, नष्ट होना, इन) ६ विकारों को शरीर में ही देखता है, आत्मा में नहीं, तथा क्षुधा, तृष्णा, सुख दुःख और भय आदि को प्राण और बुद्धि के ही विकार मानता है और स्वयं सांसारिक धर्मों से मुक्त रहता है उसका चित्त आपका निज गृह है। जो लोग चिद्घन सत्य-स्वरूप, अनन्त, एक, निर्लेप, सर्वगत और स्तुत्य आप परमेश्वर को समस्त अन्तः-करणों में विराजमान देखते हैं, हे राम, उनके हृदय कमल में आप सीता-सहित निवास कीजिए। निरन्तर अभ्यास करने से जिनका चित्त स्थिर होगया है, जो सर्वदा आपकी चरण सेवा में लगे रहते हैं तथा आपके नाम संकीर्तन से जिनके पाप नष्ट होगये हैं उनके हृदय कमल में सीता सहित आप का निवास गृह है"।[1]

इस विषय में मानस ने अध्यात्म रामायण का अनुकरण किया है। राम, वाल्मीकि ऋषि से अपने निवासस्थान के विषय में पूछते हैं जिसपर वह ऋषि, उन परब्रह्म-स्वरूप राम के (रहस्यात्मक) "निवास" के विषय में एक व्याख्यान दे देते हैं। पर हिन्दी रामायण में वाल्मीकि के व्याख्यान का केवल उत्तरार्ध ही अध्यात्म रामायण से प्रत्यक्ष प्रेरित है। इसके पूर्वार्ध में वाल्मीकि ने राम की स्तुति प्रस्तुत की है और १२६ वें पद्य के छन्द व सोरठे से लेकर १२७ वें पद्य की चार चौपाइयों में इस "स्तुति" का पूर्वरूप अध्यात्म रामायण में नहीं है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥

---

[1] अ. रा. २, ६, ५१-६३।

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ।।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे । बिधि हरि संभु नचावनिहारे ।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा । औरु तुम्हहि को जाननिहारा ।।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हइ तुम्हइ होइ जाई ।।
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ।।
चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ।।
नर तनु धरेहु संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा । जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ।।[1]

यद्यपि सीता वा लक्ष्मण की दिव्यता का उल्लेख अध्यात्म रामायण में प्रायः होता है, पर मानस में अपवादरूप में ही प्रस्तुत है। जो भी हो, वाल्मीकि रामायण के समान मानस के अयोध्या-काण्ड में भी सीता व लक्ष्मण मानवीय पात्र हैं। यहाँ राम के कृत्यों का मायावी तथ्य स्पष्टतया स्वीकृत नहीं हैं और उनको "लीला" भी नहीं कहा गया है। अयोध्याकाण्ड की इस "वाल्मीकि स्तुति" का विषय सन्दर्भासंगत है। कठपुतलियों के सूत्रधार से राम की तुलना करने का प्रस्तुत भाव उत्तरकाण्ड में विशेषकर अभिव्यक्त हुआ है।

अयोध्याकाण्ड के १००वें पद्य में भी नियमानुसार हरिगीतिका छन्द है और उसमें तुलसी का नाम आता है। पर १२५ वें पद्य में छन्द होना चाहिए था और है नहीं। इसके विरुद्ध १२६ वें पद्य में यह छन्द प्राप्त होता है, और यही छन्द "वाल्मीकि स्तुति" को आरम्भ करता है परन्तु अन्य छन्दों के समान इस छन्द में तुलसी का नाम नहीं है। रचना की ये विशेषताएँ पुनर्लेखन की परिकल्पना को जन्म देती हैं, ये परिकल्पना इसलिए और भी सम्भावनीय हो जाती है कि १२६ वें पद्य का छन्द व सोरठा और १२७ वें पद्य की चार चौपाइयाँ जिनमें यह स्तुति है छन्दोव्यवस्था की नियमितता या अर्थ को भंग किये बिना हटाई जा सकती हैं—

कस न कहहु अस रघुकुलकेतू । तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू ।। (१२६, ४)
पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ ।। (१२७, दोहा)

इस "वाल्मीकि स्तुति" की पूर्वछाया अध्यात्म रामायण में नहीं है और सम्भव है कि इसको बाद में जोड़ा गया हो जिससे १२५ वें पद्य में छन्द व सोरठे को हटाना पड़ा। और १२६ वें पद्य से

---

[1] रा. च. मा. २, १२६ छन्द व सोरठा; १२७, १-४।

लेकर अयोध्या काण्ड के अन्त तक प्रत्येक २५ पद्य के बाद छन्द पुनः नियमित रूप से आने लगे (१५१, १७६, २०१ इत्यादि) और उनमें तुलसी शब्द भी रह सका।[1]

यदि इस आरम्भिक स्तुति को पृथक् कर दिया जाय तो अध्यात्म रामायण के समान मानस में भी वाल्मीकि ऋषि के व्याख्यान का विषय समान ही है अर्थात् इस संसार में प्रभु राम का रहस्यात्मक निवासस्थान। मानस में यह व्याख्यान विशेष विस्तृत तथा परिष्कृत है और इसे चार पद्यों (१२८-१३१) में दिया गया है—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥

---

[1] इस प्रकार छन्दों की व्यवस्था निम्नवत् है—२५ वें, ५० वें, ७५ वें, १०० वें पद्य के पश्चात्, (१२५ वें के स्थान पर) १२६ वें, १५१ वें, १७६ वें, २०१ वें इत्यादि पद्यों से लेकर ३६१ वें पद्य तक। आरम्भ में अयोध्या काण्ड में केवल ३६० पद्य रहे होंगे।

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कै बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्रधेनु हित संकट सहहीं ॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ नीज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई ॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना ॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा ॥

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

अध्यात्म रामायण में, राम के निवास योग्य हृदय उन योगियों के हृदय हैं जो "अहंकार-शून्य, शान्त-स्वभाव, राग-द्वेप-रहित, और मृत्पिण्ड, पथर तथा सुवर्ण में समान दृष्टि रखनेवाले हैं।" सत्य है कि यह प्रज्ञा, राम की भक्ति से ही प्रफुल्लित होती है। फिर भी, अध्यात्म-रामायण में वाल्मीकि का व्याख्यान प्रधानतया 'ज्ञान' की स्तुति है। इसके विरुद्ध, मानस में तपस्वी और ऋषि स्वतः प्रभु राम का निवास बनने योग्य नहीं माने गये हैं। केवल भक्त ही उसके योग्य हैं। इस प्रकार मानस में राम के निवास योग्य मन्दिरों का निर्देश करने के लिये, वाल्मीकि के व्याख्यान में गुणों तथा भक्ति की साधन-भूत प्रवृत्तियों को स्पष्टतया दिया है। ये निम्नवत् हैं—

१—अपने इष्ट देव के प्रति भक्त का अनुराग हो और उसे उनकी उपस्थिति की निरन्तर तथा सर्वदा आवश्यकता रहे (१२८);

२—भक्त का आचरण पवित्र हो और वह इष्टदेव को सम्पूर्ण पूजा अर्पित करे (१२९);

३—उसमें भक्त के हृदय को अलंकृत करने वाले गुण हों—इनमें सर्वप्रधान उदारता तथा निष्ठा हैं। (१३०);

४—उसमें ऐसे सर्वोच्च गुण हों जो राम को विशेष प्रिय हैं जैसे त्याग की भावना, पार्थिव सम्पत्ति तथा गौरव के प्रति वैराग्य, और इन सब में भी सरताज, स्वर्ग, पृथिवी तथा

मोक्ष सहित उन सब ही वस्तुओं के प्रति उदासीनता जो भक्ति के पात्र से भिन्न हों (१३१)।

तदुपरान्त, वाल्मीकि के आदेशानुसार राम चित्रकूट की ओर जाते हैं और वहाँ पर सीता तथा लक्ष्मण के साथ निवास करते हैं। इस स्थान पर उनके जीवन का विवरण देते समय आदिकाव्य में केवल इतना कहा है—

"उस सुरम्य चित्रकूट को और शुभ तीर्थवाली माल्यवती नदी को देखकर राम बहुत हर्षित हुये और अयोध्यापुरी से प्रवास के दुःख को भूल गये।"[1]

इसके विरुद्ध, तुलसी के लिए, राम की उपस्थिति के कारण चित्रकूट में आनन्द छा गया। इस प्रकार कृपा का पात्र होने पर चित्रकूट, उदयाचल अस्ताचल कैलाश मन्दराचल व सुमेरु जैसे विश्व के सारे पर्वतों के लिए, ईर्ष्या का स्थान और पार्थिव स्वर्ग लोक हो गया।[2] इन स्थलों में, प्रवासियों के जीवन का, राम की सेवा में तत्पर लक्ष्मण का उत्साह और अपने प्रियतम के साथ सीता के शुद्ध सुख के अनुभव का, चित्रण तुलसी ने विस्तार से किया है।

अध्यात्म रामायण में सीता (व लक्ष्मण) के साथ चित्रकूट पर रहते राम की तुलना शचीयुक्त इन्द्र से की है—

"राम वहाँ सीता व लक्ष्मण के साथ इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे जैसे स्वर्ग लोक में शची के साथ देवराज इन्द्र रहते हैं।"[3]

मानस में भी यही तुलना मिलती है—

रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥[4]

तृतीय अङ्क—दशरथ का देहावसान (२, १४२-१५७)

राम सीता व लक्ष्मण को चित्रकूट में छोड़कर, तुलसीदास, अयोध्या में लौटे दुखी सुमंत्र की कथा को पुनः आरम्भ करते हैं, संक्रमणावस्था यहाँ स्पष्ट है—

कहेउँ राम बन गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥[5]

राम को छोड़कर, वापसी में निषादपति गुह की भेंट सूत सुमंत्र से होती है। दुःख से व्याकुल सुमंत्र पृथिवी पर गिरा पड़ा था, उसकी तरह दोनों घोड़े भी अस्त-व्यस्त थे। तब गुह सुमंत्र को आश्वासन

---

[1] वा. रा. २, ५६, ३५।
[2] रा. च. मा. २, १३८, ३।
[3] अ. रा. २, ६, ९२।
[4] रा. च. मा. २, १४१ दोहा।
[5] वही, २, १४२, २।

देता है, उसको रथ में चढ़ने को कहता है और चार निषाद उसके साथ कर देता है (२, १४२, ३ इत्यादि)। तुलसी का यह आविष्कार राम से अलग हो जाने पर सुमंत्र के दु:ख व गुह की कृपा को रेखाङ्कित करता है। यह सच है कि कुछ ही पहले (९९, दोहा) तुलसी ने यह कहा था कि राम को छोड़कर सुमंत्र अयोध्या वापस आने के लिए मार्ग में अग्रसर हो गया था। अत: अनुमान करना चाहिए कि सुमंत्र बहुत आगे नहीं जा सका और शृङ्गवेर के पास ही मार्ग में निराशा से चूर होकर गिर पड़ा और निषादपति ने लौटकर उसको वहाँ देखा। परन्तु यह स्पष्टतया कहा नहीं गया। विचार तो ऐसा होता है कि इस आविष्कार को लाकर तुलसी ९९ वें पद्य के अपने कथन को भूल गये। अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्ध में इस प्रकार की त्रुटियाँ कम नहीं हैं।

वाल्मीकि रामायण (२, ५७, ५ इत्यादि) में, सुमंत्र अयोध्या में दूसरे दिन सन्ध्या समय पहुँच जाता है और नगरी में पहुँचने की शीघ्रता करता है। अध्यात्मरामायण में, वह मुँह ढके चुपचाप प्रवेश करता है। तुलसीदास इस भाव को और भी विकसित करते है और कहते हैं कि सुमंत्र प्रात:काल ही वहाँ पहुंच जाता है, पर दिन में प्रवेश करने का साहस न करने से सारा दिन वह एक वृक्ष के नीचे बैठकर बिता देता है और नगरी के द्वार पर ही रथ को छोड़कर अन्धकार में अपने घर में प्रवेश करता है, उस रथ को देखकर ही नगरवासियों को चिन्ता होती है (रा. च. मा. २, १४७, २ दोहा)।

चिन्तित राजा के पूछने पर सुमंत्र उपर्युक्त विचारों से उन्हे सान्त्वना देता है—

जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥[1]

इस प्रकार के विचार और ऐसे पात्र के मुख में कुछ आश्चर्यजनक हैं क्योंकि अभी तो उसके अत्यन्त दु:ख का उल्लेख हुआ था। इस अवसर पर दशरथ के सम्मुख सुमत्र का यह भाषण शृङ्गवेरपुर में गुह को दिये लक्ष्मण के भाषण की प्रतिध्वनि प्रतीत होती है (२, ९२-९४)।

दशरथ के सम्मुख सुमंत्र के विवरण में, तुलसीदास ने वाल्मीकिरामायण के प्रसंग को ही संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है। गंगा के पार करने का वर्णन करते हुये सुमंत्र कहता है कि "राम के मित्र गुह ने एक नाव को मंगवाया और राम उस पर चढ़े"। वाल्मीकि व अध्यातम रामायण में ऐसा ही हुआ था पर मानस का कथन भिन्न है और सुमंत्र उस हठी नाविक का कोई उल्लेख नहीं करता।[2]

इसके अतिरिक्त, जैसे वाल्मीकिरामायण (संस्करण ख, २, ५८, ३४ इत्यादि) में, वैसे ही मानस में, सुमंत्र दशरथ से कहता है कि सीता आपके लिए मुझे एक सन्देश देना चाहती थीं, पर शोक से उनका कंठ अवरुद्ध हो गया। पर वस्तुत: मानस में (२, ९७ इत्यादि) सीता ने सुमंत्र को यह स्पष्ट करके समझाया है कि वे अयोध्या वापस लौटने में क्यों असमर्थ हैं, और बिना किसी शोक अथवा दु:ख के वे सुमंत्र को एक सन्देश भी देती हैं।

इसी प्रकार राजा दशरथ के देहावसान के विवरण में भी तुलसी ने वाल्मीकि रामायण का अधिक समीप से अनुकरण किया है, यद्यपि इन्होंने उसको बहुत संक्षेप में दिया है। दशरथ द्वारा बेध्यानी में

[1] रा. च. मा. २, १५०, ३।
[2] दे० पृ० १५६-१५७।

मारे गये अन्धे तपस्वी पुत्र की कथा वाल्मीकि रामायण में विस्तार से दी गई है, पर तुलसी संक्षेप में उसका उल्लेख करते हैं—

तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥[1]

२—अयोध्याकाण्ड का उत्तरार्ध (भरतचरित, २, १५७-३२६)

कथा का सारांश

अयोध्या में वापस आने पर, कैकेयी के ही मुख से सारी बीती कथा का विवरण सुनकर, भरत अत्यन्त क्रुद्ध होते हैं और अपनी माँ की निन्दा करते हैं। शत्रुघ्न कुब्जा मन्थरा पर अपना क्रोध उतारते हैं। कौसल्या भाग्य को दोष देकर भरत को सान्त्वना देना चाहती है। वशिष्ठ उनसे कहते हैं कि राजा दशरथ का भाग्य तो बहुत अच्छा था और उस पर शोक प्रकट नहीं करना चाहिये। साथ ही वे भरत से स्वामीरहित राज्य पर राज करने को कहते हैं। परन्तु भरत को धैर्य नहीं बंधता और वे राज्य का भार हाथ में लेना अस्वीकार कर देते हैं। अपने आपको ही राम के प्रवास का कारण समझ कर वे राज्य के अयोग्य समझते हैं ! उनके निराश हृदय के लिए राम से क्षमा माँगना ही एक उपचार है और इस प्रकार वे राम से वन में मिलने का निर्णय करते हैं (१५७—१८३)।

माताओं, गुरु वशिष्ठ, शत्रुघ्न व नागरिकों की भीड़ के साथ भरत वन के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। जब वे सब शृङ्गवेरपुर के पास पहुँचते हैं तो राम के प्रति भरत के विचारों को अन्यथा लेकर, राम का मित्र गुह युद्ध की तय्यारी करता है और भरत का मार्ग रोकना चाहता है। पर फिर आश्वस्त होने पर भरत व उनके सब साथियों का वह स्वागत करता है। जहाँ राम व सीता ने रात बिताई थी उस स्थान को देखकर भरत भावाभिभूत हो जाते हैं। प्रयाग में भरत गंगा से प्रार्थना करते हैं "मैं राम की अनन्य भक्ति में निरन्तर लगा रहूँ"। वे भरद्वाज आश्रम जाते हैं वहाँ ऋषि उनके पश्चात्ताप को दूर करने का व्यर्थ परिश्रम करते हैं। भरद्वाज ने अपने अतिथियों का जो भव्य स्वागत किया वह यहाँ संक्षेप से वर्णित है (१८४—२१५)।

तदुपरान्त, भरत व उनके सब साथी गुह के साथ चित्रकूट पर्वत की ओर आगे बढ़ते हैं और उधर देवगण उनके लिये विघ्न उपस्थित करने का निष्फल प्रयत्न करते हैं। राम के समान भरत के वहाँ से जाने से ग्रामीणजनों को उत्सुकता होती है और जैसे ही भरत व अन्य लोग चित्रकूट पहुँचते हैं तो शुभ शकुन होते हैं (२१६—२२५)।

बड़ी "सेना" के साथ भरत के आने का समाचार, राम सीता व लक्ष्मण को चित्रकूट में प्राप्त हुआ। लक्ष्मण को भरत को कामनाओं के विषय में आशंका हुई परन्तु राम ने उन्हें समझाया, क्योंकि स्वयं राम को भरत की मैत्री में कोई सन्देह नहीं था। राम की कुटी के आस पास, शत्रुघ्न के साथ और गुह के नेतृत्व में भरत अपने भाई के पद चिन्हों को देखकर हर्षविभोर हो गये। गुह आनन्द से इतना मुग्ध हो गया कि वह मार्ग भी भूल गया पर देवगण उसे सीधे मार्ग पर ले आते हैं। कांपते

---

[1] रा. च. मा. २, १५५, २।

हुये भरत वहाँ पहुँचते हैं; उनके शब्द को पहचान कर लक्ष्मण राम को चेतावनी देते हैं और राम एक साथ उठ खड़े होते हैं। यहाँ कवि ने दोनों भाइयों के मिलन और उनके स्नेहोद्गार का वर्णन किया है (२२६–२४१)।

वशिष्ठ के साथ राम सीता व लक्ष्मण, मन्दाकिनी तट पर रहे अपने सम्बन्धियों व मित्रों की अगवानी के लिये जाते हैं। पश्चात्ताप करती कैकेयी, राम के चरणों में गिर पड़ती है और राम उन्हें निरपराधी कहकर सान्त्वना देते हैं। राम को अपने पिता के देहावसान का समाचार पाकर बहुत दुःख होता है, और वे अपने पिता की क्रिया करते हैं। इसके पश्चात् मिलन का आनन्द था और वन के दीन निवासी अयोध्यानिवासियों का हार्दिक स्वागत करते हैं। मिलन के सुख में दिन, पलों के समान बीतने लगे, पर भरत इसी चिन्ता में रहे कि किसी प्रकार राम राज्य-भार सम्भालने की अनुमति दे दें तो वे स्वयं तपस्वी बन जावें। दो दिन के पश्चात् सभा लगी और वशिष्ठ ने प्रस्ताव किया कि राम व लक्ष्मण अयोध्या लौट चलें और भरत तथा शत्रुघ्न उनके स्थान पर वन में रहें। तुरन्त राम अपने गुरु के आदेश को सर्वमान्य समझने की घोषणा करते हैं और उनके आदेश पर ही अन्तिम निर्णय भरत पर छोड़ देते हैं (२४२-२५९)।

तब भरत बोलना आरम्भ करते हैं—वे अपने को एक बार फिर अपराधी कह कर इस दुर्भाग्य पर विलाप करते हैं। राम उन्हें धैर्य दिलाते हैं, उनके सौजन्य की प्रशंसा करते हैं और निर्णय करने का आग्रह करते हैं। भरत को संकोच करते देखकर देवों को चिन्ता होती है पर उनके गुरु बृहस्पति उन्हें आश्वस्त कर देते हैं। भरत के हृदय में ज्योति का प्रकाश होता है। वे अपनी प्रथम इच्छा को त्यागने को तत्पर हैं और अपने को राम की इच्छा के सर्वथा अधीन बतलाते हैं (२६०-२७०)।

इस अवसर पर जनक के दूत आ पहुंचते हैं जो निकट भविष्य में जनक के वहाँ पधारने की सूचना देते हैं। जनक ने अपने जामाता राम के वनवास, दशरथ की मृत्यु व भरत के वन में जाने की सुनी थी और शीघ्र ही राम और अन्य भाइयों से मिलने के लिये वे चल पड़े। तब "प्रेममतिमाती" वाले साथियों को ले जनक चित्रकूट में आजाते हैं। अयोध्यानिवासियों के साथ वे भी विलाप करते हैं। उधर दोनों गुरु, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र पाडित्यपूर्ण व्याख्यान देते हैं और राम एक दिन से व्रत लिए लोगों के हित इन व्याख्यानों को संक्षिप्त कर देते है। जनक के आगमन से चार दिन तक उत्सव रहता है। सभी अयोध्यानिवासी राम के साथ वन में रहने का व्रत लेते हैं। मिथिला तथा अयोध्या की रानियाँ परस्पर आदर-सत्कार और भरत के गुणों का गान करती हैं। कौसल्या सुझाव देती हैं कि लक्ष्मण अयोध्या लौट चलें और उनके स्थान पर भरत राम के साथ रहें। सीता अपने पिता तथा सभी सम्बन्धियों से भेंट करने जाती हैं। मिथिला की रानी अपने पति जनक से कौसल्या के प्रस्ताव का उल्लेख करती हैं, और उत्तर में जनक भरत की प्रशंसा करते हैं और रानी को सूचित करते हैं कि भरत का आचरण राम को प्रसन्न करने की इच्छा से ही प्रेरित है (२७०–२८९)।

वन में रहने से सम्बन्धियों की कठिनाइयों को देखते हुये, राम को दया आती है। वे गुरु वशिष्ठ से परामर्श करते हैं, गुरु वशिष्ठ राजा जनक से मिलने जाते हैं और जनक भरत से, पर भरत फिर भी अपने संकल्प से विचलित होना नहीं चाहते (यह सब विवरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत और थोड़ा बहुत अस्त-व्यस्त है)। राम के प्रति भरत की इतनी भक्ति और त्याग से देवों को चिन्ता होती है, वे भरत के विचारों में परिवर्तन कराने के लिए शारदा के पास जाते हैं, पर राममय हृदय में

शारदा क्या कर सकती हैं। राम के आदेश बिना वन में आने पर भरत, राम जनक और सभी के सम्मुख शोक प्रगट करते हैं; अब से राम की सेवा करना और उनकी आज्ञापालन करना ही भरत की एकमात्र इच्छा है। दुष्ट इन्द्र इस अवसर से लाभ उठाकर सभी उपस्थित व्यक्तियों के हृदय में हलचल उत्पन्न करते हैं, पर जनक, वशिष्ठ और सभी ऋषि भरत की इस उच्च भक्ति को देखकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं (२८९–३०४)।

अन्तमें, राम बोलने का निश्चय करते हैं—वे भरत को स्मरण कराते हैं कि पिता, माता व गुरु के आदेश का पालन करना ही परम कर्तव्य है; सस्नेह वे उनसे अयोध्या लौट जाने को कहते हैं जिससे प्रजा का हित हो सके। हर्ष के साथ तुरन्त ही भरत राम के आदेश का पालन करने को तत्पर हो जाते हैं, लौटने से पहले, भरत चित्रकूट के वन में भ्रमण करने की अनुमति चाहते हैं। सभी एकत्र व्यक्ति तथा देवगण भरत के गुणों की प्रशंसा करते हैं। अत्रि ऋषि के आदेशानुसार, भरत राम के अभिषेक के लिये विभिन्न तीर्थों से लाए जल को एक कुयें में डाल देते हैं, तब से यह कुँआ "भरतकूप" कहलाया। दूसरे रोज़ भरत और उनके साथी मार्ग पर चल पड़े और ५ दिन तक उन्होंने नंगे पैर और तीर्थ यात्रियों के रूप में चित्रकूट के पावन स्थानों का भ्रमण किया (३०४–३१२)।

छठे दिन सब एकत्र हुये। राम को ज्ञात था कि प्रस्थान का यह शुभ दिन था। परन्तु इसके विषय में वे कुछ बोले नहीं। भरत ने अनुमान लगा लिया और उत्साह के साथ राम से विदा माँगी। राम भरत को राजा के कर्तव्यों का उपदेश और अन्तिम सुझाव देते हैं। फिर भरत की प्रार्थना पर वे अपने पादुक भरत को दे देते हैं। भरत उनको बहुमूल्य वरदान मान कर स्वीकार करते हैं और बड़े आदरपूर्वक अपने सिर पर रख लेते हैं। दोनों भाइयों की विदाई हृदयविदारक है, भरत का भावावेग बहुत ही अधिक है; पर अन्त में भरत अपने साथियों को ले वहाँ से प्रस्थान करते हैं। राम अपनी पर्णकुटी में आते हैं और सीता व लक्ष्मण के सामने अपने बन्धुओं के प्रस्थान पर बुरा लगने की बात कहते हैं। (३१३-३२३)।

शोकसन्तप्त भरत तथा उनके साथी व राजा जनक अयोध्या का मार्ग लेते हैं। राजा जनक अयोध्या में चार दिन रहना स्वीकार करते हैं जिससे राज्य व्यवस्था कर सकें। वे वशिष्ठ, सुमंत्र, तथा भरत को राज्य की बागडोर सौंपते हैं। तब वे मिथिला लौट जाते हैं। भरत अपने अमात्यों सेवकों ब्राह्मणों व शत्रुघ्न को आदेश देकर, अपने गुरु से आज्ञा लेकर सिंहासन पर राम के पादुकों को रखकर, नन्दीग्राम के एकान्त में तपस्या करने चले जाते हैं। नन्दीग्राम में अपनी राजकीय परिस्थिति से उदासीन, वे तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी तपस्या बढ़ती जाती है और उनका शरीर प्रतिदिन कृश होता जाता है। प्रतिदिन वे राम के पादुकों की वन्दना करते हैं और राम व सीता का नाम जपते है। अपनी तपस्या के कारण वे महान् से महान् तपस्वियों से भी उत्कृष्ट हो जाते हैं (३२२—३२६)।

अयोध्याकाण्ड का यह उत्तरार्ध मानस के सर्वथा मौलिक भागों में से एक है। अपराधी कैकेयी के पुत्र राम के भाई, भरत के चरित व कृत्यों की अभूतपूर्व महिमा इसकी विलक्षणता है। भरत ही इस सारे प्रसंग के प्रमुख पात्र हैं यद्यपि राम भी उपस्थित हैं। यही कारण है कि इस अंश को प्राय: "भरत-चरित" का नाम दिया जाता है।

यहाँ वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण से यत्रतत्र कुछ लिया गया है, और कम से कम, रूप-रेखा में, कथा वाल्मीकि रामायण से मिलती जुलती है; किन्तु 'भरत चरित' इन दोनों ही रामायणों के तदनुरूप प्रसंग से भिन्न है।

इस प्रसंग को दो 'कालों' अथवा 'अंकों' में विभाजित किया जा सकता है। पहिले में, भरत की चित्रकूट यात्रा का वर्णन है (यद्यपि बिल्कुल प्रारम्भिक पद्यों में दशरथ की अंत्येष्टि का वर्णन है) और दूसरे का स्थल चित्रकूट में स्थित राम का आश्रम है। भरत के अयोध्या में लौट कर आने व नन्दीग्राम में तपस्या के वर्णन से इस काण्ड की समाप्ति होती है।

प्रथम अङ्क—भरत की यात्रा (२, १५७-२४१)

वशिष्ठ के संदेशवाहकों के आने से पहले ही, अपशकुनों के कारण भरत को संकट होने लगा था। (सारे परिवार के समान) शिव भक्त होने के कारण उन्होने कई प्रकार से शिव की पूजा की और अपने गुरु का सन्देश पाते ही शत्रुघ्न के साथ वे चल पड़े।

चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके ॥[1]

यह अर्धाली वाल्मीकि रामायण के उस अंश का संक्षिप्त रूप है जहाँ अपने घोड़ों को थकाते हुये, और वेग में वायु से युद्ध करते हुये, भरत को नदियाँ वन तथा पर्वतों को पार करते बताया है (वा. रा. २, ७१, १-१८)।

स्वयं कैकेयी ही भरत को सारी सूचना देती है और बताती है कि राम के वनप्रवास से ही दशरथ का देहान्त हुआ। दुःख से सन्तप्त पुत्र को देखकर, रानी कैकेयी ने उसे सान्त्वना देने का प्रयास किया पर उसके वचनों ने जले पर नमक का काम किया[2]। यह प्रसंग भी वाल्मीकिरामायण से लिया प्रतीत होता है (२, ७३, ३)।

भरत, कैकेयी पर बहुत क्रुद्ध होते हैं और स्त्रियों के छल की निन्दा करते हैं—

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी[3] ॥

इस आवेशपूर्ण दृश्य के बाद एक और भी अधिक आवेशपूर्ण दृश्य आता है—भरत के छोटे भाई शत्रुघ्न कुब्जा मन्थरा पर भयंकर शब्दों की बौछार करते हैं, क्योंकि वही इस अपराध के पीछे थी (रा. च. मा. २, १६३)। वाल्मीकि रामायण में यह दृश्य दशरथ की अन्त्येष्टि के पश्चात् आता है (२, ७८)। तुलसी ने यदि इसका स्थानान्तरण किया है तो निःसन्देह सामञ्जस्य की चिन्ता के कारण ही। यह कुछ कर्कश दृश्य अन्त्येष्टि के करुणापूर्ण विवरण के पश्चात् आता भला नहीं लगता; बल्कि कैकेयी के प्रति भरत के झुंझलाहटपूर्ण वार्तालाप के पश्चात् यह प्रसंग स्वाभाविक प्रतीत होता है।

---

[1] रा. च. मा. २, १५८, १।
[2] वही २, १५८, १।
[3] वही २, १६२, २।

तुलसीदास ने भरत तथा राम की माता कौसल्या के वार्तालाप में सर्वथा नवीनता ला दी है। वाल्मीकि रामायण में कौसल्या अपने सौतेले पुत्र भरत से कठोरता से बात करती हैं—

जिस राज्य का तुझे लोभ था वह तो अब तुझे मिल ही गया।[१]

बहुत प्रयास करके भरत अपनी सफ़ाई देते हैं और शपथ करके कहते हैं कि इस प्रपञ्च में उनका कोई हाथ नहीं था। हिन्दी रामायण में कौसल्या भरत पर सन्देह तो करती ही नहीं हैं बल्कि उन्हें सान्त्वना भी देती हैं और उन्हें स्नेह से हृदय से लगाती हैं—

सरल सुभाय माँयँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥[२]

और भरत के साथ वे भी विलाप करती हैं। बहुत गम्भीरता से भरत स्पष्ट करते हैं कि वे इस दुष्कर्म से सर्वदा अनभिज्ञ रहे पर उनका सारा स्पष्टीकरण व्यर्थ है क्योंकि कौसल्या को इसकी आवश्यकता ही नहीं। वे कहती हैं—

कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥
राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥[3]

स्पष्ट है कि तुलसी के लिये राम की माता कौसल्या उदार और साध्वी हैं और निर्दोषी भरत के विषय में उन्हें कोई सन्देह हो ही नहीं सकता।

मानस के अनुसार, दिवंगत राजा की देह को विमान पर रखते समय भरत ने सब माताओं के चरण पकड़ कर उन्हें "रोक" लिया। और उनके रुक जाने का कारण यही था कि उन्हें "राम के पुनर्दर्शन की अभिलाषा थी" (२, १७०, १)। स्पष्ट समझ में आता है कि यहाँ पर "सती" की प्रथा की ओर संकेत है—रानियों के इस संसार में रुके रहने की बात को जोड़ने से कवि का अभिप्राय यही था कि उन रानियों पर कोई आरोप न लगे, क्योंकि वे अपने पति की चिता पर आत्म-बलिदान करके राजा को अपने सतीत्व का प्रमाण केवल राम की भक्ति के कारण ही न दे सकीं।

अध्यात्म रामायण में भरत को सान्त्वना देने के लिए वशिष्ठ उन्हें एक दीर्घ दार्शनिक उपदेश देते हैं—

"महाराज दशरथ वृद्ध ज्ञानी और सत्य पराक्रमी थे, वे मनुष्य जन्म के समस्त सुख भोग कर बहुत सी दक्षिणा के सहित अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा भगवान का यजन कर और रामचन्द्र के रूप में साक्षात् विष्णु-भगवान को पुत्र रूप से पाकर अन्त में स्वर्गलोक में जाकर देवराज इन्द्र के आधे आसन के अधिकारी हुये हैं। वे सर्वथा अशोचनीय और मोक्ष के पात्र हैं, उनके लिए तुम वृथा ही शोक करते हो; देखो, आत्मा तो नित्य अविनाशी है, शुद्ध

---

[१] वा. रा. २, ७५, १०।
[२] रा. च. मा. २, १६५, १।
[3] वही, २, १६८ दोहा, १६९, १।

और जन्म-नाश आदि से रहित है। शरीर, जड़, अत्यन्त अपवित्र और नाशवान है। इस प्रकार विचार करने पर शोक के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़ जन ही उसके लिए छाती पीट कर रोते हैं। किन्तु इस असार संसार में यदि ज्ञानियों को किसी से वियोग होता है तो वह उनके लिए वैराग्य का कारण होता है और सुख तथा शान्ति का विस्तार करता है।

यदि किसी ने इस लोक में जन्म लिया है तो मृत्यु भी अवश्य ही उसके साथ लगी हुई है। अतः जन्म लेने वालों के लिये मृत्यु सर्वदा अनिवार्य है। अपने कर्मानुसार ही सब प्राणियों के जन्म मरण होते है, यह जानकर भी देखो मूढ़ लोग अपने बन्धु बान्धवों के लिए कैसे शोक करते हैं। करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट होगये, अनेकों सृष्टियाँ बीत गईं, ये सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जायँगे, फिर इस क्षणिक जीवन में भला क्या आस्था की जाय?

यह आयु हिलते हुये पत्ते की नोक पर लटकती हुई जल की बूंद के समान क्षणभंगुर है, असमय ही छोड़कर चली जाती है; उसका तुम क्या विश्वास करते हो?

इस जीवात्मा ने अपने पूर्वदेह कृत कर्मों से यह शरीर धारण किया है और फिर इस देह के कर्मों से यह और शरीर धारण करेगा। इसी प्रकार आत्मा को सदा पुनः पुनः देह की प्राप्ति होती रहती है। मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को उतार कर फिर नये वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार देह धारी जीव पुराने शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। अतः इसमें शोक का क्या कारण है? क्योंकि आत्मा तो न कभी मरता है न जन्मता है और न बढ़ता ही है। वह षड् भावविकारों से रहित, अनन्त, सच्चित्तस्वरूप, आनन्दरूप, बुद्धि आदि का साक्षी और अविनाशी है। वह परमात्मा एक, अद्वितीय और समभाव से स्थित है। इस प्रकार तुम आत्मा का दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर शोक रहित हो वा समस्त कार्य करो"।[१]

इसी प्रकार मानस में भी वशिष्ठ अवसरोपयुक्त विचार अभिव्यक्त करके भरत को सान्त्वना देते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥
तात बिचारु करहु मन माहीं। सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥
सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥

---

[१] अ. रा. २, ७, ९३-१०७।

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग ।।

बैखानस सोइ सोचै जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ।।[1]
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी । जननि जनक गुर बंधु बिरोधी ।।
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी । निज तनु पोषक निरदय भारी ।।
सोचनीय सबहीं बिधि सोई । जो न छाड़ि छलु हरि जन होई ।
सोचनीय नहिं कोसलराऊ । भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ।।
भयउ न अहइ न अब होनिहारा । भूप भरत जस पिता तुम्हारा ।।
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा । बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा ।।

कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु ।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु ।।

सब प्रकार भूपति बड़भागी । बादि बिषादु करिअ तेहि लागी ।।
यहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू । सिर धरि राज रजायसु करहू ।।[2]

अध्यात्म रामायण में विषय नितान्त दार्शनिक है—मानव जीवन क्षणिक है । परन्तु मृत्यु से केवल मूढ़ जनों को भय लगता है क्योंकि मृत्यु वास्तव में बाह्य है और केवल शरीर की होती है । कई शरीरों के परिवर्तन होने पर भी आत्मा सदा अपरिवर्तित रहती है । इस प्रकार आत्मा के कभी भी न मरने, न जन्म लेने, और निर्विकार रहने से भरत को शान्ति करनी चाहिये ।

यद्यपि तुलसीदास इन विचारों से सहमत हैं किन्तु वे इस विषय को विस्तार नहीं देते । मानस में वशिष्ठ दशरथ के गुणों को कहते हैं जिससे उनके राम जैसा पुत्र हुआ । इस गौरवपूर्ण सौभाग्य का कारण यही है कि उन्होंने अपनी गति के अनुरूप सारे कर्तव्यों का निर्वाह किया । यहाँ वशिष्ठ का व्याख्यान 'राज्य-धर्म' अथवा 'जाति-धर्म' जिसको 'लोक धर्म' कहा जा सकता है, की स्तुति प्रस्तुत करता है ।

वशिष्ठ के मुख में 'लोक-धर्म' की इस प्रशंसा से विदित होता है कि तुलसी कर्म-मार्ग की अवहेलना नहीं करते । परन्तु भरत और उनसे पूर्व लक्ष्मण, वशिष्ठ के तर्कों पर आचरण न करके, सम्पूर्ण वैराग्य व भक्ति के अपेक्षाकृत अधिक द्रुतगामी व निश्चित मार्ग को अपनाते हैं । वाल्मीकि रामायण (२, ९७, ७) में भरत, राजा घोषित करने वाले पार्षदों के सम्मुख अपनी कुलमर्यादा की घोषणा करते हैं जिसके अनुसार केवल ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी है । पर मानस में, उनके प्रस्ताव का उत्तर भरत ने राजकुमार के रूप में नहीं, अपितु ऐसे भक्त के रूप में दिया है जिसका सर्वस्व ही प्रभु की सेवा करना है—

---

[1] यहाँ पर चारों आश्रमों अथवा ब्राह्मण जीवन के चारों चरण—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यासी—के कर्तव्यों का संकेत है । उपर्युक्त विवरण में अन्तिम दो आश्रमों को व्यतिक्रम से दिया है ।

[2] रा. च. मा. २, १७१ दोहा; १७२, १७३, १७४, १ ।

बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू।।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा।।
जायँ जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई।।[1]

इसके अतिरिक्त सम्राट को तो निरपराधी होना चाहिए पर कैकेयी के पुत्र होने के नाते भरत इस पद के सर्वथा अयोग्य हैं क्योंकि वे ही इतनी महान् आपत्ति का अप्रत्यक्ष कारण हैं।

भरत की उदारता और राम के प्रति उनके प्रेम से वशिष्ठ का सारा संशय नष्ट हो गया और श्रोताओं का उत्साह बढ़ गया। सभी ने उनका अनुकरण करने की घोषणा की।

वाल्मीकि रामायण (२, ८३) में अपनी सारी सेना और बड़ी भीड़ के साथ भरत ने वन की ओर प्रस्थान किया। मानस के अनुसार अयोध्या की लगभग सारी ही जनता उनके साथ चल पड़ी—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ।।[2]

मानस में भरत की यात्रा का वर्णन राम की यात्रा के वर्णन के समान है, और यह समानता तुलसी ने जानबूझ कर रखनी चाही होगी। बोधपूर्वक अथवा अबोधपूर्वक, भरत अपने प्रिय भाई का ही अनुकरण करते हैं, भरत की मुद्रायें तथा आसन राम के से हैं, प्रत्येक बात में भरत उनकी ही नकल करते हैं। हिन्दी कवि ने कई ऐसी विशेषताएँ प्रस्तुत की हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त तथा उसके प्रभु में तादात्म्य है।

क्योंकि राम ने भी यात्रा पैदल की थी, इसलिये भरत ने भी वैसा करने का निर्णय किया, और शत्रुघ्न तथा सारे अयोध्यानिवासियों ने भरत की नकल की। तब कौसल्या बीच में पड़ती हैं और उन नगरनिवासियों पर दया करने के विचार से भरत को रथ पर चढ़ने को कहती हैं। राम की भक्ति के कारण, सब के सब नियम और व्रत का पालन करते हैं।

शृङ्गवेरपुर में निषादपति गुह से भरत की भेंट का वर्णन मानस में बहुत ही मौलिक ढंग से हुआ है। एक भारी सेना के आगे, भरत के आगमन की सूचना प्राप्त करके, गुह को शंका होती है और यह सन्देह होता है कि वे अपने भाई (राम) के अहित की अभिलाषा लिए वहाँ आये हैं। वाल्मीकि रामायण (२, ८४, ७) के अनुसार गुह निषादों को रास्तों की निगरानी करने व सन्नद्ध रहने का आदेश देता है। मानस में, वही गुह सूचना प्राप्त करने में समय नष्ट किये बिना ही अपनी सारी जाति को सन्नद्ध रहने का आदेश देता है और सब निषाद उत्साहसहित युद्ध की तय्यारी करते हैं (२, १९०-१९२)। इस प्रसंग से दीन निषादों व उनके राजा की राम के कार्य में तत्परता का ज्ञान होता है। यहाँ युद्ध की तय्यारी का वर्णन सजीव है, उसमें शस्त्रास्त्रों की झनझनाहट, सेनापति का उत्तेजक भाषण, सैनिकों की पुकार, किसी भी चीज़ की कमी नहीं रह जाती, नये सैनिक वेष में इन उत्तेजित योधाओं का वर्णन पढ़कर प्राचीन राजपूत आलेखों में वर्णित कवच पहिने योधाओं का स्मरण हो आता है।

---

[1] रा. च. मा. २, १७८, २–३।
[2] वही, २, १८५, दोहा।

अध्यात्म रामायण में, राम द्वारा गुह के आलिंगन का स्मरण करके, भरत चरणों में पड़े गुह को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं (१, ८, २२-२३)। तुलसी ने भी भरत तथा गुह के भावोद्गारों का वर्णन करके निष्कर्ष निकाला है कि यदि भरत ने इस नीच तथा अपवित्र निषाद को इतने स्नेह से हृदय से लगाया और उनपर इसका कोई पाप नहीं हुआ तो इसलिए कि राम के स्पर्श से उसका शरीर पहिले ही पवित्र हो चुका था।

जिन जिन स्थानों से होकर राम गये थे वे सभी स्थान भरत के लिये पवित्र हैं। भरत की वनयात्रा एक प्रकार की तीर्थयात्रा है। रामघाट, अर्थात् जिस घाट पर रामने स्नान किया था, की पूजा के पश्चात्, भरत वह स्थान देखते हैं जहाँ अशोक वृक्ष की छाया में सीता व राम ने रात्रि व्यतीत की थी। इस साधारण स्थान के दर्शन के पश्चात् भरत ने गुह के समान विलाप किया। फिर गुह ने भरत को वैसे ही सान्त्वना दी जैसे लक्ष्मण ने उसे सान्त्वना दी थी।[१]

वाल्मीकि रामायण (२, ९०, २) में, गंगा को प्रयाग के पास पार करके भरत भरद्वाज आश्रम पैदल ही जाते हैं। मानस में भी भरत पैदल चलते हैं पर वह राम की नकल करने के लिए—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥[२]

राम के समान, भरत भी पवित्र सङ्गम पर पूजा करते हैं। वे 'तीर्थ राज' प्रयाग से केवल यही प्रार्थना करते हैं कि रामभक्ति में उनकी स्थिरता रहे। पवित्र त्रिवेणी से एक ध्वनि आती है जो भरत के प्रताप व उनके प्रति राम के प्रेम की घोषणा करती है। उसके बाद भरद्वाज ऋषि भी भरत की अद्भुत भक्ति की चर्चा करते हैं। इस सब का वाल्मीकि रामायण में कोई उल्लेख नहीं। त्रिवेणी से, और भरद्वाज ऋषि से, भरत की पुण्य भेंट का विवरण तुलसीदास की देन हैं।

वाल्मीकि रामायण (२, ९१) में भरत का जो भव्य स्वागत भरद्वाज ऋषि ने किया उसका वर्णन रामचरितमानस में भी उपलब्ध है। पर तुलसीदास ने यह स्पष्ट कहा है कि भरत का मन उत्सव में भाग लेने का नहीं था, पर दूसरी ओर वे ऋषि को भी रुष्ट करना नहीं चाहते थे। ऋषि भरद्वाज अपनी सारी शक्ति का प्रयोग करके अतिथि के सत्कार का आयोजन करते हैं पर इन अपूर्व बातों से भरत उदासीन रहते हैं (रा. च. मा. २, २१३–२१५)।

भरत तथा उनके साथी यमुनातट पर वास करते हैं और अगले दिन प्रातःकाल गुह तथा उसके निषाद उन्हें यमुना पार कराते हैं। उस ही नदी के दक्षिण तट पर हम देख चुके हैं, राम ने गुह को विदा किया था और अपने घर लौटा दिया था (२, १११, दोहा)। परन्तु भरत गुह को वापस जाने को नहीं कहते। गुह उनके साथ चित्रकूट तक जाता है। यहाँ से सब पुनः एकत्र होकर प्रस्थान करते हैं—

आगें मुनिबर बाहन आछें। राजसमाज जाइ सबु पाछें॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। . . . . ॥[३]

---

[१] दे० "लक्ष्मण गीता"—२, ९२-९३, ऊपर पृ० १५४-१५५।
[२] रा. च. मा. २, २०३, ३।
[३] वही २, २२१, ३-४।

पथप्रदर्शक के नाते गुह निःसन्देह सबसे आगे चलता है पर यह स्पष्ट नहीं किया गया। यहाँ पर भरत व शत्रुघ्न के साथ अमात्यपुत्र के चलने का पहली बार उल्लेख हुआ है। इन दोनों राजकुमारों को उस सारी भीड़ से अलग करके और सुमंत्र के पुत्र के साथ चलते हुये बताकर, कवि यहाँ भरत को सुमंत्र के साथ राम व लक्ष्मण के समान बताने का इच्छुक रहा होगा। यह समानता इतनी सम्पूर्ण है कि मार्ग में रहने वाले स्त्री-पुरुष, जो उन्हें देखने के लिये भागे आते हैं, उनको देखकर अवाक् रह जाते हैं। एक ग्रामीण नारी दूसरी से कहती है—

> रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं ॥
> बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली ॥
> बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगें अनी चली चतुरंगा ॥
> नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा ॥[1]

वाल्मीकि रामायण (२, ७९, ९) के अनुसार भरत वन में अपनी चतुरङ्गिनी सेना के साथ प्रस्थान करते हैं। मानस में भरत की सैनिक तय्यारियों का उल्लेख नहीं हुआ, अतः भरत के असैनिक साथियों के सम्बन्ध में मानस में 'चतुरङ्ग' शब्द का प्रयोग वाल्मीकि रामायण की प्रतिध्वनि है।

भरत व उनके साथियों का चित्रकूट के समीप वास करने का विवरण देने के बाद, तुलसी हमें राम के आश्रम में पहुँचा देते हैं और स्थल-परिवर्तन का संकेत स्थान सूचक अव्यय से कराते हैं—

> उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे . . . . . . ॥[2]

रात को सीता ने स्वप्न देखा मानो समाज सहित भरत वहाँ आगये हों। सीता ने राम को यह स्वप्न कह सुनाया। इस भावी वृत्तान्त के सत्य की पुष्टि वन के निवासी कोल तथा किरातों ने की, जो अपने मित्र राम को चेतावनी देने वहाँ आये—यह सब तुलसीदास का आविष्कार है। साथ ही, मानस के लेखक ने चित्रकूट में भरत के आगमन को भी अपनी प्रतिभा के अनुसार विकसित किया है।

गुह भरत को राम की कुटी का मार्ग दिखाता है, पर भूमि पर राम के पद चिन्हों को देखकर उसके भावावेग का ठिकाना नहीं रहता, यहाँ तक कि वह पथभ्रष्ट हो जाता है। यह एक असम्भव सी बात है क्योंकि यात्रियों को तो राम की कुटिया वहाँ से दिखाई देती थी। अन्त में, भरत राम की कुटिया में प्रवेश करते हैं पर झाड़ियों के कारण राम उन्हें देख नहीं पाये। राम बैठे हैं, उनके पास ही सीता बैठी हैं और लक्ष्मण खड़े हैं। उनको देखकर भरत अपने को वश में न कर सके और "हे नाथ, रक्षा कीजिए, हे गुसाईं, रक्षा कीजिए," कहकर भूमि पर गिर पड़े! लक्ष्मण इसको सुनकर पहचान जाते हैं कि यह उनके भाई भरत की ध्वनि है। पर राम के प्रति आदरभाव होने के कारण वे किं कर्तव्य विमूढ़ रह जाते हैं। और अन्त में राम को बताते हैं कि भरत उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। यह सुनते ही रघुनाथ प्रेम में अधीर होकर उठजाते हैं . . . . . . (२, २३८—२४०)। मानस के इस सम्पूर्ण दृश्य में स्वाभाविकता का अभाव

---

[1] रा. च. मा. २, २२२, १-२।

[2] [illegible]

है, इसमें करुण रस का समावेश करने के लिए तुलसीदास ने ऐसी कई बातें देने में संकोच नहीं किया जो बहुत ही असम्भावनीय लगती हैं।

द्वितीय अङ्क—चित्रकूट में भरत (२, २४२–३२६)

चित्रकूट में भरत के आगमन से लेकर उनके अयोध्या लौट जाने तक की घटनाओं का विवरण वाल्मीकि रामायण में केवल १६ सर्गों (२, ९९—११५) में दिया गया है। परन्तु मानस में इस विवरण को ९० पद्यों में दिया गया है; दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि मानस के अयोध्याकाण्ड का एक तिहाई भाग इस विवरण ने ले लिया है। इस प्रसंग में वाल्मीकि कथा को आधार मान लिया जाय और मानस में उसके "विकास" की कल्पना की जाय, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वाल्मीकि व अध्यात्म रामायण की तुलना में, तुलसीदास ने यहाँ बहुत स्वतंत्रता से और विस्तार से कई आविष्कार किये हैं।

अपने आश्रम से निकलकर राम, गुह के साथ मन्दाकिनी के तट पर गये, जहाँ उनके गुरु वशिष्ठ, रानी मातायें और अयोध्या के निवासी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आश्रम में सीता को उन्होंने शत्रुघ्न के साथ छोड़ दिया। दर्शन करने पर राम व लक्ष्मण गुरु के चरणों में पड़े और गुरु ने उन्हें हृदय से लगा लिया। फिर गुह की बारी थी—

> प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
> रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥[1]

वशिष्ठ के सामने गुह ऐसे उपस्थित होता है मानो ऋषि ने उसे कभी देखा ही न हो। पर निषाद-पति तो भरत तथा उनके साथियों के आगमन पर शृङ्गवेरपुर में ही उपस्थित था, और वहीं पर गुह और वशिष्ठ की प्रथम बार भेंट हुई थी—

> देखि दूरि तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥
> जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥[2]

इस दीन गुह के प्रति भरत के समान, वशिष्ठ के स्नेह तथा उस नीच का आलिङ्गन करते हुये धर्म का उल्लंघन भी न करना रामभक्ति की पावन शक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है—

> रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥
> एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

---

[1] रा. च. मा. २, २४३, ३। गुह को ही यहाँ केवट कहा गया है।

[2] रा. च. मा. २, १९३, ३।

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥[१]

कदाचित् गुह तथा लक्ष्मण में तुलना करने के विचार से तुल्सी ने इस द्वितीय वशिष्ठ-निषाद मिलन को दिया है यद्यपि यह प्रसंग वास्तविक प्रतीत नहीं होता।[२] हमारे विचार में, कि गुह ने भरत के साथ चित्रकूट तक यात्रा की थी, यह भूलकर तुलसी ने यहाँ पर त्रुटि नहीं की। इस प्रकार की त्रुटि कम सम्भव है। सम्भावना यह है कि एक ही प्रसंग के महत्व को रेखाङ्कित करने के लिए तुल्सीदास ने उसकी पुनरावृत्ति करते संकोच नहीं किया। अयोध्या काण्ड के इस भाग में, प्रसङ्गो का क्रम व पारस्परिक महत्व उनके धार्मिक अभिप्राय पर निर्भर है।

वाल्मीकि रामायण (२, १०३, ४७) में सब दुखी नागरिकों को देख कर राम, माता पिता के समान स्नेहपूर्वक उनका आलिंगन करते हैं। पर मानस में राम ने उन सब को एक ही बार में आलिंगन कर लिया—

सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुव दाहू॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥[3]

फिर, राम व लक्ष्मण रानियों को और सब से पहले कैकेयी को अभिवादन करने जाते हैं। "उसके चरणों पर गिर कर" व "काल, कर्म और विधाता के सिर दोष मँढ़कर"[४] राम ने उन्हें सान्त्वना दी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कैकेयी अपने अपराध का पश्चात्ताप कर चुकी थी।

वाल्मीकिरामायण में कैकेयी के पश्चात्ताप का और राम के उसे क्षमा कर देने का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत, अध्यात्मरामायण में कहा गया हैं कि जिस समय भरत तथा उनके साथी चित्रकूट को छोड़कर अयोध्या वापस जाने को थे तो कैकेयी राम को परब्रह्म-स्वरूप मानकर उनके चरणों में पड़ती है और उनसे क्षमा मांगती है। तब राम उसे सान्त्वना देते हैं और उसे यह कहकर क्षमा करते हैं कि "देवता ओं की कार्य सिद्धि के लिये सरस्वती के स्थान पर तुम निमित्त बनी" (२, ९, ६३)। तुल्सीदास के अनुसार, कैकेयी पश्चात्ताप से पूर्ण है (२, २५२, ३-४), पर क्षमा याचना से पहले ही राम उसके अपराध को क्षमा करदेते हैं। वास्तव में वे अन्यरानियों की अपेक्षा कैकेयी के प्रति अधिक आदर प्रदर्शित करते हैं और कैकेयी के आगमन तथा प्रस्थान पर उसको दण्डवत् प्रणाम करते हैं। वस्तुतः कैकेयी की यह पुन: प्रतिष्ठापना है।

---

[१] वही २, २४३, ४ दोहा।

[२] दे० मा० प्र० गुप्त (तुल्सीदास ३३५-३३६) के अनुसार यह मिलन तुलसी की भूल के कारण हुआ।

[3] रा. च. मा, २, २४४, २।

[४] रा. च. मा. २, २४४, ४।

वाल्मीकिरामायण (२, १०१) में राम को दशरथ के देहावसान की सूचना भरत देते हैं। पर अध्यात्मरामायण (२, ९, १२-१३) के समान, मानस (२, २४७) में, वशिष्ठ बहुत सावधानी से राम को यह सूचना देते हैं। दूसरे दिन, अपने गुरु के निर्देशन में राम क्रिया करते हैं और उसके उपरान्त स्नान करके शुद्ध होते हैं। यहाँ पर कवि ने विशेषतया कहा है कि "जिन राम के नाम से पाप ऐसे भस्म हो जाते हैं जैसे रुई, तो उनके लिए शुद्धि अनावश्यक थी"।

मानस में वन के दीन निवासी, कोल और किरात, अयोध्या निवासियों के आगमन पर उत्सव मनाते हैं। सीता "अनेक रूप" लेकर अपनी सासों की सेवा करती हैं—

सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥[1]

सीता के इसप्रकार के अनेक अद्भुत रूप, उपर्युक्त (२, २४४, २) राम के अनेक रूपों के समान है। सारे अयोध्या काण्ड में बस एक इसी अद्भुत घटना का सम्बन्ध सीता से है। "सियामाया" से यहाँ उस "योग माया" का अभिप्राय है जिसका उल्लेख भागवत-पुराण में है; और अध्यात्म रामायण में भी बताया गया है कि सीता इस 'योग माया' का ही अवतार है![2] यहाँ पर अभिप्राय क्या है यह स्पष्ट नहीं।

राम व भरत, दोनों ही, सिंहासन एक दूसरे को अर्पित करने के इच्छुक हैं। इस विषय में उनके बीच, चित्रकूट में हुये संवाद का विवरण वाल्मीकि ने रामायण के अयोध्या काण्ड, सर्ग १०६ से ११३ तक मे दिया है। और संवाद में इन दोनों भाइयों के अतिरिक्त दो ब्राह्मण भी भाग लेते हैं— "भौतिक" जाबालि सिंहासन स्वीकार करने के पक्ष में राम के सम्मुख विशिष्ट तर्कों को प्रस्तुत करता है और कहता है कि रामको "वचनों" का कोई पक्ष नहीं होना चाहिए (१०८)। इस पर राम के आपत्ति करने पर (१०९) जाबालि क्षमा मांगता है। तदुपरान्त वशिष्ठ बीच में पड़ते हैं। वे इक्ष्वाकु कुल की वंशावली बताने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राम को ही उत्तराधिकारी होना चाहिए, इसके साथ साथ माता कौसल्या के आदेश को स्वीकार करना भी राम का कर्तव्य है। तत्पश्चात् भरत एक बार पुनः राम से आग्रह करते हैं और राम उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते (११०-१११)। तब रावण को पराजित करने के लिये, देवगण भरत से अधिक आग्रह न करने की प्रार्थना करते हैं। भरत एक बार फिर राम से अनुरोध करते हैं और ये उनकी बात नहीं मानते। अन्त में भरत को राम की बात माननी ही पड़ती है, भरत रामके पादुकों की याचना करते हैं और उन्हें शिरोधार्य करते हैं (११२)।

मानस में यह प्रसंग इससे भी अधिक विस्तृत है, पर वाल्मीकि या अध्यात्म रामायण का उस पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं। इसके अतिरिक्त, यह भी प्रतीत नहीं होता कि तुलसीदास ने किसी अन्य आधार का आश्रय लिया हो। यहाँ "स्रोत" का प्रश्न तो कठिनाई से उठता है; एकमात्र वास्त-

---

[1] वही २, २५२, १-२।
[2] दे० ऊपर पृ० १२१।

विक स्रोत, कवि की प्रतिभा ही प्रतीत होती है, केवल उस प्रतिभा में स्फूर्ति व प्रेरणा तुलसी की धार्मिक श्रद्धा से आई। राम व भरत के इस वाद-विवाद के विभिन्न पक्षों का सम्बन्ध एक आन्तरिक तर्क से जुड़ा हैं, और यह तर्क भक्ति पर आश्रित है, इससे सभी पात्र और विशेषकर भरत प्रेरित होते हैं, वे ही सर्वोत्तम भक्त हैं, वे ही राम के प्रेम की मूर्ति हैं।

परन्तु मानस के २५३ वें पद्य से लेकर ३०७ वें पद्य तक के इस वाद-विवाद को तुलसीदास ने नितान्त नवीनता प्रदान की है। यहाँ पर उपस्थित पात्रों में राम, भरत व वशिष्ठ हैं और बाद में मिथिला से चित्रकूट आये हुये राजा जनक भी सम्मिलित होते हैं। वाल्मीकि रामायण का "कुपथ प्रदर्शक" जाबालि यहाँ प्रस्तुत नहीं हुआ है। इस पर से कि कहीं भरत राम को अयोध्या वापस ले जाकर उनकी कार्यसिद्धि में बाधा न करें, देवगण कई बार बीच में पड़ने का प्रयास करते हैं, परन्तु उनके सारे छल निष्फल होते हैं। रानियों भी व्यर्थ में ही व्याकुल होती हैं। परिषद के सदस्य ब्राह्मणों से जब उनका मत पूछा जाता है तो वे मौन रहते हैं। सर्वप्रथम वशिष्ठ यह प्रस्ताव करते हैं कि राम अयोध्या लौट जायँ और भरत वन में उनका स्थान लेलें। परन्तु अपने प्रस्ताव का समर्थन कराने के स्थान पर वे स्वयं ही राम पर, और फिर राम भरत पर, सम्पूर्ण निर्णय छोड़ देते हैं। भक्त भरत का अपने प्रभु राम के हृदय में सर्वशक्तिशाली स्थान है और उनकी इच्छा वैसी ही होगी जैसी राम चाहेंगे, यही कारण है कि बहुत संकोच तथा विलाप करने के बाद भी भरत निश्चय नहीं कर पाते। जिस समय जनक के दूत, राजा के चित्रकूट में आगमन की सूचना देते हैं तो यह संवाद विवादग्रस्त अवस्था में था।

वाल्मीकि व अध्यात्म रामायण दोनों में ही जनक के इस वादविवाद में सम्मिलित होने की बात नहीं आती। मानस में भी जनक के आगमन के सुस्पष्ट कारण नहीं दिये गये। हमें केवल इतना विदित है कि दशरथ की मृत्यु और राम के प्रवास की सूचना से जनक बहुत दुःखी हैं। वे उसीं समये अमात्यों तथा विद्वानों की सभा बुलाते हैं—

> नृप बूझे बुध सचिव समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू ॥
> समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिअ कि रहिअ न कह कछु कोऊ ॥[1]

भरत के कर्मों तथा उनके ढंग को देखने के लिए जनक ने गुप्तचरों को अयोध्या भेजा। भरत के चित्रकूट को प्रस्थान करते हो गुप्तचर लौट कर जनक को सारा हाल सुनाते हैं जिससे जनक स्नेह-विह्वल होगये। वे स्वयं भी प्रस्थान का निश्चय करते हैं और तय्यारी कराते हैं। परन्तु हमें यह नहीं बताया गया कि जनक प्रस्थान क्यों करते हैं। क्या इसलिए कि राम से उनका संबन्ध जुड़ा था और उन्हें भरत की ओर से आशंका थी? अयोध्या में गुप्तचर भेजने से तो इस आशंका की पुष्टि ही होती है परन्तु उन गुप्तचरों की वार्ता से जनक को आश्वासन हो जाना चाहिए था। अतः प्रतीत होता है कि जनक के प्रस्थान का वास्तविक कारण उनकी राम के प्रति भक्ति ही थी, उन्हें राम से मिलने की और भरत के अद्भुत पावन चरित को जानने की उत्सुकता थी। इस समय जनक के सामने एक समस्या भी थी, एक ओर राम-भक्ति और दूसरी ओर राजधर्म। यदि वे वन को प्रस्थान करते हैं तो

---

[1] रा च. मा. २ २७१, ३।

अयोध्या के समान उनके राज्य का भी कोई पालक नहीं रहता। जनक व अमात्यों इत्यादि की सभा और उनके विचार विमर्श का कारण हमें स्पष्ट ज्ञात नहीं होता पर इस सभा की तुलना भरत द्वारा आयोजित सभा से होसकती है और इस प्रकार का सबोध अंग संयोग (सिमेट्री) अयोध्या के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और सार्थक भी प्रतीत होने लगता है।

दोनों ही परिस्थितियों में वाद-विवाद का विषय एक ही है: क्या जाति के कर्तव्य से भक्ति अधिक ऊँची है। परन्तु इस विचार विमर्श से सिद्ध यह होता है कि उसका निर्णय सरलता से नहीं होगया, और यदि भक्त अपने स्वाभाविक कर्तव्य को प्रभु की भक्ति के अधीन करदेता है तो इससे यह अभिप्राय नहीं निकलता कि वह अपने कर्तव्य से विमुख है, उदाहरणत: हम देखते हैं कि भरत के समान जनक भी वन को प्रस्थान करते समय प्रासाद, नगरी तथा राज्य की देखरेख के लिये अधिकारी नियुक्त करते हैं (२, २७२, २)।

भरत का चित्रकूट में पर्यटन और अत्रि ऋषि की उपस्थिति, मानस के ऐसे प्रसंग हैं जो वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में उपलब्ध नहीं। अत्रि ऋषि, रामाभिषेक के लिए लाया भिन्न तीर्थों का जल एक कुंये में डाल देने का भरत से उपदेश करते हैं, वे इस कुंयें की प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह कुंआ उनके शिष्यों ने एक ऐसे पवित्र स्थान में खोदा है जिसका महत्व लोग भूल बैठे थे; ऐसा करने के पश्चात् इस कूप का नाम 'भरत कूप' होगया। इस प्रकार का विचित्र प्रसंग कदाचित् इस नाम के किसी तीर्थ के प्रति तुलसीदास की श्रद्धा भावना से प्रेरित हुआ होगा जब तुलसीदास इस प्रदेश में पर्यटन कर रहे होंगे तो उन्होंने कोई स्थानिक कथा सुनी होगी और यहाँ पर नि:सन्देह उस ही कथा की ध्वनि है।

राम सीता व लक्ष्मण जब भरत के साथियों को विदा देते हैं तो इन साथियों में तुलसीदास ने वशिष्ठ, विश्वामित्र, व जाबालि के नामों की गणना की है। यह जाबालि वही है जो वाल्मीकि रामायण में (२, १०८), राम को पथभ्रष्टकर रहा था। परन्तु मानस में जाबालि बीच में कहीं आया ही नहीं। अत: इस स्थान पर उसके नाम का उल्लेख वाल्मीकि रामायण की प्रतिध्वनि है (यद्यपि टैसीटोरी ने इसका निर्देश नहीं किया)।

अपने सब सम्बन्धियों तथा मित्रों को विदा करने के पश्चात् राम निषादराज गुह को विदा करते हैं। भरत और जनक दोनों ही अयोध्या की ओर साथ साथ प्रस्थान करते हैं। गंगा के तट पर शृङ्गवेर पहुँचने पर, जैसे चित्रकूट जाते समय वैसे ही वापसी पर भी वे गुह के अतिथि हैं। अत: यद्यपि गुह चित्रकूट से उनके बाद लौटा किन्तु वह इन सबसे पहले वहाँ पहुँच गया। मानस के अयोध्याकाण्ड में इस पात्र को एक ही साथ कई स्थानों में उपस्थित होने की क्षमता प्रदान की है। इससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास के विचार में गंगा पार करने के लिए शृङ्गवेर पुर से होकर गुजारना और निषादराज से मिलना आवश्यक रहा होगा रामकथा के सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए यह मानना आवश्यक है।

जनक भरत के साथ अयोध्या तक जाते हैं, और वहाँ वे शासन व्यवस्था करते हैं। एक विदेशी राजा के लिए ऐसा करना कुछ असाधारण सी बात है, पर तुलसीदास के विचार में इसमें न तो कोई अचम्भे की बात है और न कोई असाधारणता है: राम की भक्ति सब सीमाओं को भंग करासकती है, जनक की रामभक्ति उन्हें अयोध्या पर भी अधिकार रखने की क्षमता प्रदान करती है।

राज्य शासन से अवकाश पाकर तपस्या के इच्छुक भरत शासन का भार अपने गुरु तथा ब्राह्मणों को सौंप देते हैं; राजकुमार होने के नाते भरत का कर्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करे, परन्तु अद्भुत शक्ति के कारण वे सब सामान्यनियमों से ऊपर हैं। यही विचार वशिष्ठ का है जो भरत की प्रार्थना के उत्तर में कहते हैं—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई ॥[१]

वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण के समान मानस में भी (प्रतीक के रूप में) राम की चरण पादुकाओं को सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके भरत नन्दिग्राम के आश्रम में जाते हैं।

वाल्मीकि रामायण के बंगाली संस्करण के समान (२, १२७, नन्दीग्राम निवास, वा. रा. "ख" संस्करण), मानस में भी भरत के नन्दिग्राम में निवास के साथ अयोध्या काण्ड समाप्त होता है। इसके दूसरी ओर वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण में अयोध्या काण्ड के अन्तिम ४ सर्गों में (२, ११६-११९) चित्रकूट के वन का दृश्य है। इन सर्गों में राक्षसों के अत्याचारों का, सीता की अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया के साथ भेंट का, और अयोध्या काण्ड के अन्त में राम के आश्रम में हुई सन्ध्या का अतिसुन्दर वर्णन है।

टैसीटोरी का विचार है कि तुलसीदास ने यहाँ वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण का अनुकरण किया है।[२] परन्तु मानस के अयोध्या काण्ड में भरत के चरित्र के महत्व को (और स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण के सभी संस्करणों की अपेक्षा तुलसी ने भरत को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है), ओर "भरत चरित" के विकास को देते हुये, अधिक सम्भव यह है कि अयोध्या और आरण्यकाण्ड के बीच इस विभाजक रेखा को आन्तरिक सुविधा के कारण अपनाया गया होगा! और यदि मानस और वाल्मीकि रामायण के बंगाली संस्करण में इससे समानता होगई है तो वह केवल संयोग की बात है।

मानस के अयोध्याकाण्ड में 'नन्दी ग्राम निवास' के अन्तिम प्रसंग का विशेष विकास हुआ है और उसका अन्त राम के सर्वश्रेष्ठ भक्त भरत को ही एक प्रकार से पृथक दिव्य पुरुष बनादेता है। अयोध्याकाण्ड के अन्तिम (३२६ वें) पद्य में 'भरत चरित' के गुणों की महिमा गाई है और उसकी तुलना "महामोह रूपी रात्रि को नष्ट करने के लिए सूर्य" और "पाप समूह रूपी हाथी के लिए सिंह" से भी है। भरत विश्व के सम्मुख राम भक्ति का सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम आदर्श हैं और उन्होंने "दुःख, सन्ताप दरिद्रता, दम्भ, और पापों" का सर्वदा के लिए नाश कर दिया।[३]

मानस के इस अंश में भरत को जो महत्व प्राप्त हुआ है, वह एक ऐसी कविता में कुछ आश्चर्य जनक है जिसका प्रणयन केवल राम की प्रशंसा के लिए हुआ। कई समालोचक इस विषमता को रेखाङ्कित करना नहीं भूले हैं। हमारे विचार में यह विषमता केवल ऊपरी ही है—तुलसी ने भरत को "राम भक्तों" में से सर्वोत्तम और राम-भक्ति का अवतार तक माना है। भरत के साधु-चरित का गौरव बता कर, वास्तव में, तुलसी ने राम की ही प्रशंसा की है। जिस भरत-भक्ति का

---

[१] रा. च. मा. २, ३२३, ४।
[२] इं. एं. ४१ (१९१२) पृ० २८१।
[३] रा. च. मा. २, ३२६, ३-४ और छन्द।

उपदेश तुलसी ने किया है वह वास्तव में "राम व सीता के चरणों की भक्ति" का साधन है। भरत वह जलप्रवाह है जिससे भक्त राम तक पहुँच जाता है, उसमें राम भक्ति का अमृत भरा है और इसी से सम्पूर्ण विश्व राम को पाने को समर्थ है।

अयोध्याकाण्ड के अन्तिम (३२६ वें) पद्य के सोरठे से इसका उपसंहार होता है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

"तुलसीदास कहते हैं—जो कोई भरत के चरित्र को नियम से आदर पूर्वक सुनेंगे, उनको अवश्य ही सीता-राम के चरणों में प्रेम होगा और सांसरिक विषय रस से वैराग्य हो गा।"

अयोध्याकाण्ड का ऐसा उपसंहार, बालकाण्ड[1] के उपसंहार के सदृश है। बालकाण्ड के समान यहाँ भी अन्तिम पद्य के छन्द के उपरान्त सोरठे से ही इस काण्ड की समाप्ति होती है। दोनों काण्डों में, यह अन्तिम सोरठा एक प्रकार की "फलस्तुति" है, अर्थात् कविता के पाठ तथा श्रवण से जो लाभ होता है वह इस सोरठे में अभिव्यक्त है। पर यहाँ पर अन्तिम पांच काण्डों के समान राम की पूजा करने का कोई उपदेश नहीं है। दोनों ही सौरठों (बालकाण्ड ३६१; अयोध्याकाण्ड ३२६) का सम्पूर्ण काण्ड की समाप्ति से इतना सम्बन्ध नहीं जितना उसके एक भाग से है क्योंकि बालकाण्ड के उपसंहार में 'राम-सीता-विवाह' का और अयोध्याकाण्ड में 'भरत चरित' का संकेत है।

अयोध्याकाण्ड की पुष्पिका का भी बालकाण्ड के पुष्पिका के समान है—

"इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने द्वितीयः सोपानः समाप्तः।"
"कलियुग के सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले श्रीरामचरितमानस का यह दूसरा सोपान समाप्त हुआ।"[2]

परन्तु अयोध्या काण्ड में "रामचरितमानस" शब्द का कभी कोई उल्लेख नहीं हुआ। बालकाण्ड के समान अयोध्या काण्ड की पुष्पिका अवशिष्ट ५ काण्डों की पुष्पिकाओं के आधार पर पुनः बनी होगी। उन पांचों पुष्पिकाओं में प्रत्येक काण्ड का नाम और उनके आध्यात्मिक कल्याण का संकेत है। बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड की पुष्पिकाएँ इस बात अपवाद हैं क्योंकि काण्डों का विशेष नाम दिए बिना उन्हें रामचरितमानस का क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय सोपान कहा गया है। निःसन्देह इसीकारण ग्रियर्सन ने अनुमान किया था कि प्रथम दो काण्डों की पुष्पिकाएँ अन्तिम ५ काण्डों की पुष्पिकाओं के आधार पर पुनः जोड़ी गई।[3]

---

[1] दे० अध्याय ६ पृ० १२२।

[2] दे० अध्याय ६ पृ० १२६!

[3] "मि. वै. लि. हि. (फिरहान्द्लुंगन डैस VII। इन्टरनास्योनालिन ओरियन्टलिस्टन कौंग्रेस, वीन, १८-८८, आरिषे सैक्स्योन पृ० १५७ इत्यादि)।

पर यदि तुलसीदास ने मानस के इन दोनों काण्डों में पुष्पिकाओं को जोड़ा, तो अन्य ५ काण्डों के समान उन्होंने इन में प्रत्येक काण्ड के नामों का निर्देश भी क्यों नहीं किया? कदाचित् इसलिए कि इन दोनों काण्डों को पहले से ही नाम दे दिया जाचुका था और उनको उपसंहार में स्पष्टतया व्यक्त भी कर दिया गया था। पहिले काण्ड का नाम "राम-सीता-विवाह" और दूसरे का नाम "भरत चरित" था।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं बालकाण्ड के उपसंहार और उसके नाम का विशदीकरण "जानकी मंगल" की पूर्ववर्तिता से हो जाता है।[1] परन्तु तुलसी ने मानस के दूसरे काण्ड को "भरत-चरित" नाम क्यों दिया? यह नाम इस काण्ड के उत्तरार्ध के लिये ही उपयुक्त प्रतीत होता हैं क्योंकि इस भाग में भरत ही वास्तविक नायक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या जैसे मानस के बालकाण्ड के लिए "जानकी मंगल" की, वैसे ही अयोध्याकाण्ड के लिए किसी 'भरत चरित' की सत्ता को मानना होगा? परन्तु ऐसी किसी कृति की पूर्व सत्ता नितान्त काल्पनिक है क्योंकि अयोध्याकाण्ड शैली तथा विषय दोनों ही की दृष्टि से विशेषतया एकविषयक है। कथानकों के पौर्वापर्य की आन्तरिक एकरूपता के कारण इस काण्ड की रचना की एकता में हम सन्देह नहीं कर सकते। कदाचित् इस एकरूपता से ही कथा तथा उसके नाम की विषयता को समझा जासके। इस काण्ड में तुलसीदास का मुख्य ध्येय भरत के द्वारा सर्वोत्कृष्ट भक्त का चरित्र चित्रण करना था और भरत की कथा राम के वनवास की कथा से पृथक् नहीं है। दूसरी ओर राम से पूर्ण समानता ही, भरत की साधुवृत्ति का ज्वलन्त लक्षण है, क्योंकि भरत, राम का सब प्रकार से अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं, इस विधि, मानस में अयोध्या काण्ड एकप्रकार का युग्मचित्र है जिसका पहला भाग मानो दूसरे भाग की भूमिका हो।

३—अयोध्या काण्ड की विशेषताएँ

रामचरितमानस के सारे काण्डों में से केवल अयोध्याकाण्ड ही ऐसा है जिसमें वर्णनात्मक अंश की अधिक प्रधानता है, सत्य तो यह है कि केवल इस ही काण्ड में कथा का सामञ्जस्यपूर्ण विकास हुआ है। अयोध्याकाण्ड के बाद के ३ काण्ड बहुत ही संक्षिप्त हैं और इनमें वर्णन की अपेक्षा उपदेशात्मकता की प्रमुखता है। उत्तरकाण्ड एक तो रामकथा के नितान्त बाह्य है और फिर वह लगभग सम्पूर्णतया उपदेशात्मक है। बालकाण्ड के अन्तिम भाग में कथा की प्रचुर प्रगति हुई है परन्तु उसके अवाल्मीकिय आधार अनेक हैं। इसके विपरीत, अयोध्या काण्ड में, तुलसी ने वाल्मीकि तथा अध्यात्मरामयण से आई परम्परागत कथा का अनुकरण किया है; प्रतीत होता है कि ओध्याकाण्ड में, मानस के रचयिता ने, अन्य सब आधारों की छोड़कर केवल इन दो आधारों का ही आश्रय लिया है।

पर तुलसीदास ने वास्तव में इन दोनों में से किस आधार का अनुकरण किया है, इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि अध्यात्म रामायण में वर्णित कथा वाल्मीकि रामायण के दक्षिणी संस्करण की कथा का संक्षेपमात्र है। और मानस में कई ऐसे स्थल हैं जो प्रत्यक्षतया वाल्मीकि रामायण से लिए प्रतीत होते हैं। अयोध्याकाण्ड के अवतरणों के विश्लेषण से टैसीटोरीने उनमें "वाल्मीकि की

---

[1] दे० अध्याय ६ पृ० १२३ इत्यादि।

प्रतिध्वनि"[1] मानी है, जिससे पता लगता है कि यहाँ अध्यात्म रामायण नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण ही तुलसीदास का आधार रही होगी। अन्य काण्डों में बात इसके विरुद्ध है क्योंकि इनमें वाल्मीकि के प्रत्यक्ष परिग्रहण कम ही दिखाई देते हैं।

मानस के अयोध्या काण्ड में कथा की गतिकी दृष्टि से अध्यात्म रामायण के परिग्रहण अन्ततोगत्वा कम ही रह जाते हैं। इस बात का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं कि तुलसी ने अध्यात्म रामायण की रूपरेखात्मक कथा का सबोध अनुकरण किया और वाल्मीकि से परिग्रिहीत विशेषताओं से उस कथा को आभूषित करदिया। यदि मानस के अयोध्याकाण्ड में अध्यात्म रामायण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तो वह केवल उपदेशात्मक भाग में ही, और इस काण्ड में ऐसे अंशों का बहुत ही सामान्य स्थान है। यह निश्चित है कि अयोध्याकाण्ड के सम्पूर्ण विवरण में अध्यात्म रामायण से बहुत ही कम परिग्रहण हुआ है। इसके अतिरिक्त, मानस के अन्य काण्डों की अपेक्षा अयोध्याकाण्ड ही सबसे अधिक सजीव, विविध और मानवता से परिपूर्ण है! अन्यत्र कहीं भी तुलसीदास अध्यात्म रामायण की शास्त्रीयता से इतने अप्रभावित नहीं रहे।

अभिव्यक्त धार्मिक मान्यताओं की दृष्टि से अयोध्याकाण्ड, बालकाण्ड के आमुख के प्रथम भाग के अधिक समीप और अन्य काण्डों के प्रतिकूल है। क्योंकि अयोध्याकाण्ड में, परब्रह्म-स्वरूप राम, विष्णु से सर्वथा भिन्न है और विधि (ब्रह्मा) हरि (विष्णु) तथा हर (शिव) की दिव्यत्रयी से ऊंचे माने गये हैं। 'हरि' और 'हर' प्रायः पूजा के पात्र के रूप में उपस्थित हुये हैं। एक स्थल पर (२, १७३, २) भरत उन सब को सोचने योग्य बताते हैं जो हरि के भक्त ('हरिजन') नहीं और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ 'हरिजन' से तात्पर्य राम के भक्तों से ही है, और यहाँ पर हरि परमात्मा का ही अर्थात् राम का ही नाम है और इसका विष्णु देव से सम्बन्ध अनिवार्य नहीं। (आमुख के प्रथम भाग के समान), मानस के इस भाग की एक विलक्षणता यही है कि यहाँ 'हरि' शब्द द्वयर्थक है: कभी तो उसका अभिप्राय विष्णु से और कभी, विष्णु से बनी दिव्यत्रयी से भी ऊपर, परब्रह्म-स्वरूप राम से होता है।

विष्णु के अन्य अवतार, "कृष्ण-वासुदेव" के भक्त, अपने देवता को 'भगवान' कहते हैं और स्वयं 'भागवत' कहलाते हैं। रामचरितमानस में, आमुख के प्रथम भाग और अयोध्याकाण्ड को छोड़कर, अन्यत्र राम को प्रायः 'भगवान' कहागया है। अयोध्याकाण्ड में, 'भगवान' शब्द का प्रयोग केवल दो स्थानों पर हुआ है—

अ—७७ वें पद्य के दोहे में, अपराधी (दशरथ) के स्थान पर निरपराधी (राम) को मिलने वाले दण्ड को विधि का अन्याय बताते हुये दशरथ राम से कहते हैं—

अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु॥

यहाँ पर भगवान से अभिप्राय राम से नहीं है, पर विधि के निर्णायक देव ब्रह्मा-विधि से है।

---

[1] ई. ऐ., ४२ (१९१३) पृ० १-७, संख्या १०, ३९।

आ—दूसरे स्थान पर, २५४ वें पद्य की पहली चौपाई में वशिष्ठ भरत से कहते हैं कि राम भगवान हैं (भगवान्), पर उस ही पद्य में वशिष्ठ घोषणा करते हैं कि विधि, हरि (विष्णु) और 'हर', राम के विनम्र सेवक हैं। अत: तुलसी के अनुसार भगवान का अर्थ भक्तों के इष्टदेव 'परमप्रभु' से है और यहाँ पर विष्णु से उनका सम्बन्ध बहुत ही थोड़ा अनुभव होता है।

स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने भावों को सिद्धान्तबद्ध करने की चिन्ता नहीं की! राम परमेश्वर है और इसलिये अवसरानुसार उन्हे भागवतों द्वारा स्वीकृत, "हरि" व "भगवान" नामों से बुलाया जाता है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि तुलसीदास ने उन्हें सर्वदा विष्णु से अभिन्न माना हो, माना भी है तो कभी कभी या गौण रूप से। अयोध्याकाण्ड में केवल दो स्थानों पर ही वैष्णवों के प्रिय सिद्धान्त "अवतारवाद" का प्रसंग आया है। राम के गंगा पार करने के समय कहा गया है कि इन्हीं राम (वामन अवतार के समय विष्णु) ने जगत को तीन पग में नाप लिया था (२, १०१, २); थोड़ा आगे चलकर (२, १३९, ३) कवि ने चित्रकूट के सुख का वर्णन किया है, यहाँ राम ने सीर सागर (विष्णु के मर्यादित निवासस्थान) और अपने पार्थिव जन्म स्थान अयोध्या को त्याग कर निवास बनाया। परन्तु तुलसी इन अवतारों को अधिक महत्व देते प्रतीत नहीं होते और उनका वैष्णवधर्मावलम्बन ऊपरी ही है। अयोध्याकाण्ड में अभिव्यक्त उनका धर्म, विष्णु-हरि-स्वरूप परब्रह्म के अवतार, कृष्णा-वासुदेव के उपासक, भागवतों और स्वयं तुलसी के पूर्ववर्ती, रामानन्दी कबीर, के मतों का कुछ अस्थिर समन्वय है—कबीर ने ब्रह्म को 'राम' या 'हरि' तो कहा है पर अवतारवाद को स्वीकार नहीं किया और वे राम का सम्बन्ध विष्णु से भी नहीं जोड़ते।

वैष्णव धर्म की सामान्य मान्यताओं से तुलसी की स्वतंत्रता, मानस के अयोध्याकाण्ड में इस बात से भी व्यक्त होती है कि उन्होंने सीता का सम्बन्ध विष्णु की सहचारिणी, 'श्री' या 'लक्ष्मी' से नहीं जोड़ना चाहा। इस दूसरे काण्ड में 'श्री' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में और वह भी राम के लिए हुआ है, और उससे तात्पर्य लक्ष्मी से कभी भी नहीं हैं। यहाँ पर सीता एक नारी हैं, देवी नहीं, यद्यपि एक स्थल पर (१४०, दोहा) उन्हे 'जगकज्जननी' कहा गया है और यह विशेषण शिव की पत्नी देवीपार्वती के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु राम की भक्ति का अंश सीता को भी प्राप्य है, सारे भक्त केवल राम की नहीं, सीता-राम युगल की उपासना करते हैं। परन्तु सीता का कोई निजी स्वतंत्र धार्मिक पद हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। परन्तु एक स्थल (१२६ छन्द) पर सीता को सार्वभौम माया से अभिन्न, संसार का सृजन, पालन तथा संहार करने वाली; और लक्ष्मण को विश्व को सम्भालने वाले दिव्य नाग, शेष से अभिन्न कहा गया है। अध्यात्म रामायण में निरन्तर इस अभिन्नता का उल्लेख है, पर मानस में यह अपवाद के रूप में ही है। जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं यह स्थल सम्भवत: अयोध्या काण्ड की रचना के बाद का है।[1]

सम्पूर्ण मानस और विशेषकर बालकाण्ड में, राम के महाभक्त और राम-भक्ति के प्रचारक के रूप में, शिव का स्थान पृथक् ही है। उनको रामकथा का प्रणेता और प्रधान प्रस्तुतकर्ता माना गया है। यहाँ शिव की उपासना का उपदेश किया गया है, इस के द्वारा ही राम और सीता

---

[1] दे० पृ० १४५-१४६।

की भक्ति सिद्ध होती है। पर अयोध्याकाण्ड में शिव प्रस्तुत कर्ता के रूप में उपस्थित नहीं होते और अन्य काण्डों की तुलना में यहाँ उनके रामभक्त होने का चित्रण भी अस्पष्ट है। इसके विरुद्ध, सभी पात्रों के हृदय में उनके प्रति विशेष आदर है, वही "महादेव" है; इनकी ही विनती, दशरथ तथा उनका सम्पूर्ण परिवार करता है। गंगा पार करने से पहले (१०३, १) राम भी शिव की पूजा करते हैं यद्यपि वे उनके प्रति किसी विशेष स्नेह का प्रदर्शन नहीं करते। वस्तुत: शिव का जो महत्व और गौरव संस्कृतरामायण में था लगभग वही अयोध्याकाण्ड में भी सुरक्षित है। यही बात विधि-ब्रह्मा के विषय में कही जा सकती है, यद्यपि मानस में उनके दो रूप हैं, लौकिक व अलौकिक; इस अन्तिम रूप में वे देव ही माने गये हैं; लौकिक रूप में वे 'ईश्वर' या 'ईश', जीवों के प्रभु हैं। यह उपाधि बहुत ही कम बार शिव को भी दी गई है। अयोध्याकाण्ड में "ईश" व "ईश्वर" राम के लिए प्रयुक्त नहीं हुये।

सार यह है कि मानस के अयोध्याकाण्ड का देवताविचार वाल्मीकि रामायण से ही मिलता गुलता है। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में राम एक मानव नायक हैं, विष्णु के अवतार नहीं। मानस के अयोध्याकाण्ड में, राम देवता भी हैं और मानव नायक भी, यद्यपि विष्णु से उनका संबन्ध अत्यधिक अस्पष्ट है। यथार्थतया दिव्यता अर्थात् ब्रह्मत्व, उनकी मानवता पर प्रत्यक्षरूपेण परिवेष्ठित है।

इस प्रकार के धार्मिक समन्वय से भ्रम होना भी आवश्यक है अयोध्याकाण्ड में अभिव्यक्त दार्शनिक भाव तो और भी अधिक भ्रामक हैं। राम, उपनिषदों के ब्रह्म-आत्मा हैं और इसीलिए सत्-चित्-आनन्द भी हैं। वस्तुत: यहाँ इस पद का रूढ़िप्रयोग है व तुलसीदास की दृष्टि में, यह पद वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म का पर्याय है। गंगा के जल को 'सच्चिदानन्दमय' अर्थात् ब्रह्ममय कहागया है (२, ८७, दोहा)। लौकिक 'सगुण' राम व 'निर्गुण' तथा अलौकिक ब्रह्म में भ्रम नहीं होता, क्योंकि भगवान दोने के कारण, राम ब्रह्म ही हैं। केवल देव होने से, राम निर्गुण हैं पर अवतार के रूप में, देव होने के कारण, वे सगुण हैं। अत एव आमुख के प्रथम भाग के समान 'सगुण' शब्द अयोध्या काण्ड में 'अवतरित' का पर्याय है। २१९ वें पद्य की तीसरी चौपाई से यह स्पष्ट हो जाता है—

अगुन अलेप अमान एक रस। रामु सगुन भए भगत पेमबस॥

(बृहस्पति इन्द्र से कहते हैं—) "गुण रहित, निर्लेप, मान रहित और सदा एक रस भगवान राम भक्त के प्रेम वस ही सगुण (अर्थात् अवतरित) हुये हैं।"

वेदान्त के अनुसार परब्रह्म के सगुण व निगुण, लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों के सिद्धान्त से या तो अयोध्याकाण्ड के प्रणेता सुपरिचित नहीं हैं या उन्होंने अपनी इच्छानुसार उसका अर्थ लगाया है। ऐसा लगता है कि तुलसी, निर्गुण ब्रह्म के अवतार, केवल लौकिक, सगुण, देव, राम को ही जानते हैं; और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में "ईश्वर" कहे जाने वाले, परब्रह्म के साकार पक्ष से या तो वे अनभिज्ञ थे या अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार "ईश्वर" को "अन्तर्यामी" कहा गया है। जैसा हम कह आये हैं, मानस के अयोध्याकाण्ड में 'ईश्वर' शब्द को राम के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया, पर इसके विपरीत उन्हें यहाँ प्राय: 'अन्तर्यामी' के स्थान पर

भाषा में "अन्तरजामी" शब्द से संबोधित किया गया है। पर कवि ने इस शब्द को व्युत्पत्त्यर्थ में प्रयुक्त नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इसको 'अन्तर्ज्ञानी' का पर्याय समझा है।[1]

यदि राम वस्तुत: निर्गुण ब्रह्म हैं तो उनको संवेदनातीत और अकर्मण्य होना चाहिए। सिद्धान्तत: मानस के अयोध्याकाण्ड में राम को संवेदनातीत माना गया है, काण्ड की प्रारम्भिक संस्कृत वन्दना में कहा गया है कि उन्हें राज्याभिषेक से न तो प्रसन्नता हुई और न वनवास के दु:ख से दु:ख ही हुआ।[2] जब कि तीनों प्रवासी श्रमापहारिणी गंगा में स्नान कर रहे थे तो कवि ने स्पष्ट करके कहा है कि राम के लिए यह थकान केवल "लौकिक व्यवहारू"[3] था, क्योकि राम के दिव्य स्वभाव और थकान में परस्पर विरोध हैं। पर इस स्थल में, 'लौकिक व्यवहार' की अवास्तविकता को कम और उसके भवसागर से पार करने की क्षमता को अधिक सबल प्रगट किया गया है: अनुकम्पा के कारण राम ऐसे चरित्र भी करते हैं जिनसे मर्त्यों को मोक्ष प्राप्त हो सके चाहे वे उनकी दिव्यता के प्रतिकूल ही क्यों न हों।

कम से कम व्यावहारिक दृष्टि से अयोध्याकाण्ड में तुलसीदास ने राम के इस सैद्धान्तिक संवेदनातीतत्व को अत्यधिक महत्व नहीं दिया। सरस्वती से देवताओं की प्रार्थना इस कथन की पोषक है। राम के राज्यत्याग और वन प्रस्थान के लिये देवता तो सरस्वती से यही कहते हैं कि वे "विसाद व हर्ष से रहित हैं" और आपको जरा भी दोष नहीं लगेगा (१२, २) पर सरस्वती इससे प्रभावित नहीं हुई, क्योंकि तुलसी ने इन ईर्ष्यालु गीदड़ों के मुख से ऐसा वचन कहलवाया कि वह सरस्वती को सन्देहास्पद तर्क प्रतीत हुआ। अयोध्याकाण्ड में कवि ने न तो अध्यात्म रामायण में स्वीकृत अद्वैत दृष्टिकोण को और न उस रामायण के सिद्धान्तपक्ष से सम्बन्धित विचारों को अपनाया है। यह भावना ही होगा कि सारे विवरण में तुलसी ने कोई भी ऐसा अवसर नहीं छोड़ा जब कि राम के दिव्य स्वभाव तथा लौकिक व्यवहार का अन्तर स्पष्ट न हुआ हो: वन में राम तपस्वियों की बातें सावधान हो कर सुनते हैं "यद्यपि उन्हें वह सब कुछ पहले से ज्ञात था"; वे भरद्वाज मुनि से मार्ग पूछते हैं पर उत्तर मिलता है: "आपको तो सारे मार्ग विदित हैं"; राम गंगा पार करने के लिए एक केवट की नाव लेते हैं; यद्यपि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं। इन सब संदर्भों की सूक्ष्म विवेचना करने से ज्ञात होता है कि इन विचारों का ध्येय किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं है; सामन्यतया कवि को राम की मानवीय दुर्बलताओं के विशदीकरण की चिन्ता नहीं, बल्कि उनका रहस्य बताने में आनन्द आता है: यह रहस्य प्रभु राम की कृपा से है, क्योंकि राम अपने मानवीय चरित्र के द्वारा ही भक्तों की रक्षा करते हैं।

अयोध्याकाण्ड में राम के व्यवहार की वास्तविकता में सन्देह नहीं, सब कुछ राम के ही कार्य हैं, उनकी माया के नहीं। अवशिष्ट कविता में, राम के कार्यों को प्राय: "लीला" अर्थात् 'मायावी क्रीड़ा' कहा गया है, पर अयोध्याकाण्ड में और आमुख के प्रथम भाग में इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। यहाँ राम के कार्यों को केवल "चरित" कहा गया है। साथ ही, अयोध्याकाण्ड में "माया" शब्द का दार्शनिक

---

[1] सूर्यकान्त (इनडैक्स वैरबोरम टु तुलसीदास'ज़ रामायण, औक्सफोर्ड, १९३७, पृ० ३०) ने अन्तरजामी का अर्थ "मन पहचाननेवाला" दिया है।

[2] रा. च. मा. २, संस्कृत श्लोक संख्या २।

[3] वही २, ८७, ४।

नहीं परन्तु प्राय: प्राचीन अर्थ ही सुरक्षित है; अत एव या तो किसी 'छल, कपट' के अर्थ में या विशेष कर, देवताओं की 'अद्भुत शक्ति' के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणत: कैकेयी "सुरमाया" के वश में थी (१६, दोहा) और मन्थरा ने "तियामाया" का प्रभाव फैलाया (२१-१)। 'सार्वभौम माया'—जिसको अविद्या या प्रकृति या परब्रह्म की शक्ति, के तुल्य माना जाता है—के अर्थ में "माया" शब्द का प्रयोग भले ही कविता के अन्य भागों में हुआ है पर अयोध्याकाण्ड में बहुत ही कम। राम व लक्ष्मण के बीच चलते हुए सीता की तुलना 'ब्रह्म' तथा 'जीव' के बीच 'माया' से की है (२, १२३, १)। परन्तु यह तुलना, जो अरण्यकाण्ड (७, १-२) में भी है, अध्यात्म रामायण से लीगई है। राम को दिए वशिष्ठ के व्याख्यान में (२, २५४), 'माया' की गणना 'जीव' और 'कर्म' के साथ हुई है—ये सब राम के अधीन हैं। देवगुरु बृहस्पति इन्द्र से कहते हैं—"माया के स्वामी (राम) के सेवक के साथ कोई माया (जादू) करता है तो वह उलटकर अपने ही ऊपर आती है" (२, २१८, १), और अन्यत्र (२, २५२, २) कहा गया है कि "सब मायाएँ सीता की माया (सियामाया) में ही हैं।" पर इसप्रकार के पदवैचित्र्य का अधिक महत्व नहीं।

'अद्वैत' तथा 'शाक्त' सिद्धान्तों की गम्भीरता से इस प्रकार की अस्पृश्यता के और भी अधिक उल्लेखनीय होने का कारण यह है कि अयोध्याकाण्ड में तीन लम्बे लम्बे ऐसे प्रसंग अध्यात्म रामायण से प्रत्यक्ष लिए गये हैं जिन सब में यह सिद्धान्त भरे पड़े हैं। इन तीनों "गीताओं" में वेदान्तीय शब्दावली तथा सूत्र स्वतंत्रता से प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु तुलसीदास ने उन सब के उपदेशों को अपने ज्ञानानुसार भक्ति की दिशा में लगाया है, संसार से मुक्ति नहीं, अपितु राम की भक्ति ही परम लक्ष्य और सर्वोच्च वैदग्ध्य है। अयोध्याकाण्ड में, शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के प्रति तुलसीदास का आदरभाव कुछ संकोचपूर्ण है; सिद्धान्तत: वे उसे मर्यादा के अंश के रूप में स्वीकार करते हैं पर वे न तो उसमें तल्लीन हैं और न उस सिद्धान्त का उपदेश करने की चिन्ता करते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि अयोध्याकाण्ड में, देवस्वरूप राम का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध विष्णु से नहीं, पर निर्गुण ब्रह्म से है। ब्रह्म के लौकिक स्वरूप "ईश्वर" का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है।

यहाँ अयोध्याकाण्ड की शब्दावली की विशेषताओं की ओर भी संकेत करना उचित होगा। आमुख के प्रथमभाग के समान यहाँ भी (और केवल इन्हीं दो स्थलों में) धार्मिक तत्वों की अभिव्यक्ति करने के लिए कवि ने फ़ारसी व अरबी शब्दों का प्रयोग किया है। आमुख में तुलसीदास, और अयोध्या काण्ड में भरत, राम को 'नाथ' की अपेक्षा 'साहिब' कहते हैं। इसीप्रकार फ़ारसी शब्द 'नवाज़' 'नेवाजु' या 'नेवाजी' होकर आमुख के प्रथम भाग में या अयोध्या काण्ड में प्रयुक्त हुआ है। आमुख में दो स्थानों पर राम को "गरीब नेवाजू"[1] कहा है, अयोध्याकाण्ड में उन्हें "निषाद नेवाजा"[2] और "सेवकहि नेवाजी"[3] बताया है।

---

[1] दे० अध्याय १ पृ० ११।

[2] रा. च, मा. २, २५०, ४।

[3] वही २, २९९, ३।

४—अयोध्याकाण्ड की पूर्ववर्तिता

अयोध्यकाण्ड (और केवल इसी काण्ड) के आकार की विशेषताओं ने रामचरितमानस के आधुनिक समालोचकों के ध्यान को आकृष्ट किया है। पंडित ए. न. त्रिपाठी ने अपने "तुलसीदास और उनकी कविता" नामक महत्वपूर्ण अध्ययन में मानस के अन्य ६ काण्डों की अपेक्षा अयोध्या काण्ड को पूर्ववर्ती माना है।[1] उनके अनुसार, तुलसीदास ने जब उपलब्ध रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड कहलानेवाले भाग की रचना की, तो उस समय रामचरितमानस शीर्षक से एक महान् ग्रन्थ लिखने का और उसको 'धर्मग्रन्थ' का आकार देने का उनका विचार नहीं था; आमुख के उपर्युक्त अवतरण "अवधपुरी यह चरित प्रकासा" (१, ३४, ३) का सम्बन्ध इस सर्व प्रथम रचित भाग से है; "रामचरित" नामक यह पुस्तक अयोध्या में संवत् १६३१ (१५७४ ई०) से पहले रची गई होगी, यही संवत् रामचरितमानस के प्रारम्भ की तिथि है। पंडित रा. न. त्रिपाठी इस प्रथम ग्रन्थ का रचना काल संवत् १६२५ से १६२८ मानते हैं; इस प्रकार इस रामचरित तथा रामचरितमानस के प्रारम्भ के बीच लगभग दस वर्ष का अन्तर होगा।

अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए इन समालोचक ने निम्न लिखित मुख्य तर्क दिये हैं—

१—अयोध्याकाण्ड की भूमिका, बालकाण्ड की भूमिका की पुनरावृत्ति है।

२—अयोध्याकाण्ड की पद्य व्यवस्था (पद्यों की नियमितता तथा हरिगीतिका छन्दों की रचना) विलक्षण है और अन्य काण्डों से भिन्न है।

३—अयोध्याकाण्ड में स्वयं तुलसी ही प्रस्तुत कर्ता हैं धार्मिक पात्रों के संवाद को बीच में नहीं दिया गया है, और न यहाँ पर "रामचरितमानस" का उल्लेख है।

परन्तु उपर्युक्त दूसरे और तीसरे तर्क, बालकाण्ड के अन्तिम भाग (२०६–३६१) के विषय में भी घटित होते हैं। कम से कम आकार की दृष्टि से, बालकाण्ड का यह भाग और अयोध्याकाण्ड दोनों मिलकर एक ईकाई बनाते हैं। अत एव यह मानता होगा कि बालकाण्ड का यह भाग अयोध्याकाण्ड के समय या उसके आधार पर रचा गया। मा. प्र. गुप्त की परिकल्पना इस अन्तीय प्रस्ताव पर आश्रित है और इस परिकल्पना के अनुसार बालकाण्ड का अन्तिम भाग और सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड ही कविता की प्रथम पाण्डु लिपि (अथवा प्रथम रूप रेखा?) थी।[2]

अन्य काण्डों की अपेक्षा अयोध्याकाण्ड की पूर्ववर्तिता के विषय में ए. न. त्रिपाठी की परिकल्पना बहुत सन्तोष जनक नहीं है, क्योंकि यदि इस पुस्तक की रचना करते हुए तुलसीदास का विचार

---

[1] "तुलसीदास और उनकी कविता" भाग १ पृ० २२० इत्यादि।

[2] गोस्वामी तुलसीदास पृ० २६४ इत्यादि। माताप्रसाद गुप्त ने "पाण्डु लिपि" शब्द का प्रयोग किया है। टाइप किए उनके अंग्रेजी निबन्ध में, जिसका अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हुआ है, ड्राफ्‌ शब्द का प्रयोग हुआ है।

७ काण्डों में एक नई रामायण की रचना करना था तो उन्होंने दूसरे काण्ड से कार्य प्रारम्भ क्यों किया? इसके विपरीत, यदि उन्होंने इस पुस्तक को स्वतंत्र रूप से लिखा तो यह समझ में नहीं आता, कि उन्होंने वाल्मीकि रामायण के केवल एक ही काण्ड का अनुकरण क्यों किया? फिर रा. न. त्रिपाठि का विचार है कि इसका नाम 'रामचरित' है पर उपसंहार में इसको 'भरत-चरित' कहा गया है। निः-सन्देह बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड की भूमिका एक सी है, दोनों स्थानों पर कवि बताता है कि वह "राम जसु का" वर्णन करता है। परन्तु यदि यह माना जाय कि कविता का पहला नाम 'रामचरित' ही था, तो यह सम्भव नहीं कि इस 'रामचरित' में केवल अयोध्याकाण्ड ही रहा हो; फिर यह भी समझ में नहीं आता कि तुलसीदास 'रामचरित' का आरम्भ राज्याभिषेक से क्यों करते; यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि रचना के समय तुलसीदास अयोध्या में ही थे इसलिए उन्होंने राज्याभिषेक से 'रामचारित' का प्रारम्भ किया तो भी असम्भावना का परिहार नहीं होता।

कविता की प्रथम पाण्डु लिपि में बालकाण्ड के अन्तिम भाग को साम्मीलित करने की मा. प्र. गुप्त की परिकल्पना अधिक सम्भव है। फिर, अयोध्याकाण्ड व बालकाण्ड के अन्तिम भाग की रचना की समानता (प्रस्तुत कर्ता की एकता, तथा पद्य व्यवस्था) उसका आधार है। परन्तु प्रश्न यह हैं कि इस प्रथम पाण्डु लिपि का प्रारम्भ कहाँ से हुआ? बालकाण्ड का २०१ वाँ पद्य, जिसमें राम के शैशव की एक घटना का वर्णन है, प्रारम्भ नहीं हो सकता। मा. प्र. गुप्त के विचार में इसका प्रारम्भ १८४ वें पद्य से, राम के जन्म की कथा से, होगा। परन्तु १८४ वें और २०१ वें पद्य के बीच कुछ अनियमित से दो पद्य (१८७ वाँ और १९९ वाँ) हैं, और इससे भी बढ़कर तीन बार (१८५, २; १९६, २; और २००, १) शिव, कथा के प्रस्तुतकर्ता के रूप में, उपस्थित होते हैं। मा. प्र. गुप्त का विचार है कि कथा का यह भाग सम्पूर्ण कविता के अनुरूप बनाने के लिए पुनः लिपिबद्ध हुआ क्योंकि शिव ही उस अधिकोश के प्रस्तुत-कर्ता हैं।

यह अन्तिम व्याख्या पर्याप्त नहीं। किसी अन्यभाग की अपेक्षा इस भाग को ही तुलसी पुनः लिपिबद्ध क्यों करते? दूसरी ओर, १८४ वें पद्य को मानस की प्रथम पाण्डु लिपि का प्रारम्भिक स्थान मानना अवैध है। यह विचार कविता के इस भाग के मूलाधार, अध्यात्मरामायण की तुलना पर आश्रित है। वस्तुतः अध्यात्मरामायण में राम कथा का प्रारम्भ "गाय का रूपधारण कर" पृथवी के देवताओं के पास जाने से होता है (अ. रा. १, २)। मा. प्र. गुप्त ने अनुमान लगाया कि तुलसीदास ने भी राम कथा उसी प्रसंग से आरम्भ की होगी और यह प्रसंग मानस के १८४ वें पद्य में आता है।

यदि बालकाण्ड के अन्तिम भाग और सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड से बनी इस "प्रथम पाण्डु लिपि" पर विचार किया जाया तो यह मानना होगा कि अध्यात्म रामायण नहीं, अपितु वाल्मीकि रामायण ही इसका मूल आधार है।[1] यह सच है कि राम के जन्म तथा शैशव के विवरण में (१, १८४-२०५) तुलसीदास प्रधानतया अध्यात्म रामायण के और कदाचित् अधिक ही भागवतपुराण के ऋणी हैं; इसके अतिरिक्त वाल्मीकि की छाया भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं कि राम

---

[1] दे० पृ० १६५।

कथा को बताते समय तुलसी ने उसी दृष्टिकोण को अपनाया हो, जो अध्यात्मरामायण में प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी रामायण की प्रथम पाण्डु लिपि के प्रारम्भ स्थान का पहले से ही निश्चय करना व्यर्थ है। अच्छा यह हो कि हम मूल को देखें और उसके संकेतों को समझे—

१—बालकाण्ड का २०६ वाँ पद्य ही मानस का ऐसा स्थल नहीं जहाँ तुलसीदास प्रस्तुतकर्ता के रूप में पहले पहल उपस्थित हुए हों। इस रूप में तुलसीदास ८ पद्य पहले ही 'बाल-चरित' के प्रारम्भ में (१, १८८, ३) उपस्थित होचुके हैं।

२—बालकाण्ड के २०६ वें पद्यमें कवि ने कहा है कि वे राम के बालचरित का वर्णन कर चुके हैं। अत एव इसमें सन्देह नहीं कि राम जन्म तथा राम के शैशव का विवरण देने वाले (१८८-२०६) पद्य भी मानस की प्रथम पाण्डु लिपि में संमिलित थे।

३—१०८ वें और २०६ वें पद्य के बीच, शिव प्रस्तुतकर्ता के रूप में दो बार उपस्थित होते हैं (१९६, २; १००, १) परन्तु इन दोनों स्थलों पर न वाल्मीकि का और न अध्यात्मरामायण का ही कोई प्रभाव है और विषय की दृष्टि से ये स्थल उत्तरकाण्ड के अधिक समीप हैं। जब कभी प्रस्तुत कर्ता बदलता है तो आधार विशेष के परिवर्तन के कारण।

४—बालकाण्ड के १८८ वें पद्य की तीसरी चौपाई में कोई प्रारम्भिक अवस्था नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध किसी ऐसे 'कथानक' अथवा 'चरित', से है जिसका वर्णन कवि कर चुका है। आपाततः यह 'चरित', विष्णु के रामावतार और देवताओं के वानरों के अवतार का है। परन्तु वस्तुतः अवतार की यह कथा शिव कहते हैं। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रथम पाण्डु लिपि में विष्णु अवतार थी कथा भी संमिलित थी परन्तु अन्य संकेतों के अभाव में इससे ऊपर नहीं जाया जा सकता।

इन संकेतों के और उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर, हम यह मान सकते हैं कि बालकाण्ड का अन्तिम भाग तथा अयोध्याकाण्ड, राम कथा की प्रथम पाण्डु लिपि के अंश हैं। वे रामचरित मानस की रचना के पूर्ववर्ती हैं और इस ग्रन्थ में बाद में संमिलित हुए। निश्चयपूर्वक यह कहना असम्भव है कि इस पाण्डुलिपि का प्रारम्भ स्थान कहाँ था; इतना तो पर्याप्त मात्रा में सम्भव है कि यह पाण्डु लिपि विष्णु के रामावतार की कथा से प्रारम्भ हुई थी।

इसके अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड और आमुख के प्रथम भाग (१, २-२९) में विचारों तथा शब्दावली की समानताएँ भी सांयोगिक नहीं, संभवतः आमुख का प्रथम भाग 'रामचरितमानस' की नहीं, अपितु 'रामचरित' (१, २, १) नामक प्रारम्भिक कविता की प्रस्तावना थी। और आमुख (१, ३४, ३) के अनुसार यह 'चरित' अयोध्या में लिखा गया। यह उस अनुश्रुति के अनुकूल भी है जिसके अनुसार कविता अयोध्या में आरम्भ हुई और वाराणसी में संपन्न हुई। परन्तु वाराणसी में समाप्त 'रामचरितमानस', अयोध्या में आरब्ध 'रामचरित' से, बहुत भिन्न था। अब प्रश्न है कि इस

पाण्डु लिपि का अन्त किस स्थान पर हुआ? इच्छा तो यह मानने की होती है कि अयोध्याकाण्ड ही उसका समाप्तिस्थान है, क्योंकि अरण्य काण्ड में पद्य व्यवस्था भी परिवर्तित है और तुलसी नहीं अपितु शिव कथा के प्रस्तुतकर्ता हैं। पर अरण्यकाण्ड को भी अयोध्या में ही लिखा माना जाता है। वस्तुत: जैसा हम अगले अध्याय में दिखाने का प्रयास करेंगे, अरण्यकाण्ड के प्रारम्भिक पद्य अयोध्या काण्ड का विस्तारमात्र ही हैं और वे भी उस प्रथम 'राम चरित' के अंश रहे होंगे जो बाद में रामचरित मानस के रूप में विस्तृत हुआ।[१]

---

[१] इस प्रथम पाण्डुलिपि का प्रश्न अध्याय १४ के रामचरितमानस की रचना नामक दूसरे भाग में फिर उठाया गया है।

PUBLICATIONS DE L'INSTITUT FRANÇAIS D'INDOLOGIE

Nos.

1. Kārāvēlane. *Kāreikkālammeiyār.* Œuvres éditées et traduites. Introduction par Jean Filliozat. 1956.
2. Jean Filliozat. *Les Relations Extérieures de L'Inde* (*I*).
   a. Les Échanges de L'Inde et de L'empire Romain aux premiers Siècles de L'Ère Chrétienne.
   b. La Doctrine Brahmanique à Rome au IIIème Siècle. 1956.
3. M. Biardeau. *Le Tattvabindu*, édition critique, traduction et commentaire. 1956.
4. *Entretiens* 1955, par J. Monchanin, J. Filliozat, A. Bareau. 1956.
5. L. Renou. *Études sur le vocabulaire du Ṛgveda.* 1958.
6. Suzanne Siauve. *La voie vers la connaissance de Dieu—(Brahma-Jijñāsā)—selon l' Anuvyākhyāna de Madhva.* 1957.
7. Dev Raj. *L'esclavage dans L'Inde Ancienne, d'après les textes Palis et Sanskrits.* 1957.
8. Alain Daniélou. *Tableau comparatif des intervalles musicaux.* 1958.
9. Alain Daniélou. *La musique du Cambodge et du Laos.* 1957.
10. André Bareau. *La vie et L'organisation des communautés bouddhiques modernes de Ceylan.* 1957.
11. Alain Daniélou et N. R. Bhatt. *Textes des Purāṇa sur la théorie musicale.* 1959.
12. Ch. Vaudeville. *Kabīr Granthāvalī* (*doha*), texte et traduction. 1957.
13. M. Biardeau. *Sphoṭa Siddhi*, édition critique, traduction et commentaire. 1958.
14. Suzanne Siauve. *Les Noms Védiques de Viṣṇu dans l'Anuvyākhyāna de Madhva.* 1959.
15. Ch. Vaudeville. *Étude sur les Sources et la Composition du Rāmāyaṇa de Tulsī-Dās.* Traduction en hindi par J. K. Balbir. 1959.
16. A. Daniélou et N. R. Bhatt. *La Gītālaṃkāra.* 1959.
17. R. V. Joshi. *Le Rituel de la Dévotion Kṛṣṇaïte.* 1959.